महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

मध्यकालीन हिन्दी काव्य

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
द्वितीय सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 07

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

मध्यकालीन हिन्दी काव्य

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारीएवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूरशिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभागएवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक एवं मुद्रक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : सितंबर 2017

पाठ-रचना

डॉ॰ गीता सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग, राजकुमार केवलरामानी कन्या महाविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2, 3, 4 एवं 5

डॉ॰ सुषमा सोलंकी
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 2 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ कृष्ण कुमार उपाध्याय
प्राध्यापक
हिन्दी विभाग, शासकीय विदर्भ ज्ञान-विज्ञान संस्था, अमरावती, महाराष्ट्र

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2, 3, 4 एवं 5

श्री स्कन्द स्वामी नारायण सिंह
सहायक प्राध्यापक
किसान राष्ट्रीय इंटर कॉलेज चिरौडी, गाज़ियाबाद, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 4 : इकाई – 4 एवं 5

पुरन्दरदास

खण्ड – 2 : इकाई – 3, 4 एवं 5
खण्ड – 4 : इकाई – 1, 2 एवं 3

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

श्री महेन्द्र प्रसाद
सम्पादकीय सहायक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र डॉ॰ सुरजीत कुमार सिंह सहायक प्रोफेसर एवं प्रभारी निदेशक, डॉ॰ भदन्त आनन्द कौसल्यायन बौद्ध अध्ययन केन्द्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमतिनहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिएपाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

द्वितीय सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 07
पाठ्यचर्या का शीर्षक : मध्यकालीन हिन्दी काव्य

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 1 : निर्गुण सन्त-काव्य में निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप, सद्गुरु का महत्त्व और माया सम्बन्धी विचार
इकाई – 2 : निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना और उसकी प्रासंगिकता
इकाई – 3 : कबीर की रहस्यवादी चेतना का स्वरूप
इकाई – 4 : जायसी के काव्य में रहस्यवाद, विरह-वर्णन, प्रेम-व्यंजना, सौन्दर्य-दृष्टि
इकाई – 5 : 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व एवं लोकतत्त्व का निर्वहन

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 1 : भ्रमरगीत परम्परा में सूर की मौलिक उद्भावना
इकाई – 2 : भ्रमरगीत का काव्य-सौष्ठव, भाव-सौन्दर्य, वाग्वैभव तथा विरह-वर्णन
इकाई – 3 : तुलसी के राम का स्वरूप, कबीर के राम और तुलसी के राम में साम्य-वैषम्य
इकाई – 4 : 'मानस' का महाकाव्यत्व, 'मानस' में सौन्दर्यतत्त्व, 'मानस' का वैशिष्ट्य
इकाई – 5 : 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप, 'चित्रकूट सभा' का वैशिष्ट्य

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 1 : केशव का आचार्यत्व, केशव का संवाद-सौष्ठव, केशव की हृदयहीनता
इकाई – 2 : 'रामचन्द्रिका' का महाकाव्यत्व
इकाई – 3 : बिहारी : मुक्तक कवि की दृष्टि से
इकाई – 4 : बिहारी की बहुज्ञता : लोक सम्बन्धी एवं विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान
इकाई – 5 : बिहारी सतसई में शृंगार-निरूपण, नख-शिख वर्णन

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 1 : सन्तकवि सुन्दरदास की भक्ति-भावना, सुन्दरदास और लोकधर्म
इकाई – 2 : सुन्दरदास की बहुज्ञता, सुन्दरदास का काव्यकलागत वैशिष्ट्य
इकाई – 3 : भूषण के काव्य में युगबोध; भूषण की राष्ट्रीय भावना; भूषण : एक जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि
इकाई – 4 : घनानन्द की प्रेमानुभूति, विरहानुभूति, भगवद्भक्ति
इकाई – 5 : घनानन्द का भाषा-सौष्ठव

निर्धारित पाठ्यकृतियाँ :

1. कबीर, चयनित साखी तथा पद, कबीर काव्यामृत, सम्पादक : डॉ॰ मक्खनलाल पाराशर, साहित्य प्रकाशन, आगरा
2. मलिक मुहम्मद जायसी-कृत पद्मावत (नागमती वियोग खण्ड), व्याख्याकार : वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, तलैया, झाँसी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. भ्रमरगीत (चयनित पद), भ्रमरगीत सार, सम्पादक : रामचन्द्र शुक्ल, उपसम्पादक : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
4. रामचरितमानस : अयोध्याकाण्ड (चयनित अंश), रामचरितमानस – तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर
5. रामचन्द्रिका : सोलहवाँ प्रकाश – रावण-अंगद-संवाद, रामचन्द्रिका – केशवदास, केशव-कौमुदी, प्रथम भाग, टीकाकार : लाला भगवानदीन, प्रकाशक : रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद
6. बिहारी – चयनित दोहा एवं सोरठा, बिहारी-रत्नाकर, टीकाकार एवं सम्पादक : जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली
7. सुन्दर-विलास, उपदेश चितावनी कौ अंग, सुन्दर-विलास, सम्पादक : किशोरीलाल गुप्त, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी
8. भूषण ग्रन्थावली, चयनित छन्द, भूषण ग्रन्थावली, सम्पादक : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
9. घनानन्द कवित्त, चयनित छन्द, घनानन्द कवित्त, सम्पादक : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी

सहायक पुस्तकें :

01. अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन
02. आनन्दघन, रामदेव शुक्ल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
03. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
04. कविवर बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
05. कबीर, सम्पादक : वासुदेवसिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
06. कबीर, सम्पादक : विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली
07. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली
08. कबीर : एक नई दृष्टि, रघुवंश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
09. कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद
10. कबीर ग्रन्थावली, पारसनाथ तिवारी
11. कबीर ग्रन्थावली (सटीक), रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
12. कबीर मीमांसा, रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

13. कबीर : व्यक्तित्त्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, सरनामसिंह शर्मा, भारतीय शोध संस्थान, गुलाबपुरा
14. कबीर विचार और दर्शन, सम्पादक : एस. एस. गौतम, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली
15. केशवदास, जगदीश गुप्त, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
16. केशवदास, सम्पादक : विजयपाल सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
17. केशव की काव्यकला, कृष्णशंकर रसाल, विकास प्रकाशन, कानपुर
18. केशव की काव्य चेतना, विजयपाल सिंह
19. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल , वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
20. गोसांई तुलसीदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र
21. घनानन्द, लल्लन राय, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
22. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, मनोहरलाल गौड़, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
23. घनानन्द काव्य और आलोचना, किशोरीलाल, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद
24. घनानन्द : काव्य वैभव, मनोहरलाल गौड़
25. घनानन्द का शृंगार काव्य, रामदेव शुक्ल, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली
26. जायसी, पूजन तिवारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
27. जायसी, विजयदेवनारायण साही, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
28. जायसी का मूल्यांकन, रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : कृष्णबीर सिंह, साहित्यागार, जयपुर
29. जायसी साहित्य में अप्रस्तुत योजना, विद्याधर त्रिपाठी, लोकवाणी संस्थान, दिल्ली
30. तुलसी-काव्य-मीमांसा, उदयभानुसिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली
31. तुलसी की साहित्य साधना, लल्लन राय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
32. तुलसी के ग्यारह ग्रन्थ भाग-2, युगेश्वर, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
33. तुलसी ग्रन्थावली, भाग-1, नागरी प्रचारिणी सभा
34. तुलसी-ग्रन्थावली दूसरा खण्ड, रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा
35. तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, लोकभारती प्रकाशन
36. तुलसीदास, रामचन्द्र तिवारी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
37. तुलसीदास, रामजी तिवारी, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
38. तुलसीदास, सम्पादक : वासुदेव सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
39. तुलसीदास और उनका युग, राजपति दीक्षित, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस
40. तुलसीदास के साहित्य में लोक और शास्त्र, वन्दना शाही, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी
41. देव और बिहारी, कृष्ण बिहारी मिश्र
42. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
43. बिहारी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संजय बुक सेंटर, वाराणसी
44. बिहारी का नया मूल्यांकन, बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
45. बिहारी काव्य का अभिनव मूल्यांकन, किशोरीलाल, साहित्य भवन, इलाहाबाद

46. बिहारी की वाग्विभूति – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी
47. बिहारीबोधिनी, लाला भगवानदीन
48. बिहारी-सतसई, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
49. बिहारी सतसई (लालचन्द्रिका), सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
50. बिहारी-सतसई शृंगारेतर मूल्यांकन, देवेन्द्र, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
51. बिहारी सार्धशती, ओम्प्रकाश, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
52. बेहद्दी मैदान में कबीर, सम्पादक : मुहम्मद ज़की, शिल्पायन, दिल्ली
53. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
54. भक्ति-काव्यधारा, सम्पादन : हिन्दी विभाग, का.हि.वि., वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
55. भक्ति काव्य-यात्रा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
56. भारतीय साहित्य के निर्माता कबीर, प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
57. भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास, रामविलास शर्मा, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
58. भूषण, राजमल बोरा, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
59. भूषण : साहित्यिक एवं ऐतिहासिक अनुशीलन, भगवानदास तिवारी
60. मध्यकालीन काव्य चिन्तन, विनोद कुमार मिश्र, राकेश कुमार सिंह, युगांतर प्रकाशन, छपरा, बिहार
61. मध्यकालीन काव्यधाराएँ एवं प्रतिनिधि कवि, सत्यप्रकाश मिश्र, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़
62. मध्यकालीन धर्म-साधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
63. मध्यकालीन प्रेम साधना, परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
64. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
65. मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ, परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद
66. मध्यकालीन साहित्य विमर्श, सम्पादक : सुधासिंह, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता
67. मध्यकालीन हिन्दी काव्य-भाषा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
68. मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, वी. एन. फ़िलिप, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
69. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य : पाठ और अर्थोद्घाटन की समस्याएँ तथा समाधान, पन्नालाल, अनंग प्रकाशन, दिल्ली
70. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सम्पादक : विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, भूमिका प्रकाशन, नयी दिल्ली
71. मध्ययुगीन काव्य, सम्पादक : सत्यनारायण सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
72. मध्ययुगीन काव्य के आधार स्तम्भ, तेजपाल चौधरी, विकास प्रकाशन, कानपुर
73. मध्ययुगीन काव्य-साधना, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
74. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, श्याम मनोहर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
75. महाकवि सूरदास, नन्ददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
76. रामचन्द्रिका में सांस्कृतिक चेतना, प्रेमप्रकाश शर्मा, व्रजेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली

77. रामचरितमानस, टीकाकार : हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रकाशक : गीताप्रेस गोरखपुर
78. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
79. रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्य में रीतितत्त्व, नीलम सक्सैना, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
80. रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन, रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद
81. रीतिकालीन हिन्दी वीर काव्य, भगवानदास तिवारी
82. रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि, सुधीन्द्र कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
83. रीतिकाव्य की भूमिका, नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली
84. रीतिकाव्य के विविध आयाम, सुधीन्द्र कुमार, ईशा ज्ञानदीप, दिल्ली
85. रीति काव्यधारा, सम्पादक : रामचन्द्र तिवारी, रामफेर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
86. रीतिकाव्य : प्रकृति एवं स्वरूप, सत्यप्रकाश मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
87. रीतिकाव्य -संग्रह, सम्पादक : जगदीश गुप्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद
88. रीतिकाव्य संग्रह और काव्यांग-परिचय, सम्पादन : हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
89. रीतिमुक्त कवि घनानन्द (व्यक्तित्व एवं कृतित्व), शशि सहगल, अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली
90. रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा, मनोहरलाल गौड़
91. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
92. शिवराज-भूषण, टीकाकार : राजनारायण शर्मा, हिन्दी-भवन, इलाहाबाद
93. शिवा बावनी, टीकाकार : राजनारायण शर्मा, हिन्दी-भवन, जालन्धर
94. संक्षिप्त रामचन्द्रिका, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
95. संक्षिप्त रामचन्द्रिका (एक आलोचनात्मक परिचय), प्रभु नारायण नाट्याचार्य, रमेश बुक डिपो, जयपुर
96. सामन्ती परिवेश का यथार्थ और बिहारी का काव्य, रामदेव शुक्ल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
97. सुन्दर ग्रन्थावली, सम्पादक : पुरोहित हरिनारायण शर्मा
98. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग - 1 एवं 2, रमेशचन्द्र मिश्र, किताबघर, नयी दिल्ली
99. सुन्दरदास, रमेशचन्द्र मिश्र, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
100. सुन्दरदास, त्रिलोकीनारायण दीक्षित
101. सूफ़ी कवि जायसी का प्रेम निरूपण, निज़ामुद्दीन अंसारी, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी
102. सूफ़ीमत और हिन्दी सूफ़ी-काव्य, नरेश, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
103. सूरदास, नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
104. सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
105. सूरदास, सम्पादक : हरवंशलाल शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
106. सूरदास और भ्रमरगीत सार, किशोरीलाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
107. सूरदास, जीवन और काव्य का अध्ययन, ब्रजेश्वर वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
108. सूर साहित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

109. स्वच्छन्दतावाद और घनानन्द का काव्य, मनोहरलाल
110. सनेह को मारग, इमरै बंघा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
111. हमारे सन्त – जायसी, दर्शन सेठी, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
112. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, सत्यदेव चौधरी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली
113. हिन्दी रीति साहित्य, भगीरथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
114. हिन्दी सन्तकाव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, वासुदेवसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
115. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	12 – 20
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	21 – 26
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	27 – 33
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	34 – 50
05.	खण्ड – 1	इकाई – 5	51 – 64
06.	खण्ड – 2	इकाई – 1	65 – 78
07.	खण्ड – 2	इकाई – 2	79 – 99
08.	खण्ड – 2	इकाई – 3	100 – 163
09.	खण्ड – 2	इकाई – 4	164 – 181
10.	खण्ड – 2	इकाई – 5	182 – 198
11.	खण्ड – 3	इकाई – 1	199 – 214
12.	खण्ड – 3	इकाई – 2	215 – 227
13.	खण्ड – 3	इकाई – 3	228 – 241
14.	खण्ड – 3	इकाई – 4	242 – 255
15.	खण्ड – 3	इकाई – 5	256 – 269
16.	खण्ड – 4	इकाई – 1	270 – 296
17.	खण्ड – 4	इकाई – 2	297 – 321
18.	खण्ड – 4	इकाई – 3	322 – 336
19.	खण्ड – 4	इकाई – 4	337 – 349
20.	खण्ड – 4	इकाई – 5	350 – 361

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 1 : निर्गुण सन्त-काव्य में निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप, सद्गुरु का महत्त्व और माया सम्बन्धी विचार

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य कथन
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप
1.1.3. ब्रह्म एवं जीव का सम्बन्ध
1.1.4. सद्गुरु का महत्त्व
1.1.5. माया सम्बन्धी विचार
1.1.6. बोध प्रश्न
1.1.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. निर्गुण सन्तकाव्य में निरूपित ब्रह्म के स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. सन्तकाव्य में सद्गुरु की महत्ता को जान सकेंगे।
iii. सन्तों के माया सम्बन्धी विचार से परिचित हो सकेंगे।
iv. निर्गुण सन्तकाव्य के विविध पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिकों, विचारकों और साहित्यकारों ने अपने-अपने अनुभव और विचारधारा के अनुसार ब्रह्म विषयक विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं और इसे भिन्न-भिन्न ढंग से विभिन्न रूपों में वर्णित किया है। यथा – 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' अर्थात् जीव या आत्मा उस परम सत्ता ईश्वर का अंश है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् वह निर्गुण-निराकार परब्रह्म स्वयं मुझ में विद्यमान है। 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' अर्थात् सर्वत्र उसी एक ही ब्रह्म की व्याप्ति है। उससे पृथक् कोई अन्य स्थिति है ही नहीं। मत वैभिन्न्य होने पर भी सभी दर्शन, वाद, सिद्धान्त और विचार परब्रह्म के अस्तित्व को एक मत से स्वीकार करते हैं। उसी एक ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् चलायमान है। वह परब्रह्म ही सृष्टि का नियामक, संचालक और व्यवस्थापक है। वही एकमात्र सत्य है। दृश्यमान जगत् मिथ्या होते हुए भी माया के कारण सत्य भासित हो रहा है।

1.1.2. निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप

निर्गुण ब्रह्म का आकार-प्रकार नहीं है परन्तु उसकी व्याप्ति जड़-चेतन सर्वत्र है। वह अलख निरंजन है। कबीर उस सत्ता की सरल व्याख्या करते हैं –

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी॥

वह ब्रह्म पुष्प की सुगन्ध से भी झीना है। वह अजन्मा है और निर्विकार है। यह सम्पूर्ण संसार और समस्त प्राणी उस अक्षय पुरुषरूपी वृक्ष के पत्ते हैं। वह निराकार ब्रह्म घट-घट में विराजमान है। कबीर का कहना है जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है फिर भी वह वन-वन उसे खोजता फिरता है, उसी प्रकार वह परब्रह्म राम प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं। उन्हें तीर्थ-स्थलों, मन्दिर-मस्जिद में खोजने की आवश्यकता नहीं है।

निर्गुण सन्तों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद का निर्भीकतापूर्वक खण्डन किया। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की स्थापनार्थ उन्होंने एकेश्वरवाद का सन्देश प्रचारित किया और बहुदेव का घोर विरोध किया।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश का कर्त्ता भी निराकार परब्रह्म ही है –

अक्षर पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
त्रिदेवा साखा भए पात भया संसार॥

वह निराकार और निर्विकार ब्रह्म वर्णनातीत, अगम्य एवं अकल्पनीय है। वह अनिर्वचनीय ब्रह्म गूँगे के गुड़ सदृश है। जिस तरह कोई मूक प्राणी गुड़ का स्वाद तो ले सकता है किन्तु उसकी मिठास को अभिव्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार उस ब्रह्म को वही जान सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो। वह ब्रह्म अभिव्यक्ति में नहीं आता। वह एक ब्रह्म ही हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, मनुष्य-पशु, जड़-चेतन सबमें एक समान रम रहा है। उसकी प्राप्ति प्रेमानुभूति तथा सहज-समाधि से ही सम्भव है। सद्गुरु निर्देशित मार्ग को अपनाकर ही उस ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

सन्तों के ब्रह्म का कोई रूप या आकार नहीं है। वह रूपातीत, गुणातीत है। वह न सगुण है न निर्गुण और न दोनों से भिन्न ही है। वह इस जगत् के कण-कण में व्याप्त है। पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड तक उसकी व्याप्ति है। उसकी प्राप्ति के लिए किसी बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं है। उसे मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ, काबा, काशी में ढूँढना व्यर्थ है क्योंकि वह घट ही में स्थित होकर श्वास-श्वास में संचारित हो रहा है। वह ब्रह्म कभी अवतार ग्रहण नहीं करता। कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसमें विद्यमान हैं। सन्तों ने उसे राम, गोविन्द, हरि, केशव, करीम, रहीम, खुदा, निरंजन आदि कई नामों से पुकारा है। किन्तु भिन्न-भिन्न नाम होते हुए भी उनमें निहित परम तत्त्व एक ही है। वह किसी एक धर्म, जाति या वर्ग में बँटा हुआ नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए कोई विशेष

शारीरिक पहचान चिह्न बनाने की आवश्यकता नहीं है। योगादि के कठिन उपक्रम द्वारा नहीं प्रत्युत सहज समाधि द्वारा गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रेमपरक भक्ति द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर के ब्रह्म जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों से भिन्न सत्ता हैं। ब्रह्म ही जगत् में एकमात्र सत्ता है। वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म से ही सब उत्पन्न हुए हैं और उसी में सब लीन हो जाएँगे –

पाणी ही ते हिम भय हिम ह्वै गया बिलाइ।

* * *

खालिक खलक खलक में खालिक जब जग रह्यो समाई।

आदि, मध्य और अन्त से विलग वह शाश्वत ब्रह्म भूत, भविष्य, वर्तमान से परे होते हुए भी तीनों कालों में व्याप्त है। वह न ह्रस्व है न दीर्घ। वह समस्त द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त, समस्त उपाधियों से वर्जित, सब कारणों का कारण रूप है। वह निर्गुण होकर भी सगुण है। निर्गुण होने से वह प्राकृत तीनों गुणों से रहित परन्तु गुणों से सम्पन्न होने के कारण सगुण है। वह समग्र विरोधों का चरम अवसान है। वह परमात्मा अनादि, अनन्त और सनातन होने से प्रत्येक जीव का सहयोगी और समानधर्मा है। वह ब्रह्म अखण्ड, अद्वितीय और अनिर्द्वन्द्व होने से निर्विकारी और शान्त है। वह अव्यक्त, अरूप, निर्गुण होकर भी अनेकानेक रूप के साथ सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में व्यक्त हो रहा है। निर्गुणोपासक सन्तों ने नाम-स्मरण के माध्यम से उस परब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश किया है।

1.1.3. ब्रह्म एवं जीव का सम्बन्ध

ब्रह्म और जीव जल और लहर के समान कहने को तो अलग-अलग हैं किन्तु मूलतः एक ही हैं। ब्रह्म और जीव दोनों में कोई भेद नहीं है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। माया के द्वारा दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। माया के आवरण के हट जाने पर जीव और ब्रह्म पुनः एक हो जाते हैं। जीव मायाग्रस्त होकर अविद्या-अज्ञान के वशीभूत रहता है। उसके लिए आत्मबोध कठिन होता है। अज्ञान का निवारण सद्गुरु-कृपा से ही सम्भव है। जीव ब्रह्म के साथ माता-पिता, स्वामी, मित्र, पति आदि बहुविध सम्बन्धों की कल्पना करता है। सन्तों ने ब्रह्म के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध स्वीकार किया है। दाम्पत्य भाव में प्रेम की पूर्णता है और यहीं से विशुद्ध रहस्यवाद की सृष्टि होती है। ब्रह्म-प्राप्ति के लिए अहम् का विसर्जन आवश्यक है। ब्रह्म को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय निष्काम प्रेम है। कबीर के प्रेम का स्वरूप है –

काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये, प्रेम जहाँ होय तहाँ काम नहीं।

भ्रम का ताला जो अपने भीतर है उसमें प्रेम की कुंजी लगाकर कपटरूपी किवाड़ को खोलकर अपने अन्तर में बसे पिया को जगा लें। यही एक साधन है उस ब्रह्म को पाने का। सच्चा योग गृहस्थ आश्रम में ही समाया है। सहज भाव से रहते हुए और प्रपंचों से उदासीन रहकर अपने भीतर के परम सुख में मन लगाना सहज

समाधि अवस्था है। गृहस्थी-सेवा ही उस ईश की सेवा है। मलिन वचन को त्यागकर "उठत-बैठत कबहुँ न बिसरे-ऐसी तारी लागी।" वाली स्थिति तक पहुँचना परम गन्तव्य का लक्ष्य स्थल है। जब स्वामी और सेवक एकाकार हो जाते हैं तब तदाकार की स्थिति हो जाती है –

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

1.1.4. सद्गुरु का महत्त्व

सन्त-साधना में गुरु को मार्गदर्शक के रूप में महत्त्व दिया गया है। साधक को परमात्मा से मिलाने की क्षमता के कारण ही गुरु का स्थान परमात्मा से भी ऊँचा है। कबीर के अनुसार सच्चा ज्ञान वही है जिसके माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति हो सके। यह ज्ञान केवल गुरुकृपा से सम्भव है। गुरु-अनुग्रह के बिना साधक को लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती। सहज समाधि की स्थिति गुरु-सामीप्य और गुरु-प्रताप से ही सम्भव है –

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तै उपजी दिन दिन अधिक चली॥

स्वामी रामानन्द के अनुग्रह से कबीर को परम तत्त्व का भान हुआ। जिस प्रकार भ्रमर निरन्तर ध्यान-अभ्यास करवाकर किसी भी कीट को अपने जैसे रूप-आकार में परिणत कर देता है उसी प्रकार सद्गुरु साधक को स्वयं सदृश प्रभुप्रेमी बना देते हैं। गुरु रामानन्द ने कबीर को तद्रूप बना दिया। गुरु ने तत्त्व में तत्त्वातीत, बन्धन में निर्बन्ध, अगम्य में गति का संचार कर दिया। भक्ति और प्रेम के जल में भिगोकर उन्हें भी राममय बना दिया। प्रेमजल में भीगे कबीर की रसासिक्त आत्मा में भक्ति का अंकुर लहलहा उठा –

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आइ।
अन्तरि भीगीं आत्मा हरी भई बनराई॥

गुरु के प्रति कृतज्ञ कबीर गा उठते हैं –

परमातम गुरु निकट विराजै जाग जाय मन मेरो।
साधो, सो सद्गुरु मोहे भावै
सन्त प्रेम का भर भर प्याला आप पीवे मोहिं प्यावै।
परदा दूर करै आँखिन का ब्रह्म दरस दिखलावै।
साद गुरु सोई दया करि दीन्हा तातें अनचिन्हा मैं चीन्हा।

वह ब्रह्म जिससे जीव अब तक अज्ञानी रहा, सद्गुरु की कृपा से आज भली प्रकार उसका भान हुआ। सद्गुरु ने प्रेम का प्याला हाथों में दिया, और उसे पीना सिखाया। दयालु सद्गुरु ने आँखों पर पड़े असत तम को दूर किया। अपने गुरु का परिचय देते हुए कबीर गाते हैं –

कासी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चैताये।
प्यास अहद की साथ हम लाए मिलन कारण को आये।
सहजै सहजै मेला होइगा जागी भक्ति उतंगा॥

जीव का स्वभाव है जगत् में आकर माया के प्रभावस्वरूप अपने मूल स्वभाव को भूलकर सांसारिकता में भटक जाना और ब्रह्म को भूल जाना। ऐसे में गुरु ही उस परमतत्त्व का पुनर्स्मरण कराते हैं –

जब मैं भूला रे भाई, मेरे सद्गुरु जुगत लगाई।
दया राखि धरम को पालै जग सो रहे उदासी।
अपना सा जीव सबकौ जानै ताहिं मिले अविनासी॥

प्राक्तन संस्कारों के फलस्वरूप ही जीवन में सद्गुरु का आगमन होता है। वे प्रभु-प्राप्ति का मार्ग सुझाते हैं। उस ईश्वर को स्मरण करने का ढंग बताते हैं। निरन्तर सुमिरण से उस पार का सबकुछ दिखाई देने लगता है –

सद्गुरु दरस होय जब भाई, वह दे तुमको प्रेम चिताई।
सुरत निरत के भेद बताई। तब देखे अंड के पारा है॥

सद्गुरु का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि साधक के जीवन में उनका आगमन होते ही साधक की समस्त सांसारिक विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और तब शिष्य वहाँ पहुँच जाता है जहाँ काल की भी पहुँच नहीं है –

सेवक को सद्गुरु मिले कछु रही न तबाही।
कह कबीर निज चलो जहं काल न जाई॥

जब तक सद्गुरु से भेंट न हो जाय तब तक मनुष्य भटकता रहता है, सांसारिक सम्बन्धों और भौतिक पदार्थों में सुख ढूँढता रहता है जबकि वहाँ सुख है ही नहीं फलतः नाना भाँति की आधिव्याधि से पीड़ित रहता है। जीवन के कष्टों के कारण उसे कहीं चैन नहीं मिलता।

नाभि कँवल बिच है कस्तूरी जैसे मिरग फिरे बन का रे।
बिन सद्गुरु इतना दुख पाया बैद मिला नहिं इस तन का रे॥

गुरु की कृपा से ही शिष्य को रामनाम-मन्त्र प्राप्त होता है। यह शब्द ब्रह्म जीव को कोटि-कोटि जन्मों के कर्म-बन्धन से मुक्त कर देता है।

रामानन्द रमै एक ब्रह्म गुरु के एक सबद काटै कोटि क्रम।
सद्गुरु मैं बलिहारी तोर सकल विकल भ्रम जारै मोर॥

कबीर ने रामानन्द से रामनाम-मन्त्र ग्रहण किया। नीर-क्षीर विवेकी कबीर ने राम के निर्गुण स्वरूप को ग्रहण किया। रामनाम का निरन्तर अभ्यास करते रहने से साधक की स्मृति अथवा आदिम आध्यात्मिक पिपासा

परमात्मा से तादात्म्य के लिए तीव्रतम अभिलाषा में परिणत हो जाती है। तब यह करणीय-अकरणीय का भीतरी युद्ध आसानी से जीत लिया जाता है। उस समय सारी चेतना शक्ति प्रेमपात्र की ओर ही केन्द्रित हो जाती है और इन्द्रियाँ यन्त्रवत आज्ञानुवर्तिनी सदृश व्यवहार करने लगती हैं। उस राम के बिना "राम वियोगी विकल तन" इस वियोग में कोई और औषधि काम नहीं आती। आत्मा-परमात्मा के मध्य की दीवार इस देह को त्यागने की इच्छा बलवती होती जाती है।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहिं आहिं।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या सीस नवाँवों काहिं॥

आत्म-विसर्जन के पश्चात् सबकुछ राममय हो जाता है। तब व्यक्ति सांसारिक उपादानों से विमुख होकर निर्भय हो जाता है।

कबीर तू काहे डरै सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहिं डोलिए कूकर भूखै जु लाख॥

1.1.5. माया सम्बन्धी विचार

जन्म ग्रहण करने के साथ ही जीव पर माया का आवरण छा जाता है। मनुष्य योनि का एकमात्र लक्ष्य परमात्म-प्राप्ति है किन्तु मायाग्रस्त मनुष्य परमात्मा को भूल जागतिक वस्तुओं को ही सत्य और नित्य मानने लगता है। देखते ही देखते जीवन व्यर्थ के उपक्रमों में ही व्यतीत हो जाता है। आत्मा का मनुष्य देह प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य परमात्म-प्राप्ति पूर्ण नहीं हो पाता। परमात्मा को पाने के लिए माया से सावधान होना आवश्यक है। इसके लिए सबसे पहले अपने अहंकार का त्याग अनिवार्य है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।

परमात्मा को पाने के लिए 'मैं'पन को नष्ट करना पड़ता है। 'मैं' से ही मेरा-तेरा, अपना-पराया, अच्छा-बुरा, मित्र-शत्रु आदि दायरों की शुरुआत होती है और इस प्रकार परोक्षतः माया अपने फंदे का विस्तार करती रहती है। ज्यों-ज्यों यह दायरा बढ़ता है माया का उलझाव भी बढ़ता जाता है। इस द्वन्द्व में उलझना जितना आसान है इससे मुक्त होना अथवा इसे सुलझाना उतना ही विकट है। इसीलिए ज्ञानीजन माया से सचेत रहने का उपदेश करते हैं। माया सारे प्रपंचों की जननी है।

मीठी मीठी माया तजि न जाई।
इक डाइन मेरे मन बसै नित उठि मेरे मन को डसै।
पंच चोर गढ़ मंझा गढ़ लूटै दिवस अरु संझा॥

माया के पाँच पुत्र हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। ये पाँच विकार ही मनुष्य के अधोपतन के मूल कारण हैं। मुक्तिकामी मनुष्य को इनसे हमेशा सावधान रहना चाहिए। माया महाठगिनी है। यह ऋषि, मुनि,

तपस्वी, योगी और वेदपाठी को भी पछाड़ देती है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या माया स्वच्छन्द और स्वतन्त्र है ? क्या उस पर किसी का अंकुश अथवा नियन्त्रण नहीं ? सन्तजन बताते हैं कि सज्जनों को बार-बार भ्रमित करने वाली और मूढ़जनों को हमेशा अन्धकार में धकेले रखने वाली यही माया 'हरि भगतन की चेरी है।' यानी हरि-भजन करने वालों, नाम-स्मरण करने वालों और प्रभु-भक्ति में मन रमाने वालों को यह कभी नहीं सताती। माया का दूसरा नाम अज्ञान है। जिस प्रकार धूल की परत चढ़े हुए दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार माया के भ्रम से मनुष्य को हृदयस्थ परमात्मा अनुभव नहीं होते। निरन्तर हरि-भजन, नाम-स्मरण और प्रभु-भक्ति से साधक का हृदय निर्मल हो जाता है और घट ही व्याप्त परमात्मा भासित होने लगते हैं।

हरि हिरदै एक ग्यान उपाया। ताथै छूट गई सब माया।

माया कभी न पूर्ण होने वाली तृष्णा है। यह आशा का रूप धरकर आती है फिर धीरे-धीरे तृष्णा का विकराल रूप धारण कर लेती है। माया ही मनुष्य में कनक-कामिनी के भोग की बलवती इच्छा जाग्रत करती है। मन में राम-मिलन की उत्कण्ठा की बजाय भोग-पिपासा का बने होना माया के प्रभावस्वरूप ही है। जग-माया से मुक्ति न कर्मकाण्ड से सम्भव है न ज्ञान-ध्यान से। इससे मुक्ति का एक ही उपाय है – 'राम-चरण में परम प्रीति अर्थात् रामभक्ति'। कबीर कहते हैं माया ने इस संसार में फंदा डाल रखा है। सारा संसार इस मोहपाश में फँसकर ईश्वर को भूल गया है।

कबीर माया पापिनी लालै लाया लोग।

जहाँ आसक्ति है वहीं दुःख है। जहाँ माया का त्याग है वहीं सुख और शान्ति है।

कबीर माया मोहिनी मोहै जाण सुजाण।
भाग्या ही छूटै नहीं भरि भरि मारै बाण॥

मनुष्य को अपने वशीभूत करने के लिए मोहिनी माया अपनी पूरी शक्ति से (तृष्णा-काम) के बाण चलाती है। संसार छोड़कर भागने से भी माया नहीं छूटती। माया के भिन्न-भिन्न रूप हैं। निज कुल, वंश, जाति, धर्म पर अभिमान भी माया ही है।

कबीर माया तजी तौ का भया मान तजी नहिं जाइ।

इस माया ने ऋषि-मुनियों और राजाओं को भी नहीं बख़्शा। मायाग्रस्त व्यक्ति के लिए ईश्वर का महत्त्व नष्ट हो जाता है और लौकिक सम्बन्ध तथा भौतिक सुख-सुविधाएँ ही प्रधान लक्ष्य हो जाते हैं –

कबीर रामहिं थोड़ा जानि करी दुनिया आगे दीन।
जीवों कूँ राजा कहैं माया के आधीन॥

यह माया त्रिगुणात्मक है। सत्व-रज-तम गुणमयी यह माया सबको सुलाकर रखती है और सोते-सोते सब कुछ लुट जाता है। भगवान् की शरण होने से ही मनुष्य प्रबल माया फंदे से मुक्त हो सकता है।

जो बाँधे वही छोरे देखी भगति जो छोरइ ताही।

माया के सभी उपादान प्रारम्भ में मीठी खांड जैसे मधुर प्रतीत होते हैं किन्तु परिणाम में घातक सिद्ध होते है। सभी सन्तों ने इस महाठगिनी माया के छल-छद्मों से सावधान रहने का उपदेश किया है।

तब सहज ही प्रश्न उठता है कि माया का निर्माता कौन है ? यदि जगत् के समान ही यह भी ईश्वर की ही कृति है तो आखिर इस भ्रमकारिणी और सज्जनों के लिए दुःखदायिनी माया की रचना करने की ईश्वर को क्या ज़रूरत आन पड़ी ? सन्तजन इसका बड़ा सीधा सा जवाब देते हैं, वह यह कि माया का अवलम्ब लेकर ही इस जगत् और जागतिक प्राणियों का लीला-विस्तार सम्भव है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का मूल कारण माया ही है। बिना अज्ञान के सृष्टि का विकास नहीं हो सकता। कबीर भी स्वीकार करते हैं कि यह माया रघुनाथ जी की ही बनायी हुई है। किन्तु साथ ही वे स्पष्ट कर देते हैं कि यह माया सन्तजन पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। कबीर कहते हैं यह माया तभी वश में आती है जब साधक ईश्वर के सत्य भाव को और संसार के क्षणभंगुर भाव को जानने-समझने लगता है।

1.1.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सन्तमतानुसार ब्रह्म का स्वरूप कैसा है?

(क) ब्रह्मा-विष्णु-महेश का समन्वित रूप
(ख) दाशरथि राम
(ग) वासुदेव कृष्णचन्द्र
(घ) निर्गुण-निराकार

2. सन्तमतानुसार सद्गुरु वह है जो –

(क) जो सांसारिक सुख प्राप्त करने का तरीका बताता है।
(ख) जो कर्मकाण्ड और बाह्याचारों की विधि सिखाता है।
(ग) जो ज्ञानरूपी दीपक हाथ में पकड़ा देता है।
(घ) जो वेदपाठ और मन्त्रोच्चार करना सिखाता है।

3. सन्तमत में माया के सम्बन्ध में क्या उपदेश किया गया है ?

(क) साधक को माया से सदैव सचेत रहना चाहिए।

(ख) माया को सहज स्वभाव से ग्रहण करना चाहिए।

(ग) माया को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानकर उसका सम्मान करना चाहिए।

(घ) उपर्युक्त सभी।

4. निर्गुण सन्त का लक्षण है –

(क) वह वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास करता है

(ख) वह आठों याम की पद्धति के अनुसार पूजा-अर्चना करता है।

(ग) वह ईश्वर को प्राणिमात्र के हृदय में अवस्थित समझता है।

(घ) वह स्नान-ध्यान करके और ठाकुर जी को भोग लगाकर ही अन्न-जल ग्रहण करता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रह्म और ब्रह्मा में क्या भेद है ?
2. सद्गुरु की पहचान कैसे की जाए ?
3. माया से क्या आशय है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. निर्गुण सन्तों द्वारा निरूपित ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा कीजिए।
2. निर्गुण काव्य में सद्गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी बढ़कर क्यों माना गया है ? सोदाहरण समझाइए।
3. निर्गुण सन्तों के माया सम्बन्धी विचार लिखिए।

1.1.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
2. कबीर ग्रन्थावली, डॉ॰ हरिहर प्रसाद गुप्त, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. कबीर ग्रन्थावली, डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
5. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 2 : निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना और उसकी प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना
1.2.3. निर्गुण सन्तकवियों की प्रासंगिकता
1.2.4. बोध प्रश्न

1.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना से परिचित हो सकेंगे।
ii. सन्त साहित्य की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

निर्गुण सन्तकवियों ने अपने युग में व्याप्त अन्धकार को दूर करने का प्रयास किया। परम्परागत रूढ़ियों और मान्यताओं में उलझा तत्कालीन समाज मुख्य लक्ष्य से भटक गया था। राजा अहंकारी और भोग-विलास में रत थे। उन्हें प्रजा के सुख-दु:ख से कोई सरोकार न था। प्रजा भ्रम-द्वन्द्व में जकड़ी हुई थी। संस्कृत ज्ञान उच्चता का मानक था। शास्त्र-ज्ञानियों को पण्डित समझा जाता था। जीवन की निर्मलता की उपेक्षा हो रही थी। धर्म संकीर्णताओं में जकड़ चुका था। उसमें जड़ता आ चुकी थी। निर्धन, दलित और अनपढ़ों के लिए भक्ति निषिद्ध थी। समाज वर्ण, जाति, सम्प्रदाय में विभक्त था। स्वार्थ और लोभ के कारण असत्य का राज्य था जबकि सत्य का लोप हो चुका था। जैन-बौद्ध अनुयायी अहिंसा का पालन करना छोड़ चुके थे। ऐसे विकट समय में निर्गुण सन्तकवियों ने समाज को अन्तर्दृष्टि प्रदान की। सामाजिक चेतना के माध्यम से उन्होंने धार्मिक पुनर्जागरण का प्रयास किया। एक नयी चेतना दृष्टि जाग्रत कर उन्होंने व्यक्ति-समाज-धर्म के विकास में महनीय योगदान किया। निर्गुण सन्तों ने तत्कालीन सामाजिक-आध्यात्मिक माँग की पूर्ति की। निर्गुण सन्तों ने जाति-भेद, वर्ण-भेद, रंग-भेद, जन्म-भेद आदि समस्याओं को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। सन्तों ने समाज में व्याप्त बाह्याडम्बर, अन्धविश्वास और कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। निर्गुण सन्तों ने तीर्थाटन और बाह्य विधि-विधानों में भ्रमित मनुष्य को हृदयस्थ परमात्मा के दर्शन करवाये।

1.2.2. निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना

निर्गुण सन्तों ने संसार में रहकर आत्मा के उद्धार का उपदेश किया है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म केवल प्रेम से ही प्राप्य है। निर्गुण सन्तों का ज्ञान पोथियों से चुराई हुई सामग्री नहीं थी और न ही सुनी-सुनाई बातों का संग्रह था। उन्होंने जो कुछ भी व्यक्त किया वह उनका अनुभूत सत्य है । लोक-कल्याण और आत्मोद्धार उनकी वाणी का लक्ष्य है । वे मानते हैं कि सबका पिता एक परमात्मा है अतः ऊँच-नीच की भावना अनुचित है । निर्गुण सन्तकवियों ने सगुण रूप का विरोध किया है। वे बहुदेववाद और अवतारवाद के विरोधी हैं।

यह सिर नवे न राम कूँ नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये यह तन जायो छूट॥

(चरनदास)

निर्गुण सन्तकवियों का विश्वास है कि भगवदनुग्रह भी तभी सम्भव है जब गुरु की कृपा होती है। यों तो सगुण भक्तकवियों ने भी गुरु की महत्ता स्वीकार की है परन्तु दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि सन्तकवि गुरु को परमेश्वर से भी बढ़कर मानते हैं जबकि सगुण भक्तकवियों के लिए गुरु मार्गदर्शक है। सन्तकवियों की विचारधारा और साधना-पद्धति पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव है । सभी निर्गुण सन्तकवियों ने रूढ़ियों, मिथ्याडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। सन्तकवियों ने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थाटन, हज, व्रत, रोज़ा, बाह्य विधि-विधानों, बाह्याडम्बरों, पाखण्डों, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, भेदभाव, छुआछूत आदि का डटकर विरोध किया। उदाहरण देखिए –

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जे जन बकरी खात है तिनको कौन हवाल॥

* * *

काँकर पाथर जोरि कै मसजिद लई चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥

* * *

पाथर पूजै हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार॥

निर्गुण सन्तकवियों ने परिस्थितियों के मद्देनज़र मानवधर्म की स्थापना का प्रयास किया । धर्म की सार्थकता तभी है जब वह जनजीवन की व्यावहारिकता में खरा उतर सके और अन्य धर्मों के समानान्तर व्यवहृत हो सके। धर्म का रूप सहज और स्वाभाविक होना चाहिए तथा अपनी विचारधारा में उसे सत्य से इतना प्रखर होना चाहिए कि विविध वर्ग और विचारधारा वाले व्यक्ति अधिकाधिक उससे जुड़ सकें।

वस्तुतः निर्गुण सन्तकवियों ने अपने समय में विद्यमान समस्त धर्म साधनाओं और निज अनुभव के योग से भक्ति का एक ऐसा मधुछत्ता तैयार किया है जिसका अमृत उत्तमोत्तम है। युगों से भारतीय जनमानस इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहा है। सन्तकवियों ने अपने ज्ञान से जनमानस की धर्मान्धता को नष्ट किया और प्रेम-भक्ति-ज्ञान का दृढ़ अवलम्ब दिया। इसका व्यापक प्रचार-प्रसार कबीर के माध्यम से हुआ।

सन्तकवियों के रहस्यवाद, उलटबांसियों और प्रतीकों पर सिद्ध-नाथों का प्रभाव है। सिद्धों और नाथों की परम्परा को सुसंस्कृत कर उन्होंने उसे अपने अनुभवजन्य प्रभावों से विकसित किया है। सूफ़ियों की प्रेमपीर एवं सौन्दर्य व्यंजना का प्रभाव भी सन्तकवियों पर देखा जा सकता है। सन्तकवियों ने ईश्वर को प्रमुखतया प्रिय (पति) रूप में अंगीकार किया तथापि कुछ सन्तों ने उसे माता-पिता, गुरु, स्वामी आदि रूपों में भी स्वीकार किया है। नारदीय भक्ति में भक्ति के दो भेद बताये गए हैं – (1) प्रेमरूपा और (2) गौणी। प्रेमरूपा भक्ति के दो उपभेद हैं – (i) कामरूपा और (ii) सम्बन्धरूपा। गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम कामरूपा भक्ति है जबकि दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदन आदि भावों को सम्बन्धरूपा भक्ति के अन्तर्गत माना गया है। कबीर के काव्य में सम्बन्ध रूपा भक्ति के बहुत से उदाहरण हैं –

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित कैंचे तित जाउं॥

(दास्य भाव)

* * *

दुलहनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रत करिहू, पंचतत्त बराती।
रांमदेव मोरैं पाँहुनैं आये, मैं जोवन मैं माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रांमदेव संगि भांवरी लैहूँ धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥

(कान्ता भाव)

निर्गुण सन्तकवियों के अनुसार वह ईश्वर निष्काम प्रेमभाव से ही प्राप्य है –

नैनन की करि कोठरी पुतरी पलँग बिछाय।
पलकन की चिक डारि के पिय को लिओ रिझाय॥

सन्तकवि जिस विचार चेतना से ओत-प्रोत थे उसमें एकेश्वरवाद, धार्मिक कर्मकाण्डों का विरोध, ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्था, समर्पण और आचरण की शुद्धता पर बल दिया गया है। निर्गुण सन्तों का भक्ति आन्दोलन

सांस्कृतिक क्षेत्र का राष्ट्रीय नवजागरण है। इसमें सामाजिक स्तर पर कुप्रथाओं, अन्धविश्वासों तथा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक यथार्थ से सीधी टकराहट है और व्याप्त असंगतियों के मध्य एक आदर्श स्थिति की अभिव्यंजना है। इनमें नस्लवाद न होकर मानवतावाद की अभिव्यक्ति है। समूचा समाज इस भक्ति आन्दोलन से प्रेरणा पाता है। अपने समाज का जनजागरण करना इन सन्तों का मुख्य उद्देश्य था। निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती है –

i. भक्ति में स्वानुभूति ही प्रमाण है।
ii. प्रभु को उत्कट प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है।
iii. ईश्वर सभी प्राणियों में विद्यमान है।
iv. रामनाम से आशय उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म से है।
v. साधना में सहज समाधि उत्कृष्ट है।
vi. जल में कमल की भाँति संसार में निर्लिप्त होकर रहना चाहिए।
vii. उस ईश्वर का चिन्तन अद्वैत भाव से करना चाहिए।
viii. गुरु का महत्त्व प्रभु से भी बढ़कर है।

1.2.3. निर्गुण सन्तकवियों की प्रासंगिकता

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में रचित निर्गुण सन्त साहित्य वर्तमान दौर में भी उतना ही प्रासंगिक है। वस्तुतः युग परिवर्तित होने पर भी अनेक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। कुछ मुद्दे समय के साथ नष्ट हो जाते हैं जबकि मुछ मसले पहले की अपेक्षा और भी अधिक विकृत स्थिति में पहुँच जाते हैं। निर्गुण सन्तकवियों द्वारा रचित साहित्य तर्कयुक्त साहित्य है। यह एक सजीव साहित्य है। आज भी अनेक विचारोत्तेजक वक्तव्यों में, वैचारिक उठा-पटक में सन्तकवियों के काव्य का सन्दर्भ ग्रहण किया जाता है। समकालीन दौर में भले ही सामाजिक कुरीतियों, पाखण्डों, विकृत रीति-रिवाजों, अन्धविश्वासों और व्यर्थ की परम्पराओं का प्रचलन समाप्त हो गया है तथापि धार्मिक उन्माद, पारस्परिक अविश्वास और घृणा-द्वैष की प्रवृत्ति बढ़ी है। ऐसे में सन्तसाहित्य आज भी उतना ही प्रासंगिक प्रतीत होता है। उर्दू के प्रसिद्ध शायर अली सरदार जाफरी ने अपनी पुस्तक 'कबीरवाणी' में कहा है – "दिखावटी धर्म से विद्रोह और वास्तविक धर्म के प्रचार का क्रान्तिकारी पहलू यह था कि, उसने मध्ययुग के मनुष्य को आत्मप्रतिष्ठा, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दिया और मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखाया। सन्तों और सूफ़ियों के पास उतनी ताकत तो थी नहीं कि वे उस अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ सकते जिनका केन्द्र शाही दरबार और अमीरों के महल थे इसलिए उन्होंने उनकी तरफ से बड़े तिरस्कार के साथ मुँह फेर लिया और संतोष और धीरज का उपदेश दिया। संतोष का अर्थ वैराग्य नहीं था बल्कि बादशाहों, दरबारियों और अमीरों से विमुख होकर व्यापार और शारीरिक श्रम से रोजी कमाना था जिसका आदर्श कबीर ने पेश किया था। उस युग में व्यापार को जनसेवा के मुकाबले में तुच्छ समझा जाता था। अतः व्यापार और शिल्प की आमदनी पर संतोष करना और ईश्वर का उपकार मानते हुए जीवन व्यतीत करना ही सबसे बड़ा संतोष

था। (कबीरवाणी, पृ. 34) तात्पर्य यह है कि आज आधुनिक समय में भी मध्ययुगीन निर्गुण सन्त कवियों का काव्य और उनकी जीवन-शैली उतनी ही पथ-प्रदर्शक है।

जातियों, धर्मों, वर्गों में विभाजित वर्तमान समाज की संकटग्रस्तता के समय सन्तकवियों का साहित्य अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाता है। कबीर की युगीन परिस्थितियाँ भी आज ही के सदृश थीं। देश में सर्वत्र अशान्ति का वातावरण व्याप्त था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "युग सन्धि के ऐसे ही चौराहे पर उत्पन्न हुए थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गए थे। वे भगवान् के नरसिंह अवतार की मानों प्रतिमूर्ति थे। ... कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए मार्गों में गुण-दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते हैं।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 77-78)

शास्त्रीय ज्ञान और पोथी ज्ञान को सन्तकवियों ने पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था क्योंकि वह मनुष्य-मनुष्य के बीच स्वाभाविक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध के मार्ग में रोड़ा बन गया था। मनुष्य की आत्मा की निर्मलता और मानवीय सद्भाव की सहजता को नये लोकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वे सतत संघर्षरत रहे। उनका काव्य जन सामान्य की साधारण भाषा में रचित है। सन्तकवियों ने अपने साहित्य के माध्यम से अहंकार-त्याग, सदाचार-पालन, मानवता, प्रेम, दया, अहिंसा, मैत्री, शुचिता और नैतिकता का उपदेश दिया। वर्तमान परिदृश्य में सन्त-साहित्य की प्रासंगिकता निर्विवाद है। वास्तव में इन सन्तकवियों द्वारा निर्देशित जीवन-मूल्यों और जीवन-पद्धति को अपनाकर ही समकालीन समस्याओं का समाधान सम्भव है।

1.2.4. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निर्गुण का अर्थ है –

(क) गुणरहित
(ख) गुणातीत
(ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. सन्त का अर्थ है –

(क) सज्जन व्यक्ति

(ख) भगवा वेशधारी
(ग) मन्दिर का पुजारी
(घ) पुरोहित

3. निर्गुण सन्तों के अनुसार परब्रह्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक है –
(क) नाम-स्मरण
(ख) प्राणिमात्र से प्रेम
(ग) मिलन की उत्कट आकांक्षा
(घ) उपर्युक्त सभी

4. निर्गुण सन्तों का काव्य है –
(क) भक्तिपरक
(ख) आत्मोद्धारक
(ग) लोककल्याणकारी
(घ) उपर्युक्त सभी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सन्त और भक्त में भेद स्पष्ट कीजिए।
2. प्रमुख निर्गुण सन्तों का परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. निर्गुण सन्तकवियों की विचार चेतना को स्पष्ट कीजिए।
2. निर्गुण काव्य की प्रासंगिकता प्रतिपादित कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 3 : कबीर की रहस्यवादी चेतना का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य कथन
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. कबीर की रहस्यवादी चेतना का स्वरूप
1.3.2.1. कबीर बाणी में भावनात्मक रहस्यवाद
1.3.2.2. कबीर बाणी में साधनात्मक रहस्यवाद
1.3.3. बोध प्रश्न

1.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रहस्यवाद की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
ii. रहस्यवाद की परम्परा से अवगत हो सकेंगे।
iii. कबीर की रहस्यवादी चेतना के स्वरूप को समझ सकेंगे।

1.3.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद सर्वप्रथम भक्तिकाल में दिखाई पड़ता है। निर्गुण सन्त काव्यधारा में कबीर के काव्य में और प्रेममार्गी सूफ़ी काव्यधारा में जायसी के काव्य में रहस्यवादी चेतना दिखाई देती है। रहस्यवाद एक भावनात्मक अभिव्यक्ति है। सन्त, भक्त अथवा कवि उस अलौकिक, परम, अव्यक्त सत्ता के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करता है और उस अलौकिक तत्त्व से तदाकार होना चाहता है। जब वह इस चरम आनन्द की अनुभूति करता है तो उसे बाह्य जगत् के समक्ष अभिव्यक्त करना चाहता है किन्तु लौकिक भाषा उस परम आनन्द को अभिव्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। ऐसे में उस पारलौकिक आनन्द को अभिव्यक्त करने के लिए वह प्रतीकों का सहारा लेता है। ये प्रतीक जन सामान्य के लिए रहस्य बन जाते हैं। उस ढके हुए रहस्य को अनावृत्त करना ही रहस्यवाद है। यानी प्रयुक्त प्रतीकों के कारण जो तत्त्व रहस्य बन गया है उस रहस्य को नष्ट करना। कबीर और जायसी दोनों परमतत्त्व से मिलन के आकांक्षी हैं। कबीर योग के माध्यम से तो जायसी प्रेम के माध्यम से उसमें लीन होना चाहते हैं। योगमार्गी होने के कारण कबीर का रहस्यवाद अन्तर्मुखी है जबकि प्रेममार्गी होने के कारण जायसी का रहस्यवाद बहिर्मुखी है। रहस्यवाद के अन्तर्गत प्रेम के चार स्तर हैं। पहला स्तर है – अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण। दूसरा स्तर है – उस अलौकिक सत्ता के प्रति दृढ़ अनुराग। तीसरा स्तर है – विरहानुभूति। और चौथा स्तर है – मिलन का मधुर आनन्द।

1.3.2. कबीर की रहस्यवादी चेतना का स्वरूप

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार साधना क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। रहस्यवाद ब्रह्म से आत्मा के तादात्म्य का प्रकाशन है। समीक्षकों द्वारा रहस्यवाद की दो कोटियाँ हैं। भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद। कबीर के रहस्यवाद में दोनों रूपों के दर्शन होते हैं।

1.3.2.1. कबीर बाणी में भावनात्मक रहस्यवाद

भावनात्मक रहस्यवाद की अवस्थाएँ इस प्रकार हैं –

(i) प्रथम अवस्था – इस अवस्था में साधक की आत्मा परमात्मा की दिव्यज्योति के दर्शन से आकर्षित एवं चकित हो जाती है। कबीर अपने प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य पर चकित और विमुग्ध हैं। प्रियतम का अलौकिक सौन्दर्य 'गूँगे के गुड़' के सदृश अनिर्वचनीय और अकथनीय है।

कहत कबीर पुकार के अद्‌भुत कही ताहि।

(ii) द्वितीय अवस्था – इस अवस्था में दिव्यस्वरूप परमात्मा के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न होता है। उसके प्रति एकनिष्ठता जाग्रत होती है। अहर्निश उसी का चिन्तन होता है।

(iii) तृतीय अवस्था – इस अवस्था में उस परम तत्त्व से मिलने की आतुरता जाग्रत होती है। इस अवस्था में मिलन, विरह, आशा-निराशा, अभिलाषा, वेदना की अत्यन्त सजीव तरल अभिव्यक्ति होती है। जब कबीर अपने प्रियतम से मिलन को आतुर होते हैं तो यह शीघ्र ही इस देह के विनष्ट होने की कामना करते हैं क्योंकि इस देह-परित्याग के पश्चात् ही तो उस अदेह से मिलन सम्भव है।

आँखड़िया झाईं पड़ी पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकास्पिुकारि॥

* * *

कैसो कहि-कहि कूकिये ना सोइयै असरार।
रात दिवस के कूकणै मत कबहूँ लगै पुकार॥

* * *

जौ रोऊँ तो बल घटै हँसौ तौ राम रिसाइ।
मनही मांहि बिसूरणा ज्यूँघुन काठहि खाइ॥

(iv) चतुर्थ अवस्था – यह अवस्था आत्मा और परमात्मा के ऐक्य भाव की है। साधक मिलन के मधुर आनन्द में सराबोर हो जाता है।

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

कबीर के काव्य में प्रेममूलक भावनाप्रधान रहस्यवाद का वर्णन अनुभूतिपरक है, उपदेशात्मक रूप में नहीं। बिना तीव्र भावना के उस परमतत्त्व की अनुभूति सम्भव नहीं है। तीव्र भावना प्रेम का उद्रेक करती है। यह अनुभूति ही जीव और ब्रह्म के मध्य अनन्य सम्बन्ध स्थापित करती है। दाम्पत्य प्रेम अनन्यता की चरम अवस्था है जिसमें भिन्नता नष्ट हो जाती है और एकात्मकता की स्थिति बन जाती है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रियतम और विरहिणी के आश्रय में होती है। कबीर की प्रिय-मिलन की आतुरता किसी भी सांसारिक प्रेम से अधिक तीव्र है। सांसारिक विरही का विरह इसी जीवन में प्रियतम से मिलन होते ही समाप्त हो जाता है जबकि कबीर की विरह-व्यथा जीवनपर्यन्त न समाप्त होने वाली है।

चकवी बिछुड़ी रैन की आइ मिलै परभाति।
जे जन बिछुरै राम सों ते दिन मिलै न राति॥

* * *

विरह कमंडल कर लिये बैरागी दोउ नैन।
माँगे दरस मधूकरी छकै रहै दिन रैन॥

* * *

वासरि सुख ना रैन सुख ना सुख सपने माँह।
कबीर बिछुड़ या रामसूँ ना सुख धूप ना छाँह॥

कबीर बाणी में गम्भीर रहस्यमय अनुभूतियों, विरह-व्याकुलता, आत्मसमर्पण की उत्कण्ठा, प्रेमपूर्ण भक्ति, आन्तरिक प्रेम की निष्ठा, परमात्मा-मिलन की उत्कट अभिलाषा और विरहिणी के विरह हृदय की नाना स्थितियों के बड़े ही भावपूर्ण और कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं जिनमें भावनात्मक रहस्यवाद का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त है। कबीर के प्रणयात्मक चित्रों में शृंगार का स्वरूप चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक उसमें एक अद्‌भुत रस विद्यमान है। वह अपने लौकिक रूप में घर-गृहस्थियों के लिए जितना आनन्दहदायक है उतना ही मुमुक्षुजनों के लिए आल्हादक है। कबीर का शृंगार उनके व्यक्तित्व, धर्म और दर्शन के समान कुछ विलक्षण और अनोखा है। एक ओर जहाँ वह अपने परिष्कृत रूप में लोक सीमाओं को छूता है तो दूसरी ओर ऊर्ध्व प्रचान की बलवती प्रेरणा देता है। कबीर और सूफ़ियों के रहस्यवाद में मौलिक अन्तर है। कबीर के रहस्यवाद में दाम्पत्यभाव की कल्पना का स्वरूप विशुद्ध भारतीय वेदान्त उपनिषद् आधारित है जबकि सूफ़ियों में यह कल्पना विदेशी पद्धति पर आधारित है। जहाँ तक प्रेम की मादकता का प्रश्न है यह दोनों में समान है।

1.3.2.2. कबीर बाणी में साधनात्मक रहस्यवाद

सन्त सम्प्रदाय का विकास योगियों के नाथ सम्प्रदाय से हुआ अतः कबीर पर योगियों के हठयोग का प्रभाव होना स्वाभाविक है। कबीर के साहित्य में इंगला (बायीं नाड़ी), पिंगला (दाहिनी नाड़ी), सुषुम्ना (दोनों के मध्य की नाड़ी), त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र, सूर्य और चन्द्र, अनहद ध्वनि आदि सभी हठयोग के पारिभाषिक शब्द हैं जिनसे आत्मा और परमात्मा के ऐक्य को घोषित किया गया है।

गगन गरजै अमी बादल गहिर गम्भीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी भीजै दास कबीर॥

कबीर की उलटबांसियों में भी रहस्य भावना प्रकट हुई है –

बरसै कम्बल भीजै पानी।

जीव के ईश्वर से मिलन के आनन्द को वही समझ सकता है जो उस अनुभूति से गुजरा हो। कबीर कहते हैं जो मिट्टी समान हैं वे तो उसकी कृपास्वरूपी रिमझिम बारिश में सजल हो जाते हैं लेकिन जो पत्थर सदृश हैं उनमें लेश मात्र नमी तक नहीं आती –

झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पाँहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पाँहण वोही तेह॥

* * *

अन्तरि कँवल प्रकासिया ब्रह्म बास तहाँ होई।
मन भँवरा तहाँ लुबधिया जाणैगा जन कोई॥

अपनी अनुभूति प्रकट करने के लिए कबीर ने रूपकों और अन्योक्तियों की झड़ी लगा दी है –

पिंजर प्रेम प्रकासिया अन्तरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमहीं बाबीं फूटी बास॥

कबीर के रहस्यवाद में एक चमत्कार है। ब्रह्म का मिलन ऐसे है जैसे बिना जल के कँवल का खिल जाना। कबीर के यहाँ मोती उत्पन्न तो होता है लेकिन बिना सागर, सीप और स्वाति नक्षत्र की बूँद के। यहाँ सूर्य चन्द्रमा में समा गया है। शरीररूपी पिंजरे में प्रेम का प्रकाश आ गया है और अनन्त ज्योति फूट पड़ी है। श्वासों का आना-जाना भी नहीं रहा। तब वह प्रिय कन्त मिल गया। मन की अवस्था उन्मनी-सी हो गई है और शून्य में जा लगा है तब बिना चाँद के चाँदनी दिखी और वहीं पर अलख निरंजनरूपी राजा भी विद्यमान था। इस तन रूपी ढाँचे में प्रेम का प्रकाश जब आया तब अनन्त में उजास छा गया। मुख से कस्तूरी महकने लगी और वाणी में

उसकी सुगन्ध समा गई। पानी से हिम बनता है और जब हिम गल जाता है तब जो वह पहले था वही बन गया। पंख को गगन में उड़ा दिया और पिण्ड परदेस में था। पानी बिना चोंच के ही पी लिया और इस संसार को भूल गया। जब तक द्वन्द्व है, 'हम और कन्त दो हैं' का भाव रहेगा तब तक उसका मिलन सम्भव नहीं और जैसे ही मन में ऐक्यभाव उत्पन्न हुआ, वह तुरन्त ही मिल गया, सुरति निरति में समा गई और निरति आधारहीन हो गई। इन दोनों का ज्ञान मिलते ही शम्भु द्वार खुल गया और दर्शन मिल गया। कबीर का विचारपूर्वक कहना है कि हरि जब भक्त के हो जाते हैं तब वहाँ धरती, व्योम, पवन, नीर, तारा कुछ नहीं होता – दोनों का एक होना ही शेष रह जाता है। ईश्वर के मिलन-सुख का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं–

मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
मुक्ताहल मुक्ता चुगै अब उड़ि अनत न जाहिं॥

* * *

कबीर कँवल प्रकासिया उग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई बाजै अनहद तूर॥

उस प्रिय की करनी ऐसी अद्भुत है कि उस पर कोई विरला ही विचार कर सकता है इसीलिए कबीर का रहस्यवाद एक चमत्कार तो पैदा करता ही है, एक सुखद जिज्ञासा भी उत्पन्न करता है –

आकासै मुखि औंधा कुँआ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि॥

कबीर का सिंह जल में निवास करता है और मछली खजूर पर चढ़ जाती है। इतना ही नहीं, वहाँ अमृत की वर्षा होती है। हीरा उत्पन्न होता है। घण्टा सतत बजता है। कबीर इसके पारखी बने और निर्भय पार उतर गए। रामरस पीना इतना सरल भी नहीं है। उसे पिलाने वाला कलाल उसके बदले सिर ही सौंपने को कहता है। उस प्रिय का मिलना अन्य सभी अभिलाषाओं का अन्त कर देता है –

जे मन लागे एक सूँ तो निर्बाल्या जाइ।
कबीर कलिजुग आइ करि किये बहुतज मीत।
जिन दिल बँधी एक सूँ ते सुखु सौवै नचींत॥

कबीर सहस्रार ज्योति की बात करते हुए कहते हैं कि इस गढ़ (शरीर) के शून्य शिखर (गगन मण्डल) में मोती पैदा होता है। यद्यपि वहाँ न सागर है, न स्वाति है, न बूँद और न सीप। गुरुकृपा से इस घट में ही वह दुर्गम शिखर मिल गया। उसी घट में उस प्रियतम का परिचय हुआ और उस तक पहुँचने का मार्ग गुरु ने दिखाया। कबीर उस विश्रामस्थल की बात करते हैं जहाँ सूर्य (पिंगला) चन्द्र (इड़ा) में मिल गया। (नासिका की दाहिनी नाड़ी सूर्य

और बायीं नाड़ी चन्द्र) ये दोनों नाड़ियाँ मिलकर सुषुम्ना में समाहित होती है तब योगी सहस्रार में स्थित हो जाता है। यही मन का चेत्ता कहलाता है। यह सौभाग्य कबीर के पूर्व तपस्या का फल (पूर्व जन्म का लेख) है –

हद छाँड़ि बेहद भया किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई तहाँ किया विसराम॥

प्रिय से मिलने का अर्थ है 'मैं' और 'तूँ' का भेद मिट जाना तभी वह सहस्रार में स्थित होने का सुख प्राप्त करता है। कबीर की आत्मा जब उस परमतत्त्व से मिल जाती है तब इस पिण्ड का भाव नहीं रहता। वह परदेस में ही छूट जाता है और जीव स्वदेश परमात्मा के समीप पहुँच जाता है। तब ज्ञानरूपी सरोवर में बिना चोंच के ही पानी पी लिया अर्थात् ब्रह्मशिखर तक पहुँच गया। जब जीवरूपी पक्षी गगन में उड़ने लगा तो सौर्य मण्डल को भेदकर वहाँ का स्वर (अनहद) कान में सुनाई देने लगा। उस आत्मतत्त्व का मिलन तभी होता है जब रूप मिटे और अद्वैत-अभेद का बोध हो। ऐसे साईं (प्रियतम) के मिलते ही सारा हृदय आनन्द से भर गया। हृदयरूपी सरिता उमड़ पड़ी और सच्चा सुख मिला। उस चिन्तामणि परमात्मा के मिलते ही सारे पाप स्वतः नष्ट हो गए।

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना, यह तत कथ्यो गियानी॥

कबीर के रहस्यवाद का उद्घाटन एक सहज प्रक्रिया के तहत है। वहाँ अचानक कुछ नहीं घटता। अनुभव करते-करते 'मैं' और 'तू' का भेद मिट जाता है। धीरे-धीरे यह 'मैं' 'तू' में समा जाता है। यह बूँद के समुद्र में समाने और समुद्र के बूँद में समाने की प्रक्रिया है। मन का भ्रम दूर हो जाने पर कबीर को परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तब कबीर उस परब्रह्म के अलौकिक स्वरूप में तदाकार हो जाते हैं। इस अवस्था में पहुँचने के पश्चात् रहस्यवादी के लिए संसार की समस्त विषमताएँ आह्लादकारी हो जाती हैं। कबीर के रहस्यवाद में अद्वैत वेदान्तियों का ज्ञान, वैष्णवों का अनन्य प्रेम, योगियों का साधना से प्राप्त परमानन्द और सूफ़ी रहस्यवादियों की भावनात्मक एकता समाविष्ट है। कबीर की रहस्यवादी साधना का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने इसके माध्यम से निर्गुण-निराकार परब्रह्म की उपासना का रूखापन दूर किया और उल्लासकारी माधुर्य उत्पन्न किया।

1.3.3. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कबीर की रहस्यवादी अनुभुति में किसकी एकता का सुन्दर चित्रण हुआ है –

(क) आत्मा-परमात्मा
(ख) हिन्दू-मुस्लिम
(ग) माया-ब्रह्म
(घ) सवर्ण और गैर-सवर्ण

2. उलटबाँसी का अर्थ है –

(क) विरोधाभास द्वारा अपनी बात कहना

(ख) बात को उलट देना

(ग) अर्थ को उलटा कर देना

(घ) अर्थ का अनर्थ करना

3. कबीर के रहस्यवादी काव्य पर प्रभाव है –

(क) ऋग्वेद का नारदीय सूक्त, केनोपनिषद् और श्वेताश्वेतरोपनिषद का

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय का

(ग) सहजानन्द के उपासक कण्हपा आदि सिद्धों का

(घ) शंकराचार्य के अद्वैतवाद का

4. "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, वही साहित्य-क्षेत्र में रहस्यवाद है।" उक्त कथन किसका है –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ग) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

(घ) डॉ॰ रामविलास शर्मा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उलटबाँसी क्या है ? समझाइए।
2. रहस्यवादी भावनाएँ अधिकतर दाम्पत्य प्रेम के रूप में ही क्यों अभिव्यक्त हुई हैं ?
3. भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद में भेद स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कबीर की रहस्यवादी चेतना पर एक सारगर्भित लेख लिखिए।
2. "एकै कुँवा पंच पनिहारी, एकै लेजु भरै नौ नारी।
   फटि गया कुँआ विनसि गई बारी, विलग गई पाँचों पनिहारी॥" का तात्पर्य स्पष्ट कीजिए।
3. "देखि-देखि जिय अचरज होई, यह पद बूझें बिरला कोई।
   धरती उलटि अकासै जाय, चिउंटी के मुख हस्ति समाय।
   बिना पवन सो पर्वत उड़े, जीव जन्तु सब वृक्षा चढ़े।
   सूखे-सरवर उठे हिलोरा, बिनु-जल चकवा करत किलोरा॥" का आशय स्पष्ट कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 4 : जायसी के काव्य में रहस्यवाद, विरह-वर्णन, प्रेम-व्यंजना, सौन्दर्य-दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

1.4.00. उद्देश्य कथन
1.4.01. प्रस्तावना
1.4.02. जायसी का महत्त्व
1.4.03. प्रेमाख्यान परम्परा और जायसी
1.4.04. जायसी : परिचय एवं पृष्ठभूमि
1.4.05. जायसी के काव्य में रहस्यवाद
1.4.06. विरह-वर्णन
1.4.07. प्रेम-व्यंजना
1.4.08. सौन्दर्य-दृष्टि
1.4.09. बोध प्रश्न
1.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. जायसी का जीवन परिचय एवं काव्यगत विशेषताओं को जान सकेंगे।
ii. जायसी के रहस्यवाद को समझ सकेंगे।
iii. पद्मावत में विरह-वर्णन का विश्लेषण कर सकेंगे।
iv. जायसी की प्रेम-व्यंजना को समझ सकेंगे।
v. जायसी की सौन्दर्य-दृष्टि से अवगत हो सकेंगे।

1.4.01. प्रस्तावना

गर हकीकी इश्क चाहे कर मजाजी इश्क तो।
उससे कोई क्या चढ़े जीना न हो जिस बाम का॥

यदि हकीकी इश्क अर्थात् ईश्वर से प्रेम करने की इच्छा है तो यह आवश्यक है कि पहले सांसारिक प्रेम किया जाए। वासनात्मक लौकिक प्रेम ही वह सीढ़ी है जिस पर चढ़ कर मनुष्य अलौकिक आध्यात्मिक प्रेम की ऊँची छत पर जा सकता है। सीढ़ी के अभाव में जैसे छत तक जाना दुष्कर है उसी तरह लौकिक प्रेम के बिना अलौकिक प्रेम की प्राप्ति भी कठिन ही है।

उक्त सिद्धान्त मधुरा भक्ति का अरबी संस्करण है। इसके मूल में भक्ति ही है इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। संसार के सभी धर्म-सम्प्रदाय जो ईश्वर को निराकार मानते हैं सभी में किसी-न-किसी रूप में यही रहस्यवादी भक्ति दिखाई देती है। इसका मूल कारण यह है कि निराकार ईश्वर के सम्बन्ध में केवल जिज्ञासा ही प्रकट की जा सकती है। शुष्क बुद्धि आन्दोलन से उसका समाधान नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर किसी की भक्ति करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि उसके रूप का परिचय भी सम्प्राप्त हो। उसमें इतनी शक्ति हो कि वह दृश्य को रसार्द्र कर दे और उस रसार्द्रता का परिणाम यह हो कि हृदय उस रूपवान के दर्शन-मिलन के लिए व्याकुल हो उठे।

इस्लाम में ईश्वर की मान्यता निराकार रूप में ही है। प्रारम्भ में इस्लाम में कट्टरता बहुत अधिक थी। कुरआन और शरियत के विरुद्ध आचरण प्राणदण्ड के योग्य माना जाता था। ईश्वर के प्रति अपने हृदय की रसार्द्रता के कारण मधुरा भक्ति रखने वाले अपने सिद्धान्त का समर्थन कुरआन और शरियत द्वारा ही करने के लिए विवश थे फिर भी समय-समय पर कट्टरवादियों द्वारा सूफ़ियों को भी भारी क्लेश उठाना पड़ा। मंसूर से लेकर सरमद तक अनेक ऐसे सूफ़ियों के नाम उद्धृत किए जा सकते हैं जिन्हें कट्टरपंथियों ने न केवल यातनाएँ दीं अपितु उन्हें अपना चोला बदलने के लिए भी विवश कर दिया था। मंसूर को इस्लाम की जन्मभूमि में ही शूली पर चढ़ाना पड़ा और सरमद दिल्ली में औरंगज़ेब की आज्ञा से मौत के घाट उतारा गया। सूफ़ी कवि सरमद को शहीद मानते हैं और मंसूर के विषय में कहते हैं–

चढ़ा मंसूर सूली पर इपुकारा इश्कबाजों को।
ये उसके बाम का जीना है आये जिसका जी चाहे॥

इस्लामी जगत् को केवल यह राह बताने के लिए कि हम भी मुसलमान ही हैं और कुरआन तथा शरीयत के उतने ही पाबन्द हैं जितने कि अन्य मुसलमान, सूफ़ियों ने अपने कुरआन के वचन से ही अपने सिद्धान्त का समर्थन किया। इस्लाम के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद साहब के सुप्रसिद्ध चार मित्रों – हज़रत अबूबक, हज़रत उमर, हज़रत उसमान और हज़रत अली ने इस्लाम के पहले खलीफा अबूबक को ही अपना नेता माना। डॉ॰ रिजवी के कथनानुसार कश्फूल महजूब में अबुल-हसन हुज्बेरी ने लिखा है – "यह दोनों गुण सिद्दीक अकबर अर्थात् खलीफा अबूबक में विद्यमान थे। वे ही इस तरीके वालों के सूफ़ियों के इमाम हैं इसका समर्थन हिन्दी के सुप्रसिद्ध सूफ़ी कवि मालिक मुहम्मद जायसी ने भी किया है – अबू बकर सिद्दीक सयाने। पाहिले सिदीक दीं वह आने॥"

1.4.02. जायसी का महत्त्व

प्रबन्धकाव्यों में पद्मावत का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यह ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य के साथ-साथ भावों की गम्भीर अभिव्यंजना है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' की रचना इसी ढाँचे पर चौंतीस वर्ष बाद की। जायसी की भाषा का अध्ययन करके ही तुलसी की भाषा को समझा जा सकता है। ये दोनों ही ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की अक्षुण्ण निधि हैं। आचार्य शुक्ल ने पद्मावत का परिष्कृत संस्करण पाठकों के समक्ष

कार्तिक संवत् 1980 में उपलब्ध कराया। कबीरदास के सौ वर्ष बाद जायसी 'राम और रहीम' की एकता को लेकर अपनी रचनाओं में उपस्थित होते हैं। परोक्षतः उन्होंने कबीर के कार्य को ही आगे बढ़ाया। जायसी के समय में चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य और रामानन्द के प्रभाव से वैष्णव भक्ति प्रेमप्रधान हो चुकी थी जिसका प्रबल प्रवाह बंग देश से गुजरात तक रहा था। बहुत से मुसलमान फ़कीर अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे थे। जायसी आदि सूफ़ी महात्माओं ने मुसलमानों को 'इश्क हकीकी' का सबब सिखाया। ऐसे वातावरण में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में आए। ये कहानियाँ हिन्दुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने सिद्ध किया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदय से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटाकर एकत्व का अनुभव करने लगता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्धों का स्थायित्व रागात्मता द्वारा ही सम्भव है। इसे कुतुबन, जायसी जैसे प्रेम कहानियों के कवियों ने सिद्ध किया है। इन सूफ़ियों ने सिद्ध किया कि जिस प्रकार हमारे हृदय में प्रेम-तरंगें उठती हैं वही तरंगें दूसरे के हृदय में भी जाग्रत होती हैं। जिन बातों से हमें दुःख-सुख का अनुभव होता है वैसा ही अनुभव दूसरों को भी होता है। अपनी कहानियों के माध्यम से प्रेम का शुद्ध मार्ग बताते हुए इन कवियों ने जीवन की उन सामान्य दशाओं को उजागर किया जिसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र से है। सूफ़ी कवियों ने हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय को आमने-सामने रखकर अजनबीपन मिटाने का प्रयास किया। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखाया है।

1.4.03. प्रेमाख्यान परम्परा और जायसी

इतिहास की दृष्टि से यह समय सिकन्दर लोदी के शासनकाल का समय था। सिकन्दर लोदी मथुरा के मन्दिरों को गिराकर मस्जिदें खड़ा कर रहा था और हिन्दुओं पर अत्याचार कर रहा था। दूसरी ओर पूर्व में बंगाल शासक हुसैन शाह के अनुरोध से 'सत्यपीर' कथा चली। कुतुबन मियाँ एक ऐसी कहानी लेकर सामने आए जो मात्र मनुष्य का ही परिचय दे रही थी। इसी मनुष्यत्व को ऊपर करने से हिन्दूपन, मुसलमानपन, ईसाईपन आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है जो विरोध की ओर ले जाता है। कुतुबन चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। उन्होंने 'मृगावती' (सन 909 हिजरी में) लिखा जिसमें चन्द्रनगर के राजा गंपतिदेव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपमुरार की कन्या मृगावती के प्रेम की कथा है। जायसी ने अपने पूर्व की प्रेम कहानियों में मृगावती, मधुमालती, मुग्धावती और प्रेमावती का उल्लेख किया है। जायसी के बाद भी गाजीपुर के शेख हुसैन के पुत्र उसमान ने संवत् 1670 के लगभग चित्रावली लिखी जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर के राजा चित्रसेन की कन्या चित्रावली की प्रेमकहानी है। इसकी भाषा अवधी-भोजपुरी मिश्रित है। दूसरी नूरमुहम्मद की इंद्रावत है जो संवत् 1796 में लिखी गई थी। इंद्रावत में घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख सर्गबद्ध न होकर शीर्षक रूप में किया गया है। इनकी रचनाएँ फ़ारसी की मसनवी शैली में रचित हैं। मसनवी एक शैली है जिसमें कथा के पूर्व सबसे पहले ईश-स्तुति की जाती है, फिर क्रम से पैगम्बर की वन्दना और तत्कालीन शाह की प्रशंसा तदनन्तर कथा का आरम्भ किया जाता है। उक्त समस्त विशेषताएँ पद्मावत, इन्द्रावत, मृगावती इत्यादि में

पाई जाती है। ये सभी प्रेम कहानियाँ पूरबी हिन्दी अवधी भाषा में नियम क्रमानुसार चौपाई-दोहे में लिखी गई हैं। चौपाई और बरवै दोनों अवधी भाषा में काव्य-सौष्ठव के उपादान के रूप में शोभायमान हैं। इन मुसलमान कवियों ने हिन्दू प्रेम कहानियों के साथ अपने हृदय की समूची संवेदना को प्रकट किया है। किसी समुदाय की कथा को अपनी रचना में प्रयुक्त करना रचनाकार का उस समुदाय के प्रति स्वाभाविक प्रेम प्रकट करता है । जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने 'आखिरी कलाम' में सैय्यद अशरफ जहाँगीर का उल्लेख पीर रूप में किया है। जायसी ने शेख मोहिदी (मोहीउद्दीन) से भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया। सिंहल द्वीप में योगिनी स्त्रियों का होना और योगिनी का सिद्ध होने के लिए वहाँ जाना गोरखपंथियों के अनुसार है । इससे अनुमान किया जाता है कि जायसी गोरखपंथी योगियों के भी गहरे सम्पर्क में रहे होंगे। सूफ़ी सन्त जायसी परमात्म-तत्त्व के प्रति सच्चे जिज्ञासु थे। उनका मानना है कि ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं –

विधिना के मारग हैं तेते सरग नखत तन रोवाँ जेते।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा है निरमल कैलास बसेरा॥

वस्तुतः जायसी अपने समाज पर पूर्व आस्था रखते हुए भी सामान्य मनुष्य धर्म के सच्चे अनुयायी हैं। वे इतने विनम्र हैं कि अपने ज्ञान को सभी पण्डितों का प्रसाद मानते हैं। कबीर को वे बहुत बड़ा साधक मानते हैं।

वा नारद तब रोइ पुकारा एक जोलाहे सौं मैं हारा।
प्रेम तन्तु निति ताना तनई जप तप साधि सैंकरा भरई॥

जायसी का कथन है कि प्रेम मानसरोवर में खिला हुआ कमल है। जिसे प्रिय के प्रेम जल से सींचने पर ही वह खिला हुआ रह सकता है वरना मुरझा जाता है। 'पद्मावत' को पढ़ने से जायसी के हृदय की कोमलता, प्रेम की पीर, लोकपक्ष और भगवद् पक्ष हर ओर उसकी गूढ़ता और गम्भीरता विलक्षण दिखाई देती है। मुसलमानों के भक्त घरानों में भी 'पद्मावत' आदृत है।

1.4.04. जायसी : परिचय एवं पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य के सूफ़ी कवियों में जायसी का प्रमुख स्थान है। जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी है। जायसी का जन्मस्थान रायबरेली के जायस में बताया जाता है। अपने जन्म के विषय में जायसी ने 'आखिरी कलाम' में लिखा है – "भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥"

जायसी का जन्म सन् 1467 ई. के आसपास और मृत्यु सन् 1542 ई. में मानी जाती है। जायसी प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर मोहिदी के शिष्य थे। चेचक के कारण इनकी एक आँख की रोशनी चली गई। जायसी का बाल्यकाल साधू-फकीरों की संगति में बीता। सत्संगति के प्रभावस्वरूप इनकी काव्य-प्रतिभा विकसित हुई।

जायसी की तीन पुस्तकें विख्यात हैं – 'पद्मावत', अखरावट' और 'आखिरी कलाम'। इनमें पद्मावत सर्वाधिक प्रसिद्ध है और जायसी की अक्षय कीर्ति व सुख्याति भी इसी पर आधारित रही है। प्रेमाख्यानक काव्यों

की परम्परा में जायसी की पद्मावत सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'पद्मावत' में रत्नसेन, पद्मावती और नागमती की जीवन-कथा लिखी गई है। इसमें प्रतीकात्मक वर्णन भी है। इसमें पद्मावती ब्रह्म का, नागमती संसार का और राजा रत्नसेन जीव के प्रतीक हैं। 'पद्मावत' मसनवी शैली में लिखा गया महाकाव्य है। इसमें राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन किया गया है। इस कथा में दोनों ओर से प्रेम की पीर दिखलाई गई है और साथ ही प्रेम-साधना द्वारा ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग भी दर्शाया गया है। यह आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, संसार आदि की भी कथा है। जायसी ने 'पद्मावत' में जो नागमती का वियोग वर्णन प्रस्तुत किया है वह हिन्दी साहित्य में अनुपम और बेजोड़ है। इस कथा का नामकरण नायिका के आधार पर ही 'पद्मावत' रखा गया है। इसकी भाषा अवधी है तथा उर्दू और फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

जायसी के साहित्य की भाषा जनभाषा होते हुए भी ऊँची साहित्यिकता के गुणों से युक्त है। इस तरह हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाने में जायसी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जायसी इसी कारण हिन्दी के अमर कवियों में से एक तो हैं ही अत्यधिक प्रासंगिक भी। जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में से एक प्रसिद्ध सूफ़ी कवि माने गए हैं। अपने धर्म पर उन्हें पूरी आस्था और हिन्दू धर्म को वह अत्यन्त उदार दृष्टि से देखते थे। योग, दर्शन, ज्योतिष की बहुत-सी बातों का ज्ञान उन्हें सत्संग से प्राप्त हुआ था। ये स्वभाव से बड़े विनम्र थे। जायसी अपनी काव्य-क्षमता पर गर्व न करके बराबर यही घोषित करते थे कि – "हौं पंडितन केर पछलगा।" सूफ़ी कवियों में सबसे प्रसिद्ध जायसी ही हुए हैं। उनके काव्य में लौकिक प्रेम और दिव्य प्रेम में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। दोनों प्रेम समानान्तर घटित होते दिखाई देते हैं।

धर्म का मूल विश्वास है। उसमें तर्क के लिए स्थान नहीं होता। इसमें मतभेद भी नहीं होता। जब उसमें चिन्तन का प्रवेश होता है तब वह दर्शन की ओर झुकने लगता है। सूफ़ी मत इस्लाम की एक शाखा है। सूफ़ियों ने इस्लाम को चिन्तन का पुट दिया। मुस्लिम एकेश्वरवादी होते हैं जबकि सूफ़ी कवि एक प्रकार के अद्वैतवादी हैं। सूफ़ी कवि खुदा, पैगम्बर और कुरान शरीफ में तो विश्वास करते ही हैं साथ ही वे निराकार के उपासक भी होते हैं। सूफ़ी कवि दार्शनिक, आस्थावान और चिन्तनशील होते हैं। दर्शन में ये भारतीय अद्वैतवाद के बहुत निकट हैं। संसार में बिखरे प्रकृति के सौन्दर्य को ये ईश्वर के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस दृष्टि से इन्हें प्रतिबिम्बवादी भी कहा जा सकता है। सूफ़ी कवियों पर अद्वैत भाव के अतिरिक्त बौद्ध-धर्म की करुणा और अहिंसा तथा वैष्णव धर्म की प्रेम-भावना का प्रभाव भी पड़ा है। सिद्धों और नाथों के हठयोग से भी ये प्रभावित हैं। इस प्रकार सूफ़ी मत भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद, बौद्धों की अहिंसा, वैष्णवों के प्रेमतत्त्व और हठयोगियों के योग से प्रभावित इस्लाम के अन्तर्गत एक उदार हृदय का पंथ है।

1.4.05. जायसी के काव्य में रहस्यवाद

मानव अज्ञात के प्रति जिज्ञासु होकर सृष्टि के अनेक व्यापारों में एक आनन्द रूप और चेतन सत्ता का आभास पाता है। उपनिषदों में ऋषियों ने तत्त्व-चिन्तन द्वारा आनन्दस्वरूप परमार्थ सत्ता को स्थापित किया और अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर पहुँचे। ज्ञान द्वारा जगत् और उसके मूल कारण का चिन्तन करते हुए जब वे परमार्थ तत्त्व

पर पहुँचते थे तब भावावेश की स्थिति में अपनी उक्तियों को रहस्यात्मक और अनुपम ढंग से प्रकाशित कर देते थे। अद्वैतवाद ज्ञान और बुद्धि पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्त है। अद्वैतवाद मनुष्य की बुद्धि और चिन्तन का परिणाम है। इसमें कवि-कल्पना और अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार अद्वैतवाद का आधार लेकर कल्पना या अनुभूति की अभिव्यक्ति होने पर उच्च कोटि के रहस्यवाद की स्थापना होती है। अतः चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, वह भाव या कल्पना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।

अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं – आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता। दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं – "सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्" अर्थात् "सर्वत्र ब्रह्म ही है।" रहस्यवाद के दो प्रकार हैं – भावात्मक और साधनात्मक। साधनात्मक रहस्यवाद योग मार्ग की अनेक अप्राकृतिक और कठिन अभ्यास साधनाओं, तन्त्र और रसायन पर आधारित है। भावात्मक रहस्यवाद में परम सत्ता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। इसका अर्थ यह है कि रहस्यवाद किसी विश्वास के आधार पर चलता है। विश्वास करने के लिए किसी नये तथ्य या सिद्धान्त की खोज नहीं करता। किसी नवीन ज्ञान का उदय रहस्यवाद द्वारा नहीं किया जा सकता। जिस श्रेणी का ज्ञान व विश्वास मौजूद होगा, रहस्यवाद उसी श्रेणी का होगा। 'पद्मावत' में साधनात्मक रहस्यवाद तो है किन्तु पद्मावत जैसा अनोखा और सुन्दर अद्वैतवादी रहस्यवाद अन्य हिन्दी काव्य में नहीं मिलता। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैत रहस्यवाद है तो वह जायसी में है जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की है। वे सूफ़ियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "जायसी का रहस्यवाद सूफ़ी साधना और भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस, संकेतात्मक और समृद्धिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय है।" इसी सम्बन्ध में डॉ॰ गोविन्द त्रिगुणायत कहते हैं – "जायसी उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि हैं। 'पद्मावत' में रहस्यवाद के सभी रूप मिलते हैं।"

जायसी की दृष्टि प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों पर बहुत विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को अधिक परखने वाली है इसलिए उस रहस्यमयी सत्ता का आभास करने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य संकेत उपस्थित करते हैं। अन्य सूफ़ी फकीरों की भाँति जायसी ने ईश्वर को अपनी प्रेमिका माना है और उसे अपने भीतर स्थित बताते हैं –

पिउ हिरदय मंह भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

लेकिन साथ-साथ उसके रूप की छटा प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में भी देखते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद द्वारा जायसी ने अगम-अगोचर और अदृश्य सत्ता को अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पाया है और जीव-जगत् के साथ

उसका सम्बन्ध बताते हुए सृष्टि के समस्त पदार्थों में उस परमसत्ता का आभास होना बताया है। प्रकृति के मध्य दिखाई देने वाली सारी सृष्टि उसी परमात्मा की है। उस प्रियतम के सामीप्य से मानव के भीतर उत्पन्न अपरिमित आनन्द की व्यंजना जायसी की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई है –

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी। भँवर दसन होइ कै रस लेहीं ॥

परम सत्ता का साक्षात्कार होते ही अज्ञान समाप्त हो जाता है और चारों ओर ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगता है। जायसी पृथ्वी, स्वर्ग, जीव और ब्रह्म की एकता पर विचार करते हुए प्रश्न करते हैं कि बीच में भेद डालकर इनको न जाने किसने अलग-अलग कर दिया –

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ ॥

उस परम तत्त्व के वियोग में समस्त सृष्टि डूबी हुई है जो इस पृथ्वी और स्वर्ग के वियोगत्व को समझेगा और उस वियोग में पूर्ण रूप से सम्मिलित होगा, उसी का वियोग सारी सृष्टि में इस प्रकार फैला हुआ दिखाई देता है –

सुरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टैसू बन राता॥
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते जब जोगी जती ॥

* * *

भूमि जो भीजि भजउ सब गेरू। और राते जब पंखि पखेरू ॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥

सायंकाल के समय न जाने कितने लोग मेघ को रक्तवर्ण होते देखते हैं परन्तु किस अनुराग से वे लाल हैं, इसे जायसी जैसे रहस्यदर्शी भावुक ही समझते हैं।

प्रकृति के सभी महाभूत परमसत्ता के 'अमरधाम' तक पहुँचना चाहते हैं और उसके लिए निरन्तर प्रयास करते रहते हैं परन्तु साधना पूरी हुए बिना पहुँचना असम्भव है –

धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराई। तेहिं डर अंत रिखे फिरहिं सवाई॥
पवन जाइ तंह पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइ रहा॥
अगिनि उठी जरि बुझी निआना। धुआँ उठा उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा उठि जाइ न छुआ। बहुरा रोइ आइ भुइ चूआ॥

इस अद्वैत रहस्यवाद के अतिरिक्त जायसी ने विराट् संसार को उस सत्ता की अनुपम छाया से युक्त कहा है जो साधक वहाँ तक पहुँच जाता है, वह संसार के आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है–

जेइ वह पाई धूप अनूपा । फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा ॥

पद्मावत की रहस्यात्मक उक्तियों में साधना-पथ और साधना-पथ की बाधाओं का भी वर्णन हुआ है । साधना का पथ कठिन है । जायसी ने साधना-पथ की बाधाओं का उल्लेख करते हुए कहा है –

ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी । जोगी-जती तपी संन्यासी ॥
है आगे परवत के पारा । विषम पहार अगम सुठि थारा ॥
बिच-बिच नदी खोउ औ नारा । ठावहिं ठाँव बैठ बटमारा ॥

* * *

प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा । सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा ॥
पथ सूरि कै उठा अंकूरू । चोर चढ़ै कि चढ़ै मसूरू ॥

जायसी के 'पद्मावत' में साधनात्मक रहस्यवाद भी मिलता है । इन्होंने सिंहलगढ़ वर्णन में प्रस्तुत वर्णन के रूप में अप्रस्तुत रहस्यवाद का संकेत दिया है और सिंहलगढ़ को ब्रह्मलोक माना है–

निति गढ़ बांचि चलै ससि सूरू। नाहिं त होई बाजिरथ चूरू ॥

जायसी प्रकृति के अनेक रूपों में प्रियतम सौन्दर्य की मनोहर और मार्मिक प्रस्तुति करते हैं –

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन-पदार्थ मानिक-मोती ॥

ऐसा कहकर अदृश्य और अगोचर सत्ता का संकेत करते हैं और उसे सर्वव्यापी बताते हुए कहते हैं–

ना वह मिला न बेहरा ऐसा रहा भरपूर ॥

जायसी ने पद्मावती को ब्रह्म का प्रतीक माना है । पद्मावती की सौन्दर्य-सृष्टि सर्वव्यापी है ।

रहस्यवाद के सभी रूप और स्थितियाँ 'पद्मावत' में दिखती हैं । इसमें हठयोग का साधनात्मक रहस्यवाद मिलता है । साधक का जिज्ञासु होकर साधना के पथ पर चलना मार्ग की कठिनाइयों को पार करके ब्रह्म की प्राप्ति करना और मिलन का सजीव चित्रण 'पद्मावत' में हुआ है । 'पद्मावत' में परम तत्त्व की आलोकमयी रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन भी मिलता है। 'पद्मावत' का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद है । उसमें रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति हुई है ।

1.4.06. विरह-वर्णन

जायसी का विरह-वर्णन विषद् है। जायसी का 'नागमती का विरह-वर्णन' हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। जायसी का विरह-वर्णन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक नहीं लगता। उसमें गम्भीरता बनी हुई है। इनकी अत्युक्तियाँ विरह की विषम वेदना के संकेत रूप प्रतीत होती हैं। उसमें शब्दों का चमत्कार नहीं है। जायसी के काव्य में विरह का विस्तार 'नागमती वियोग खण्ड', 'नागमती सन्देश खण्ड' आदि में दिखाई देता है। इन्होंने विरहग्रस्त प्रेमी-प्रेमिका के साथ समूचे संसार की सहानुभूति दिखाई है और सम्पूर्ण सृष्टि को विरह-वेदना से व्याप्त बताया है। विरह के कारण गेहूँ का हृदय फटा हुआ है और कौआ भी विरह के कारण ही काला है। जायसी के विरह-वर्णन में मुसलमानी काल के प्रभावस्वरूप वीभत्सता भी आ गयी है। हर जगह नागमती के रक्त के आँसू गिरते हैं। इसमें हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय है। इनका काव्य अतियुक्तिपूर्ण अवश्य है किन्तु इसमें अनुभूति की तीव्रता भी दिखाई देती है।

विरह-व्यथा में व्याकुल नागमती उपवनों में वृक्षों के नीचे रातभर रोती रहती है। इस वियोग दशा में पशु, पक्षी, पेड़ आदि जो भी उसके सामने आते हैं, उन्हें वह अपना दुःख सुनाती है। उपवनों में रोती फिरती नागमती के विरह-विलाप से घोसलों में बैठे पक्षियों की नींद उड़ गई है –

फिरि फिरि रोव कोई नहीं डोला। आधी रात विहंगम बोला॥

जायसी ने सामान्य हृदयतत्त्व की सृष्टि करते हुए सर्वव्यापी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सबको एक जीवनसूत्र में बँधे हुए देखा है। विरह में सभी एकाकार हो गए हैं। जायसी के 'नागमती वियोग वर्णन' के अन्तर्गत 'बारहमासा' में ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ नागमती की विरहावस्था का मार्मिक चित्रण किया गया है। इसमें वेदना का निर्मल और कारुणिक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दू वियोगिनी नारी की दशा का वर्णन बारहमासा के अनुसार है। हिन्दू दाम्पत्य जीवन का माधुर्य अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के वर्णन द्वारा सजीव हो उठा है। इस 'बारहमासा' में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है जिसमें आनन्ददायक वस्तुएँ भी कष्टकारी प्रतीत होती हैं। संयोग में जो प्रकृति प्रेम-सृष्टि की सब वस्तुओं से आनन्द का संग्रह करती है वहीं वियोग की दशा में सारी सृष्टि दुःख में डूबी हुई लगती है। इसी दुःख में प्रत्येक मास की सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन जायसी ने नागमती वियोग में किया है।

जायसी ने नागमती के विरह का वर्णन अनेक विवरणों और पूरी सूक्ष्मता के साथ किया है। इसका धरातल व्यापक है। विरह-व्यथा की अनुभूति ग्रन्थ के मुख्य पात्रों के हृदय में ही नहीं होती वरन् सारी सृष्टि ही इसकी चपेट में आ गयी है। सच कहें तो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि इसी आग में जल रहे हैं। पर्वत के भीतर यही आग खुदबुदा रही है। पतंगा इसी आग में जलता है। पलाश के भीतर यही आग भरी हुई है। बादल इसी आग के धुएँ से काला पड़ गया है। जायसी नागमती के विरह ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाते-बढ़ाते उसे सृष्टि भर में प्रभावी दिखा देते हैं –

अब परजरा विरह कर गाठा। मेघ समान भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा। सुरुज जरा चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराई जरहीं। टूटहिं लूक धरति मंह परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊ। दहकि पलास जरै तेहिं दाऊँ॥

मेघों का श्याम होना, केतु का काला होना, सूर्य का तपना, चन्द्रमा की कला का खण्डित होना, पलाश के फूलों का लाल होना सबकुछ नागमती के विरह ताप के प्रभावस्वरूप है।

नागमती विरह में व्याकुल हो गई है। उसका हृदय विरह की शलाकाओं पर कबाब की तरह भुन रहा है –

विरह सरगान्हिं भूँजति माँसू। ढरि ढरि परहिं रक्त के आँसू॥

विरह में सूखकर नागमती की अस्थियाँ किंगरी और नसें ताँत बन गई हैं। उसके रोम-रोम से विरह की ध्वनि निकलती है –

हाड़ भए सब किंगरी नसैं भईं सब तांति।
रोम रोम तें धुनि उठै कहौं विपा केहि भाँति॥

जायसी ने विरह ताप के वेदना की विषद् व्यंजना की है। इनकी अत्युक्ति अधिकतर संवेदना के स्वरूप में है। विरह ताप हृदय ताप में ऐसा जान पड़ता है मानों –

फिरि फिरि भूँजसि तजिऊँ न बारू।

भाड़ की तपती बालू के बीच में रखा हुआ अनाज का दाना बार-बार भुने जाने पर उछलता रहता है परन्तु वह बालू से बाहर नहीं जाता, उसी प्रकार वियोगिनी नागमती भी वियोग दुःख में डूबी रहती है उससे बाहर निकल नहीं पाती। नागमती की विरह-वेदना हृदय-विदारक है –

विरह-बान तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि गई चोली॥

जायसी ने पद्मावत में नागमती के वियोग का जैसा वर्णन किया है वैसा मार्मिक और अनुभूतिपूर्ण विरह अन्यत्र दुर्लभ है। विरह-वर्णन में कवि ने अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है किन्तु वह मजाक नहीं लगता प्रत्युत उसमें गम्भीरता बनी हुई है। इसमें वेदना, कोमलता, सरलता, गम्भीरता आदि सभी कुछ मौजूद है। यह संवेदनात्मक और प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ आकुलता व वेदना से भरा हुआ है। इस वियोग-व्यथा का प्रसार जड़-चेतन से लेकर सम्पूर्ण सृष्टि तक होता है। यथा –

पंचम विरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मजीठ ठेसू बन राता॥

1.4.07. प्रेम-व्यंजना

जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेम का वर्णन स्थान-स्थान पर किया है। जायसी को 'प्रेम की पीर' का कवि कहा जाता है। इन्होंने प्रेम और 'प्रेम की पीर' (विरहजन्य पीड़ा) का सुन्दर वर्णन 'पद्मावत' में किया है। यह फ़ारसी प्रेम परम्परा का प्रेमकाव्य है। इसमें हीरामन सुवा (तोता) से पद्मावती के रूप सौन्दर्य का वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन उसके प्रेम में निमग्न हो जाता है और पद्मावती की प्राप्ति के लिए योगी बनकर चित्तौड़गढ़ से निकल पड़ता है। मार्ग में अनेक बाधाओं को पार करके सिंहलद्वीप पहुँच जाता है। पद्मावती भी उसके प्रेमताप के प्रभाव से विरहाग्नि में जलने लगती है। जब रत्नसेन सूली पर चढ़ाया जाने वाला होता है तो पद्मावती भी उसके साथ मरने के लिए तैयार हो जाती है। इस अवसर पर रत्नसेन के उद्गार स्वाभाविक प्रेम की व्यंजना करते हैं –

काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा। मरै तौ मरौं, जिऔं एक साथा॥

प्रेम का यह आदर्श भारतीय न होकर फ़ारसी प्रेम का आदर्श रूप है। पद्मावत में प्रेम का स्वरूप लौकिक ही दिखता है। कहीं-कहीं अलौकिक प्रेम भी दिखाई देता है। प्रेम दशा में प्रेमी अपने प्रेम से सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करता है। प्रिय से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुएँ प्रिय होती हैं। अर्थात् सच्चे प्रेमी को प्रिय ही नहीं, जो कुछ उस प्रिय से जुड़ा होता है वह सब प्रिय होता है। प्रेम के प्रभाव से प्रेमी की भावना उसके हृदय के साथ प्रिय के पास पहुँच जाती है। तब वह प्रेम चरम सीमा पर पहुँच जाता है। प्रेम की प्राप्ति आनन्दमयी और निर्मल हो जाती है। पद्मावती का रूप-वर्णन सुनते ही जो प्रेम रत्नसेन के हृदय में संचरित होता है वह इस प्रकार है –

सुनि रवि-नावँ रतन भा राता। पंडित फेरि उहै कहु बाता॥
तें सुरंग मूरत वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिये परगसी॥
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया। जल बिनुमीन, रकत बिनु काया॥
किरिन-करा भा प्रेम -अँकूरू। जौ ससि सरग, मिलौं होइ सूरू॥
सहसौ करा रूप मन भूला। जहँ जहँ दीठ कवँल जनु फूला॥
तहाँ भवँर जिउ कँवला गंधी। भइ ससि राहु केरि रिनि बंधी॥
तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छँडि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥

जायसी ने पद्मावत में हीरामन तोते के मुँह से भी प्रेम की कुछ विशेषताएँ बतायी हैं। सच्चा प्रेम एक बार उत्पन्न होकर फिर कहीं जा नहीं सकता। पहले उत्पन्न होते और बढ़ते समय तो उसमें सुख ही सुख दिखाई पड़ता है परन्तु बढ़ जाने पर भारी दुःख का सामना करना पड़ता है। प्रेम बढ़ जाने पर और किसी भाव के लिए स्वतन्त्र स्थान नहीं छोड़ता। जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सब उसके ही अधीन और वशीभूत होते हैं –

प्रीति बेलि जिन अरूझै कोई। अरूझै मुए न छूटे सोई॥

सम्भवतः इसीलिए सच्चे प्रेम का होना साक्षात् ईश्वर से मिलना कहा गया है। 'पद्मावत' में अलौकिक प्रेम के महत्त्व की घोषणा बहुत स्पष्ट शब्दों में हुई है –

मानुष पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह, छार भरि मूठी ॥

* * *

पेम-पंथ जौं पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥

फ़ारसी प्रेम पद्धति के प्रेमतत्त्व की गहनता का निरूपण 'पद्मावत' में हुआ है। पद्मावत का प्रेम 'अदिष्ट' गगन से ऊँचा है। प्रेम-प्राप्ति से दृष्टि आनन्दमयी और निर्मल हो जाती है। जो बातें पहले नहीं सूझती थीं, वे अब सूझने लगती हैं। चारों ओर सौन्दर्य का विकास दिखाई देने लगता है। प्रेम के जाग्रत होने पर प्रेमी को तीनों लोक और चौदह खण्डों में प्रेम को अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता और न ही कुछ सुहाता है–

तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि ॥

साधना से जब मन पवित्र हो जाता है तो उसमें ईश्वरीय प्रेम आलोकित हो जाता है। प्रेम सूफ़ीमत का प्राण है। सूफ़ी कवि ईश्वर की कल्पना स्त्री और आत्मा की कल्पना पुरुष के रूप में करते हैं। संसार वह स्थल है जहाँ प्रेम की साधना की जा सकती है। साधक भी अपनी साधना का फल पाकर इसी प्रकार आनन्द ज्योति का साक्षात्कार करता है –

गा अँधियार, रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रवि फूटी॥

जायसी ने फ़ारसी प्रेम पद्धति के प्रेम-तत्त्व की गहनता का निरूपण 'पद्मावत' में किया है। पद्मावत का प्रेम आसमान से ऊँचा है। प्रेम जाग्रत होने पर प्रेमी को प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता। प्रेम समुद्र की भाँति विशाल और गम्भीर है अतः प्रेमरूपी समुद्र की थाह पाना कठिन है क्योंकि इसका आर-पार नहीं है।

पेम समुद जो अति अवगाहा। जहाँ न बार न पार न थाहा ॥

जायसी के 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम के साथ नागमती का विशुद्ध आदर्श गृहणी का प्रेम दिखाई देता है। दूसरी ओर अलाउद्दीन और पद्मावती के प्रेम का एक रूप 'पद्मावत' में मिलता है परन्तु अलाउद्दीन का प्रेम वासनात्मक और क्षणिक है। कवि जायसी ने प्रेम कहानी के माध्यम से प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। 'पद्मावत' में फ़ारसी प्रेमपद्धति के प्रेमाख्यानों की तरह प्रेम-पीर का गम्भीर एवं व्यापक निरूपण हुआ है। फ़ारसी प्रेमपद्धति में

होने के कारण 'पद्मावत' की पूरी कथा के बीच-बीच में आध्यात्मिक संकेतों की भरमार मिलती है। वे प्रेम का वह विशुद्ध रूप दिखाना चाहते हैं जो ईश्वरोन्मुख प्रेम की व्यंजना है।

1.4.08. सौन्दर्य-दृष्टि

प्रेमगाथा काव्य-परम्परा में जायसी का 'पद्मावत' अपना अद्वितीय स्थान रखता है। अलंकृत शैली में लिखित 'पद्मावत' कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही दृष्टि से उच्च कोटि का महाकाव्य है। इसमें जायसी ने इतिहास और कल्पना का सन्तुलित समन्वय स्थापित किया है।

जायसी की सौन्दर्य-दृष्टि व्यापक और विस्तृत है। 'पद्मावत' में वस्तु-वर्णन की व्यापकता है। सिंहलद्वीप वर्णन, नख-शिख खण्ड, समुद्र खण्ड, रत्नसेन-पद्मावती विवाह खण्ड, षटऋतु वर्णन खण्ड, नागमती वियोग खण्ड, पद्मावती-नागमती-सती खण्ड आदि में विस्तृत वर्णन मिलते हैं। नख-शिख वर्णन में जायसी जैसा वस्तु-वर्णन का रमणीय उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता है। हीरामन सुवा द्वारा रत्नसेन के सामने पद्मावती का नख-शिख वर्णन काव्य की दृष्टि से अनूठा होने के साथ-साथ अलौकिक सत्ता का दर्शन कराता है। वस्तु-वर्णन कौशल से जायसी ने इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना दिया है । इसके लिए जायसी ने घटना-चक्र के बीच उपयुक्त स्थानों का चुनाव किया है और उनका विस्तृत वर्णन भावपूर्ण पद्धति से किया है। सिंहलद्वीप वर्णन में जायसी ने सिंहलगढ़ के मानसरोवर का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। मानसरोवर का अतुल्य सौन्दर्य देखते ही बनता है। वह सागर के समान जल से परिपूर्ण है। उसका जल अमृत के गुण और कपूर की सुगन्धियुक्त है। इस जल में लाल कमल के फूल और मोतियों के भण्डार हैं। हंस मोती चुगते हुए जल क्रीड़ा करते हैं। उस सरोवर के चारों ओर वृक्ष छाए हुए हैं। वे भी अमृततुल्य फल देने वाले हैं। उस मानसरोवर के सौन्दर्य को देखकर मन तृप्त हो जाता है।

मानसरोवर बरनौ काहा। भरा समुद्र अस अति अवगाहा॥

पनिहारी वर्णन में निर्मल सरोवर में जल भरने आती पनिहारिनों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं कि शीश पर स्वर्ण-कलश रखे हुए बहुवर्ण वाणी सुन्दर पनिहारिनें जल भरने आती हैं। जिसकी पनिहारिनें इतनी सुन्दर हैं तो वह रानी पद्मावती कितनी सुन्दर होगी ? इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

माथे कनक गागरी आवहिं रूप अनूप।
जेहिं के अस पनिहारी सो रानी केहि रूप॥

जायसी ने रानी पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन पद्मावती रूप खण्ड में किया है। पद्मावती का सौन्दर्य सामान्य न होकर अलौकिक है। पद्मावती के सौन्दर्य-वर्णन में ईश्वर के सौन्दर्य को आरोपित किया गया है।

वह पदमिनि चितउर जो आनी। काया कुंदन द्वादसबानी॥
कुंदन कनक ताहि नहिं बासा। वह सुगंध जस कँवल बिगासा॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोमल, रँग पुहुप सुरंगा॥

ओहि छुइ पवन बिरिछ जेहि लागा। सोइ मलयागिरि भएउ सुभागा॥
काह न मूठी-भरी ओहि देही? असि मूरति केइ देउ उरेही?
सबै चितेरे चित्र कै हारे। ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे॥
कया कपूर, हाड सब मोती। तिन्हतें अधिक दीन्ह बिधि जोती॥

सुरुज-किरिन जसि निरमल, तेहितें अधिक सरीर।
सौंह दिस्ट नहिं जाइ करि, नैनन्ह आवै नीर॥

स्तुति खण्ड में निर्गुण-निराकार ईश्वर की व्यापकता, महिमा और सृजनशीलता की चर्चा हुई है। पद्मावती के रूप का वर्णन उसी ब्रह्म के व्यापक रूप का वर्णन है –

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥

* * *

सरवर रूप विमोहा हिये हिलोरहिं लेइ।
पाँव छुवे मकु पावौं एहि मिस लहरहिं देइ॥

यहाँ अलौकिक सौन्दर्यवती पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक है। रत्नसेन जीव का प्रतीक है। रत्नसेन को पद्मावती की प्राप्ति जीव को ब्रह्म की प्राप्ति है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसमें ब्रह्म की कान्ति विद्यमान है। पद्मावती की कान्ति समस्त सरोवर में प्रतिबिम्बित हो उठी है –

बिगसा कुमुद देखी ससिरेखा। भइ तहे ओप जहाँ जो देखा॥
पावा रूप रूप जस चहाँ। ससि मुख सहु दरपन होइ रहा॥

* * *

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगर हीर॥

जायसी की पद्मावती उस अनन्त सौन्दर्य का प्रतीक है इसलिए उसके सौन्दर्य में लोकोत्तर सौन्दर्य की अनुभूति होती है –

सरवर तीर पद्मिनी आयी। खोंपा छोरि केस मुकुलाई॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहां॥
बेनी छोरि झार जो वारा। सरग पतार होइ अंधियारा॥

उस परम सत्ता की सौन्दर्य कला से सारा संसार सुशोभित हो रहा है। पद्मावती जब पुतली फिराती है तो संसार डोलने लगता है, सागर उमड़कर आकाश को डुबोने लगता है –

जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ॥
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भँवर चक्र के जोरा॥
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा। सरग लाइ भुँइँ लाइ बहोरा॥

जायसी ने 'पद्मावत' में शृंगार वर्णन का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। कवि ने सम्पूर्ण सृष्टि का सौन्दर्य चुन-चुन कर नायिका में एकत्रित कर दिया है। जायसी की पद्मावती संसार की सबसे सुन्दर स्त्री है। जो भी उसे एक बार देख लेता है उसमें और कुछ भी देखने की इच्छा नहीं रह जाती।

पदमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देख घटि चंद समाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
पहुँचहि छपी कँवल पौनारी। जाँघ छपा कदली होइ बारी॥

पद्मावती के सौन्दर्य का चित्रण, नख-शिख वर्णन, पद्मावती रूप चर्चा खण्ड में चित्तौड़गढ़ वर्णन में किया गया है। जब अलाउद्दीन पद्मावती का प्रतिबिम्ब दर्पण में देखता है वहाँ उस छवि के कारण धरती से आकाश तक समस्त संसार स्वर्ण-वर्ण का हो जाता है –

विहसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साह दरपन में देखी॥
होतहिं दरस परम भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥

जायसी के 'पद्मावत' में विभिन्न स्थानों, यात्राओं और युद्ध के वर्णन भी बड़े प्रभावशाली हैं। षटऋतु – वर्णन और बारहमासे में प्रकृति का वर्णन संयोग-वियोग की अवस्थाओं से प्रेरित होने पर भी प्रकृति की विशेषताओं का अच्छा परिचय है। सात-समुद्र खण्ड में समुद्र का जैसा वर्णन जायसी ने किया है वैसा परवर्ती कवि भी नहीं कर पाए। जायसी की सौन्दर्य-दृष्टि समग्रता में दिखाई पड़ती है। उनके काव्य में शुष्कता केवल वहीं प्रतीत होती है जहाँ वे हठयोग, ज्योतिष ज्ञान आदि की विस्तृत चर्चा करते हैं अथवा वस्तुओं के प्रकारों का उबाने वाला उल्लेख करते हैं।

'पद्मावत' का विशेष महत्त्व प्रेमभाव के कारण है। प्रेम के लौकिक-अलौकिक दोनों तत्त्वों का समावेश इनके काव्य में हुआ है। 'पद्मावत' जैसे महाकाव्य की कल्पना जायसी ही कर सकते हैं। 'पद्मावत' मात्र कल्पना न होकर ऐतिहासिकता का भी परिचायक है। जायसी सिकंदर लोदी, इब्राहिम लोदी, बाबर, हुमायूँ तथा शेरशाह के समकालीन थे। इसीलिए इन ऐतिहासिक शासकों की प्रामाणिक जानकारी 'पद्मावत' में मिलती है। रत्नसेन, पद्मावती, अलाउद्दीन, नागमती भी ऐतिहासिक पात्र हैं जिनका चित्रण पद्मावत में हुआ है। राजा रत्नसेन-पद्मावती के संयोग द्वारा इन्होंने जीवन के माधुर्य को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। वैसे ही नागमती विरह वेदना

का मार्मिक चित्रण भी अनुभूतिपूर्व क किया गया है। संयोग-वियोग द्वारा ईश्वरीय प्रेम की व्यंजना करके कवि ने लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम से ऊपर रख दिया है। अलाउद्दीन दो सच्चे प्रेमियों के बीच आना चाहता है। जायसी ने उसके कुत्सित प्रयास की विफलता दिखाकर प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया है। कला, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य की दृष्टि से 'पद्मावत' महाकाव्य हिन्दी साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखता है।

1.4.09. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'पद्मावत' की कथा है –

(क) कल्पित और ऐतिहासिक
(ख) पौराणिक
(ग) लौकिक
(घ) आध्यात्मिक

2. जायसी की काव्यभाषा है –

(क) अरबी
(ख) फ़ारसी
(ग) उर्दू
(घ) अवधी

3. हिन्दी साहित्य में जायसी को प्रतिष्ठित करने का श्रेय किस विद्वान को प्राप्त है ?

(क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ग) विजयदेव नारायण साही
(घ) डॉ॰ नामवर सिंह

4. 'पद्मावत' को हिन्दी में अपने ढंग की अकेली ट्रेजिक कृति किस आलोचक ने कहा है?

(क) डॉ॰ नामवर सिंह
(ख) डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय
(ग) विजयदेव नारायण साही
(घ) डॉ॰ नगेन्द्र

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जायसी का जीवन परिचय दीजिए।
2. मसनवी शैली का वैशिष्ट्य समझाइए।
3. 'पद्मावत' में प्रयुक्त प्रतीकार्थ का परिचय दीजिए।
4. महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यानक काव्य और उनके नायक-नायिकाओं के नाम लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'पद्मावत' में वर्णित विरह-वेदना की समीक्षा कीजिए।
2. जायसी के रहस्यवाद को स्पष्ट कीजिए।
3. जायसी की सौन्दर्य-दृष्टि की विवेचना कीजिए।
4. 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम-व्यंजना पर प्रकाश डालिए।

1.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
3. विश्वम्भर 'मानव', प्राचीन कवि, लोकभारती प्रकाशन
4. प्रो॰ श्री राम शर्मा, प्राचीन काव्य, वाणी प्रकाशन
5. बाबू गुलाबराय, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन
6. जायसी, विजयदेवनारायण साही, हिन्दुस्तान अकेडमी, इलाहाबाद
7. हकायके हिन्दी, हजरत मीर सैयद अब्दुल वाहिद बिलग्रामी, अनुवादक – सैयद अतहर अब्बास रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी निर्गुण-काव्य

इकाई – 5 : 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व एवं लोकतत्त्व का निर्वहन

इकाई की रूपरेखा

1.5.0. उद्देश्य कथन
1.5.1. प्रस्तावना
1.5.2. फ़ारसी सूफ़ी काव्य
1.5.3. प्रमुख हिन्दी प्रेमकथाएँ
1.5.4. 'पद्मावत' में प्रेमतत्त्व
1.5.5. 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व
1.5.6. 'पद्मावत' में लोकतत्त्व
1.5.7. पाठ-सार
1.5.8. बोध प्रश्न

1.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. फ़ारसी सूफ़ी काव्य से अवगत हो सकेंगे।
ii. प्रमुख हिन्दी प्रेमकथाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
iii. 'पद्मावत' में प्रेमतत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
iv. 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व का वैशिष्ट्य जान सकेंगे।
v. 'पद्मावत' में उल्लिखित लोकतत्त्व को समझ सकेंगे।

1.5.1. प्रस्तावना

जायसी का 'पद्मावत' भारतीय एवं फ़ारसी काव्य-परम्परा के समन्वित रूप से निर्मित एक महाकाव्य है। यह अपने काल की एक ऐसी प्रबन्धरचना है जिसमें अर्थ साम्यता के कारण बड़े ही स्वाभाविक ढंग से कथा के माध्यम से लौकिक एवं लोकबन्धन से मुक्त दोनों बातें साथ-साथ दिखाई देती हैं। पद्मावत का अध्ययन करते समय पाठक एक अर्थ में दूसरे के आरोपित अर्थभाव को ग्रहण करता चलता है। 'पद् मावत' और 'रामचरितमानस' में यह तथ्य बखूबी दिखाई देता है कि महाकाव्यों में उद्देश्य-प्राप्ति के लिए रूपक के बड़े फलक को ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत पाठ में 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व एवं लोकतत्त्व के निर्वहन पर तथ्यात्मक चर्चा की जाएगी।

1.5.2. फ़ारसी सूफ़ी काव्य

सूफ़ी सम्प्रदाय के पूर्णरूपेण स्थापित होने के बाद उसमें सूफ़ी मतानुसार अनेक मसनवियाँ लिखी गईं। इन प्रेमाख्यानकों में अरब और फ़ारस की प्रसिद्ध लोककथाएँ थीं। कुछ कथाओं में निजामी का प्रभाव था। ख़ुसरो ने भी पाँच मसनवियाँ लिखी। फ़ारसी के सूफ़ी कवि जामी ने निजामी और ख़ुसरो से प्रभावित होकर पाँच मसनवियाँ लिखीं। यह क्रम निरन्तर जारी रहा परिणामतः हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यान भी फ़ारसी मसनवियों से प्रभावित होकर लिखे गए। फ़ारसी मसनवियाँ प्रचलित प्रेम कथाओं पर लिखी गईं और उनके द्वारा सूफ़ी मत का प्रतिपादन किया गया।

सूफ़ी कवियों ने विशुद्ध प्रेम पर बल देते हुए स्त्री-पुरुष के प्रेम को ईश्वरीय प्रेम की तरह पवित्र माना। लौकिक प्रेम को नश्वर मानते हुए अलौकिक प्रेम की बात कर प्रेम को अमरत्व प्रदान किया। फ़ारसी सूफ़ी कवियों ने आत्मा की अमरता, जीवन की नश्वरता, त्याग, आत्म-समर्पण आदि को महत्ता प्रदान की। इन्होंने अशरीरी प्रेम को शुद्ध माना और वासना को पूर्णतया निषिद्ध किया। सूफ़ी काव्य में नायक के प्रेम में अत्यधिक तड़प और संवेग दिखाई पड़ता है। इनमें नायिका का विवाह प्रेमी से न होकर अन्य किसी व्यक्ति से होता है। यहाँ प्रेमी का जीवन कष्टप्रद और आदर्शवादी होता है। सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में कहीं-कहीं मांसल प्रेम भी दिखाई पड़ता है।

1.5.3. हिन्दी प्रेमकथाएँ

अमीर ख़ुसरो के लगभग पचास वर्ष बाद हिन्दी में सूफ़ी काव्य-रचना प्रारम्भ हुई। हिन्दी के प्रमुख प्रेमाख्यान निम्नलिखित हैं –

i. असाइत-कृत हंसावली (1370 ई.) (यह हिन्दी प्रथम सूफ़ी काव्य है।)
ii. मुल्ला दाउद द्वारा रचित चंदायन (1379 ई.),
iii. दामोदर-कृत लखमसें पद्मावती कथा (1459 ई.)
iv. कुतुबन की मृगावती (1503 ई.)
v. गणपति-कृत माधवानल कामकंदला (1527 ई.)
vi. जायसी-कृत पद्मावत (1540 ई.)
vii. मंझन-कृत मधुमालती (1545 ई.)
viii. उसमान रचित चित्रावली (1613 ई.)

दक्षिण भारत में भी प्रेमाख्यान रचे गए। जैसे, मसनवी कदमराव पदमराव, मुल्ला वजही क़ुतुब मुश्तरी (1610 ई.) नुसरती की गुलशने इश्क (1658 ई.) निशाती-कृत फूलबन (1665 ई.) आदि।

भारतीय काव्य-परम्परा में वैदिक-पौराणिक प्रेमकथाएँ वर्णित हुई हैं। संस्कृत साहित्य के बाद पालि, प्राकृत, अपभ्रंश की प्रेमकथाओं पर ऐतिहासिकता और कल्पना का प्रभाव है। सर्वप्रथम जैन रचनाकारों ने

चरितकाव्यों द्वारा अपने धर्म का प्रचार किया। भारतीय साहित्य में नायिकाओं को प्रायः कोमल, संवेदनशील, सहिष्णु और पतिव्रता के रूप में चित्रित किया गया है। लेकिन फ़ारसी प्रेमकथाओं में नायकों को सच्चे प्रेमी, सहिष्णु, संवेदनशील और एकनिष्ठ प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। लैला-मजनू प्रेमकथा में मजनू एकनिष्ठ प्रेमी है। शिरी-फरहाद में फरहाद का शिरी के प्रति एकनिष्ठ प्रेम है। फ़ारसी नायकों के लिए उनकी प्रेमिकाएँ ही उनकी प्रेरणा, साधन और साध्य हैं। भारतीय सूफ़ी प्रेमाख्यानों में शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण किया गया है। किन्तु फ़ारसी सूफ़ी प्रेमाख्यानों में केवल वियोग पक्ष का ही चित्रण है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने फ़ारसी सूफ़ी काव्य के कुछ आदर्शों को जरूर अपनाया किन्तु प्रायः सभी कवियों ने कथावस्तु का चयन भारतीय प्रेमकथाओं से ही किया। मात्र फ़ारसी मसनवी शैली को छोड़कर प्रेमाख्यान विशुद्ध भारतीय हैं। 'फन' शब्द बौद्धों के निर्वाण की प्रतिध्वनि थी जो सूफ़ी दर्शन में 'फना' की अवधारणा है। आचार्य शुक्ल ने सूफ़ी को नवधा भक्ति के समान माना है। उस पर वेदान्त का भी प्रभाव है। मंसूरअल हल्लाज का 'अनहलक' भारतीय वेदान्त का 'अहं ब्रह्मास्मि' ही है।

फ़ारसी प्रेमाख्यानों में 'बारहमासा' का उल्लेख नहीं मिलता है। 'पद्मावत' में नागमती का वियोग-वर्णन पूर्णतः लोककाव्य बारहमासा की तरह रचा गया है। प्रबन्धकाव्य में बारहमासा का प्रयोग पूरी तरह भारतीय है। 'पद्मावत' की आलोचना दो भागों में विभाजित करके की जाती है। रत्नसेन की सिंहलद्वीप यात्रा से लेकर पद्मिनी के साथ पुनः चित्तौड़ लौटने तक पूर्वार्द्ध और राघवचेतन के निकाले जाने से लेकर पद्मावती के सती होने तक उत्तरार्ध। 'पद्मावत' की पूर्वार्द्ध की कथा लोक गाथाओं जैसी है। 'पद्मावत' मानवीय प्रेम, करुणा, उत्साह और त्रासदी को निरूपित करने वाला काव्य है। विजयदेव नारायण साही के अनुसार 'पद्मावत' एक त्रासदी की रचना है। यह प्रेम और युद्ध की कविता है जिसके केन्द्र में मनुष्य है।

1.5.4. 'पद्मावत' में प्रेमतत्त्व

जायसी के 'पद्मावत' को समझने के लिए प्रेमतत्त्व को समझना आवश्यक है। प्रेम की उदात्तता में प्रिय से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ भी प्रिय लगने लगती हैं। प्रिय की ओर जाने वाला मार्ग भी प्रिय है इसलिए उस मार्ग पर पैर रखकर नहीं सिर को पैर बनाकर चलेगी।

वह पथ पलकन्ह जाइ बोहौरौ। सीस चरण कै चलौ सिधारौ॥

रत्नसेन-पद्मावती का प्रेम विषम से सम की ओर प्रवृत्त हुआ है। प्रेम जब चरमोत्कर्ष पर होता है तो प्रेम करने वाले का हृदय दुःख की अनुभूति से परे हो जाता है। प्रेम की पहचान यही है कि दृष्टि निर्मल हो जाती है, हृदय भव्य एवं मन उदार हो जाता है। जब जीव अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है तब मस्त मलंग रहता है। यही सूफ़ी प्रेम की विशेषता भी है –

सहसौ करा रूप मन भूला। जहँ जहँ दीठ कँवल जनु फूला॥
तहाँ भवँर जिउ कँवला गंधा। भइ ससि राहु केलि रिनि बंधा॥

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥

1.5.5. 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व

'पद्मावत' का रूपकतत्त्व सूफ़ी दर्शन से प्रभावित है। जायसी ने कबीर आदि सन्तों के रहस्यवाद को रूपकों के माध्यम से सहज और बोधगम्य बना दिया है। रहस्यवाद आत्मा की वह स्थिति है जब वह बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर भावनामय लोक में पहुँच जाती है, जहाँ वह अपने और परमात्मा के बीच एकरूपता का अनुभव करने लगती है और उसे एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। ठीक यही दशा प्रेम की भी होती है। प्रेमी युगल एकरूप होकर एक अलौकिक आनन्द में डूब जाते हैं। यही आनन्द कबीर के यहाँ 'गूंगे का गुड़' कहलाता है। इस मामले में जायसी कबीर से कहीं अधिक स्पष्ट हैं क्योंकि इस प्रकार के वर्णन में 'पद्मावत' के रूपक अर्थ प्रदान करने में सहायक होते हैं। वहाँ अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। सूफ़ी काव्य में प्रेमिका परमात्मा का रूप है और प्रेमी आत्मा का। जायसी ने अपनी प्रेमकथा में पद्मावती को परमात्मा के रूप में और रत्नसेन को आत्मा के रूप में कल्पित करके अनेक लौकिक प्रसंगों से अलौकिक पक्ष का संकेत किया है। जायसी ने जगत् के समस्त पदार्थों को ईश्वरीय छाया से उद्भावित कहा है। उनके काव्य में समस्त प्रकृति उस प्रियतम के समागम के लिए उत्फुल्ल-उत्कंठित दिखाई देती है। पद्मावत का प्रेमखण्ड रहस्यवाद का सुन्दर निदर्शन है। नख-शिख वर्णन तथा अन्य वर्णन भी रहस्यवादी प्रकृति लिए हुए हैं।

रत्नसेन हीरामन तोते द्वारा पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन सुनकर बेसुध हो जाता है। यह परम ज्योति के आनन्द की अवस्था की अनुभूति है जिसके भंग होने पर उसे ऐसा लगता है जैसे वह बावला हो गया हो। वह नवजात शिशु के समान रोता हुआ कहता है, मैंने ज्ञान खो दिया। अमरपुर से पुनः मृत्युलोक में कैसे वापस आ गया!

हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ॥

जायसी ने प्रकृति के कण-कण में परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य की झलक देखी है –

जहँ जहँ बिहसि सुभावाहिं हँसी। तँह तँह छिटकि जोति परगसी॥

जायसी का मानना है कि परमात्मा हृदय में निहित हैं बस उसे दर्शन कराने वाले की आवश्यकता है –

पिउ हिरदय मैंह भेट न कोई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

जिस दिन से जीव को उक्त रहस्य का ज्ञान होता है उसी दिन से वह विरह ज्वाला में दग्ध होने लगता है। जायसी जैसी तीव्र विरहानुभूति कम कवियों में पायी जाती है। प्रेम में ही प्रियतम निवास करता है।

प्रेमहि माँह बिरह सरसा। मेन के घर वधु अमृत बरसा॥

इस विरह की चरम अनुभूति मानस में दिखाई देती है। मानस के भीतर उस प्रियतम के सामीप्य से उत्पन्न कैसे अपरिमित आनन्द और विश्वव्यापी आनन्द की व्यंजना जायसी की इन पंक्तियों में हुई है –

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसिछूटी। भा भिनसार किरिन रवि फूटी॥
कँवल बिगस तत बिहँसी देही। भँवर दसन होइ कै रस लेहीं॥ –

कवि ने 'पद्मावत' के अन्त में लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना का आभास कराया है –

तन चितउर मन राउर कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥

जायसी की भावुकता उच्च कोटि की है। साधनात्मक रहस्यवाद में योग की नौ पौरी आदि का वर्णन है जो शुद्ध भावनात्मक रहस्य है। कथा के बीच-बीच में समासोक्ति द्वारा कई स्थलों पर परोक्ष सत्ता का सुन्दर संकेत किया गया है। इसके लिए बाह्य जगत् मिथ्या और माया का प्रतीक है। जायसी ने आत्मा को रत्नसेन और पद्मावती, जिसे परमात्मा माना है, को पत्नी रूप में कल्पित किया है। जायसी के रहस्यवाद में मिलानातुरता और तड़प दोनों है। जायसी का आराध्य आराधक के लिए उतना ही तड़पता है जितना कि आराधक स्वयं। और इसका कारण है जायसी के हृदय की प्रशस्त द्रवणशीलता।

सम्पूर्ण 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व को ढूँढना व्यर्थ होगा किन्तु वस्तुवर्णन में कवि ने कई प्रसंगों में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ का भी बोध अनायास ही हो जाता है। यथा, सिंहलगढ़ वर्णन के प्रसंगों में नौ पौरी तथा दसवें दरवाजे वाले नगर का संकेत पाठक को अपने नौ छिद्रों तथा दसवें ब्रह्मरंध्र वाले शरीर का बोध करा देते हैं। दिल्ली परलोक में है। अर्थयुक्त करने की इसकी पद्धति को समासोक्ति पद्धति कहा जाता है। समासोक्ति एक अलंकार है जिसमें समान विशेषणों के बल पर अप्रस्तुत और प्रस्तुत की योजना की जाती है। 'पद्मावत' की कथा को प्रस्तुत मानकर व्यंग्य द्वारा आध्यात्मिक अर्थ लगाया जाता है। अर्थविपर्यय संकेतों के माध्यम से होता है। परन्तु जायसी का उद्देश्य इस कृति के माध्यम से मात्र आध्यात्मिकता का प्रतिपादन करना नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि काव्य के अन्त में 'तन चितउर मन राउर कीन्हा' का जो संकेत है वह मूल ग्रन्थ का नहीं है।

जायसी के काव्य में प्रधानतः रसराज शृंगार है। 'पद्मावत' में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अच्छा परिपाक हुआ है किन्तु प्रधानता वियोग पक्ष की है। नागमती के माध्यम से वर्णित विप्रलम्भ शृंगार इनके अक्षय यश का एक आलोक-स्तम्भ है। इस क्षेत्र में इनकी समता कदाचित ही कोई हिन्दी कवि कर सके। इसमें विरहजनित विलक्षण प्रेम और हृदय की कोमल वेदना का मणि-कांचन योग है। इस विरह-वेदना की तीव्रता इतनी

है कि जड़ एवं चेतन दोनों द्रवित हो जाते हैं । नागमती के अश्रुओं में भीगी लाल आँखों के समान सारी प्रकृति ही लाल हो गई है –

भा बसन्त, रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥

आचार्य शुक्ल के अनुसार जायसी का मुख्य लक्ष्य है कि एक प्रबन्धकाव्य के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े । क्या संयोग, क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है । जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं । वियोग पक्ष में कवि जब लीन होता है तब सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सब उसी परम विरह में जलते और चक्कर लगाते दिखाई देते हैं । प्राणियों का लौकिक वियोग जिसका आभास मात्र है –

बिरह के आगि सूर जरि काँपा। रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥

इस शुद्ध भाव क्षेत्र में अग्नि, पवन इत्यादि सब उस प्रिय (ईश्वर) के पास तक पहुँचने में व्यस्त हो जाते हैं । सारी सृष्टि उसी भाव में लीन होने के लिए बढ़ती हुई दिखाई देती है । साधना पूरी होने पर वहाँ तक पहुँचा जा सकता है –

धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र, भएउ दुइ आधा॥
पवन धाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस, लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि उठा निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ भुइँ चूआ॥

लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते-करते कवि की दृष्टि किस प्रकार उस परम सौन्दर्य की ओर जा पड़ती है, यह रूप सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत दिखाई देता है । उस परम सौन्दर्य की झलक मानों सृष्टि के वृक्ष, वल्ली, पशु, पक्षी, पृथ्वी, आकाश सबको मिली हुई है । सबके हृदय में मानों उसकी दृष्टि गड़ी हुई है । सब उसके विरह में मग्न हैं –

बरुनी का बरनौ इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि कै हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुष तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥

बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

सृष्टि के नाना पदार्थ रूप, रस, गंध आदि का जो विकार करते दिखाई पड़ते हैं, सौन्दर्य और माधुरी धारण करते दिखाई देते हैं, मानों वे सभी उस अनन्त सौन्दर्य के समागम की अभिलाषा से, उसके पात तक पहुँचने की आशा से ही करते हैं। रत्नसेन को पद्मावती तक पहुँचाने वाला प्रेमपंथ जीवात्मा को परमात्मा से मिलाने वाला स्थूल आभास है । पद्मिनी चैतन्यस्वरूप परमात्मा है। उससे मिलाने वाला सद्गुरु सुवा है । मिलन में बाधा नागमती-संसार जाल का रूप है। तप रूपी चित्तौड़गढ़ का राजा मन है। राघव-चेतन शैतान है जो प्रेम को भटकाता है। माया में डूबा सुलतान अलाउद्दीन है। 'पद्मावत' के अन्त में जायसी ने कह दिया है –

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि, पदमिनी चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

राजा रत्नसेन जब दिल्ली में कैद हो गए तो रानी पद्मावती विलाप करती हुई जो कहती है वह भी रूपक है –

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै सँदेसू॥
जो गवनै सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा॥

यहाँ 'कोई किछु जान न' और 'बहुरि न आवा' को दिल्ली गमन में परलोक गमन के व्यवहार का और 'जो आवै किछु जान न सोई' अर्थात् इस पृथ्वीलोक पर वहाँ से आने वाला आकर वहाँ के विषय में कुछ बताता नहीं है। अन्त में कबीर के सदृश्य कि, "कस्तूरी कुंडल बसै मृग ढूँढे बन माहिं" जायसी भी कहते हैं – "पिउ हिरदय महुँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई॥"

यहाँ प्रिय मिलन की आतुरता के साथ-साथ भावपक्ष में भी भावव्यंजना व्यक्त की गई है। प्रेम चाहे ईश्वर से हो या मनुष्य से प्रेम की दशाएँ तो वही रहेंगी। एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर वस्तुव्यंजना द्वारा हम पहुँच जाते हैं। राजा का पद्मिनी से प्रेम जिस आतुरता और व्याकुलता के साथ है वह भगवत प्रेम से कम नहीं है। प्रबन्ध के भीतर ये सारे वाक्य प्रस्तुत प्रसंग का वर्णन करते हैं परन्तु इनमें परलोकयात्रा का अर्थ भी व्यंग्य है। सारांश यह है कि यहाँ वस्तु ही अंग है और भाक्व्यंजना का विधान पक्षद्वय में पृथक्-पृथक् माना जाएगा । अर्थसादृश्य के कारण ही रूपकतत्त्व और लोकतत्त्व का निर्वहन हुआ है। इसलिए पद्मावत वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ सादृश्य होने के कारण पाठक बिना विधान के अर्थ बोध ग्रहण करता जाता है।

"जो यह खीर समुद मँह परे। जीव गँवाइ हँस होई तरे।" यहाँ शब्द का ही दोहरा अर्थ है। हँस यानी एक पक्षी और उपाधिमुक्त शुद्ध आत्मा भी। इसी प्रकार 'नैहर' शब्द है एक अर्थ है, गांवां घर और दूसरा अर्थ है, यह मृत्युलोक। मानसरोवर जलराशि एवं मन के भीतर की दुनियाहै। ससुराल का अर्थ परलोक से भी है।

1.5.6. 'पद्मावत' में लोकतत्त्व

जायसी रचित 'पद्मावत' एक श्रेष्ठ काव्य-कृति है। इसमें भारतीय और फ़ारसी काव्य-परम्परा के साथ लोक-कथात्मक रूप का भी दर्शन होता है। प्रचलित लोककथा और ऐतिहासिक कथा के ताने-बाने से जायसी ने पद्मावत की कथा की बुनावट की है। इसमें लोककथा अधिक है और इतिहास कम। लोककथा के आधार पर रचे गए इस प्रबन्धकाव्य का मुख्यतत्त्व इसमें विद्यमान लोक-जीवन है। लोकगाथा के रूप में 'पद्मावत' एक साहित्यिक कृति है जिसमें लोककाव्य की समूची विशेषताएँ सन्निहित हैं। इसी रागात्मकता के कारण एक प्रेमाख्यान के रूप में 'पद्मावत' निस्संदिग्ध रूप से सफल महाकाव्य है।

प्रायः सभी देशों में रचित साहित्य में अन्य विषयों की अपेक्षा शृंगार-आधारित रचनाएँ अधिक लिखी गई हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में तो शृंगाररस को रसराज कहा गया है। प्रेम एक शाश्वत तत्त्व है जिसके आधार पर सामाजिक ढाँचे का ताना-बाना बुना गया है। यह स्वस्थ सामाजिकता का परिचायक है। प्रेम जीवन भी कहा गया है। प्रेम के कारण ही जीवन-मूल्य विकसित हुए हैं। साहित्य में शृंगार-वर्णन प्रेम के इसी तत्त्व जीवन-मूल्य को बनाए रखने की कोशिश होती है।

भारतीय काव्य-परम्परा में रचनाकार और पाठक दोनों ही दृष्टि से प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। भक्ति में मधुरा भक्ति को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। सूफ़ी कवियों की साधना का आधार ही प्रेम (रति) है। उन्होंने 'मजाजी' प्रेम को 'हकीकी' प्रेम में बदल दिया। हिन्दी साहित्य में उदात्त प्रेम की उपस्थिति पूर्व से ही थी। चाहे वह नल-दमयन्ती कथा हो, उषा-अनिरुद्ध प्रेमकथा हो या शकुन्तला-दुष्यन्त का प्रेम हो। इन सबमें प्रेम का सहज और प्रांजल रूप दिखाई देता है। संस्कृत काव्य के पुरोधा कालिदास से लेकर प्राकृत के पादलिप्त सूरि और अपभ्रंश के धनपाल तथा अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) आदि कवियों ने विशुद्ध प्रेमकथाएँ लिखीं। इन्हीं कवियों ने प्रेम को अमरता प्रदान की। हालाँकि प्राकृत प्रेमकथाएँ जैन कवियों द्वारा धर्म-प्रचारार्थ लिखी गईं। कई विद्वानों का मानना है कि उनके काव्य चरितकाव्य अधिक हैं और प्रेमाख्यान कम। कतिपय अपवादों को छोड़कर चाहे सूफ़ी हो या गैर-सूफ़ी, प्रेमकाव्य इन्हीं पूर्व प्रचलित प्रेमकथाओं को आधार बनाकर लिखे गए। सूफ़ी प्रेमाख्यान के पूर्व प्रसिद्ध प्रमुख प्रेमकथाएँ निम्नलिखित हैं – अभिज्ञानशाकुन्तलम् (कालिदास), नैषधीयचरितम् (श्रीहर्ष), माधवानल कामकंदला चरित्र (कुशललाभ), तरंगवई (पादलिप्त सूरि), लीलाबाई (कौउहल), मलय सुन्द्री (अज्ञात), भविसयत्त कथा (धनपाल), णायकुमार चरिउ (पुष्पदंत), सुदंसण चरिउ (नयनंदी), करकंडू चरिउ (मुनि कनकामर), उपमसिरि चरिउ (धाहिल), सन्देशरासक (अद्दहमाण), नेमिनाथ चउपई (विनयचन्द्र सूरि) आदि।

'पद्मावत' में लोकगाथा और इतिहास का समावेश है। इसमें जायसी का लोकसम्बन्धी दृष्टिकोण भी प्रकट होता है। 'पद्मावत' की कथा एक राजा की कथा है जो लोकगाथाओं में प्रचलित थी। इस प्रेमकहानी का नायक रत्नसेन चित्तौड़गढ़ का राजा है, नागमती रानी है और पद्मावती प्रेमिका है। पद्मावती गंधर्वसेन सिंहलद्वीप के राजा की पुत्री है और अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का बादशाह है। यद्यपि कथानक राजन्य वर्ग का है परन्तु परिवेश लोक का ही है जहाँ कवि की उपस्थिति विलक्षण है। जायसी को जहाँ भी अवसर मिला उन्होंने

लोकजीवन की सुन्दर छवि प्रस्तुत की। राजा हो या रानी प्रेम की दशा में दोनों को एक साधारण धरातल पर उतरना पड़ता है। प्रेम में राजा को भी योगी बनना पड़ता है। प्रेम ने रत्नसेन को राजा से योगी बना दिया –

सुऐ कहा मन बूझहू राजा। करब पिरीत कठिन है काजा॥

प्रेम का पथ कठिन है। वहाँ अहंकार का त्याग करना पड़ता है। अहं त्यागने पर सभी सामान्य धरातल पर आ जाते हैं। कबीर ने भी प्रेम के विषय में कहा है –

प्रेम न बारी उपजै, प्रेम न हात बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै, सीस देइ लेइ जाय॥

प्रेम के यहाँ राजा-प्रजा दोनों एक समान हैं। घनानन्द ने तो स्पष्ट कहा है कि प्रेम मार्ग अत्यन्त सीधा है, वहाँ कुटिल और सयाने लोग नहीं चल सकते। यह मार्ग निश्छल लोगों का है, इसमें जरा सा भी बाँकपन नहीं चलता। राजा या सत्ताधीश जब तक सत्ताभिमानरहित नहीं हो जाता तब तक प्रेम कर ही नहीं सकता। जायसी अपनी उक्ति को 'पद्मावत' में चरितार्थ करने में सफल हुए और उन्होंने रत्नसेन को सत्ताच्युत करने के पश्चात् ही प्रिय-मिलन करवाया। पद्मावती स्वयं एक सामान्य स्त्री की भाँति शिवमन्दिर में मन्नत माँगती है कि अगर मेरे योग्य वर मिल जाएगा और मेरी इच्छा पूरी हो जाएगी तो मैं आपकी पूजा करूँगी। पद्मावती के संग उसकी सखियाँ भी गई हैं जो समाज के हर वर्ग और हर जाति की हैं। नागमती वियोगखण्ड में तो नागमती का पूरा व्यक्तित्व ही एक सामान्य स्त्री की तरह चित्रित किया गया है।

जायसी के पद्मावत में लोककथा-तत्त्वों की भरमार है। यत्र-तत्र लोक-जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है। सिंहलद्वीप की पनिहारिन स्त्रियों का चित्रण इतना सजीव है कि पाठक के समक्ष समूचा दृश्य चलचित्र की भाँति घूम जाता है। वे स्त्रियाँ सुन्दर हैं, पद्मिनी हैं। उनकी नजर जिस पर पड़ती है मानों नैनों की कतार गिर पड़ती हो। इनके सिर पर स्वर्ण-कलश हैं और यह अत्युक्ति नहीं है। भारतीय लोकपरम्परा में सामान्य से सामान्य स्त्री अपने प्रिय को सोने की थाली में जेवना परोसती है और सुराही से गंगाजल पिलाती है। इस लोक-परम्परा में सेज भी फूलों की ही बिछाई जाती है। इन पनिहारिन स्त्रियों के सौन्दर्य-वर्णन में कवि ने एक बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला है कि जिसकी पनिहारिनें इतनी सुन्दर हैं वह पद्मावती कितनी सुन्दर होगी। वस्तुतः इनके रूप-सौन्दर्य के माध्यम से पद्मावती के रूप-माधुरी को दिखाना चाहा है। विवाह के अवसर पर हल्दी लगाने की रस्म का सुन्दर चित्रण किया गया है। राजकुमारियों को तो चन्दन-केसर का लेप लगाया जाता है लेकिन इस वर्णन में लोक-प्रभाव दिखाया गया है। तत्पश्चात् विवाह का पूरा दृश्य भारतीय पारम्परिक ढंग से दर्शाया गया है। बरात को देखने के लिए स्त्रियाँ अपनी-अपनी अटारियों पर चढ़ गई हैं और बरात के साथ दूल्हे को देखती हैं। पद्मावती भी जोगी को दूल्हे के वेश में देखने के लिए सखियों के साथ कोठे पर चढ़ जाती है और पूछती है इस बरात में वह जोगी कहाँ है ? इसका उत्तर बड़ी चतुरतापूर्वक एक सखी देती है कि प्रभातकालीन सूर्य की भाँति बरात के बीच में छत्र दिखाई दे रहा है, उसी में दूल्हा है–

जस रबि, देखु, उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता॥
ओहिं मांझ भा दूलह सोई। और बरात संग सब कोई॥

'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड में वह वर्णन लोकदृश्य में परिवर्तित हो जाता है। मायके की यह स्वच्छन्दता ससुराल में नहीं रहेगी। स्वच्छन्दता के दिन बीत जाने का जो भय और आशंका यहाँ व्यक्त हुई है, वह लोकतत्त्व से परिपूर्ण है। यह भारतीय लोकमानस का, विशेष रूप से भारतीय स्त्रियों का, सुपरिचित परिदृश्य है। साधारण घरों में ससुराल में स्त्रियों पर अनेक बन्धन होते हैं और अनेक निषेधों के बीच जीवन जीने की विवशता होती है। इस दशा का चित्रण अनेक लोकगाथाओं और लोकगीतों में विद्यमान है। इसी कारण ससुराल जाते समय स्त्रियों की आँखों में आँसू आ जाते हैं। विशेष रूप से बचपन की सखियों से बिछड़ने का दुःख रहता है। मायके में स्वच्छन्द रूप से जीने के बाद बन्धनों की शृंखला में जकड़ जाने की मनोदशा का मार्मिक वर्णन 'पद्मावत' में हुआ है। ससुराल के निषेधों के आगे मायके का सुख सपने की भाँति हो जाएगा –

नैहर आइ काह सुख देखा? जनु होइगा सपने कर लेखा॥
राखत बारि सो पिता निछोहा। कित बियाहि अस दीन्ह बिछोहा॥

हिये आइ दुख बाजा, जिउ जानहु गा छेंकि।
मन तेवान कै रोवै, हर मंदिर कर टेकि॥

पुनि पदमावति सखी बोलाईं। सुनि कै गवन मिलै सब आईं॥
मिलहु, सखी! हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥
सात समुद्र पार वह देसा। कित रे मिलन, कित आव सँदेसा॥
अगम पंथ परदेस सिधारी। न जनौं कुसल कि बिथा हमारी॥
पितै न छोह कीन्ह हिय माहाँ। तहँ को हमहिं राख गहि बाहाँ?
हम तुम मिलि एकै सँग खेला। अंत बिछोह आनि गिउ मेला॥
तुम्ह अस हित संघती पियारी। जियत जीउ नहिं करौं निनारी॥

पद्मावत में युद्ध-वर्णन है। वह भारतीय जीवन का नग था। अपनी मान-मर्यादा और सीमाक्षेत्र की रक्षा में योद्धा युद्ध पर जाते रहे हैं। बादल को भी युद्ध में जाना है। उसकी नवी-नवेली नवविवाहिता उसकी ओर देख रही है और सोच रही है कि इस समय क्या करना चाहिए, वह असमंजस में है। लज्जावश चुप रहने में पिय चले जाएँगे और बोलने पर ढींठ कहलाउँगी –

रहौं लजाइ त पिउ चलै, गहौं त कह मोहिं ढीठ।

अन्त में वह कर्त्तव्यनिष्ठ स्त्री की भाँति बादल को क्षात्र धर्म की याद दिलाते हुए कहती है कि तुम युद्ध का सामना साहस के साथ करो। मैं सती का मान धारण करती हूँ। हम दोनों का मिलन जय-पराजय की दशा में ही सम्भव है। रण में पीठ दिखाने से मैं तुमसे नहीं मिलूँगी। यह कथन भारतीय स्त्री के लोकमानस को दर्शाता है। इस प्रसंग में राजपूतों का लोकजीवन, लोकमानस सामने उभरकर आता है। वह भी एक जीवन का उत्सर्ग ही है जहाँ

स्त्री स्वयं को सती बनाने के लिए तैयार करती है और पति को मातृभूमि की मर्यादा की रक्षा में प्राण देने की प्रेरणा देती है। फ़ारसी कवियों के लिए ये प्रसंग निश्चित रूप से अद्भुत प्रेरणास्रोत रहे होंगे।

पद्मावत राजन्य वर्ग और सामान्य वर्ग के जीवन के आवागमन की कथा है। बादल की पत्नी क्षत्राणी धर्म का पालन करती है वहीं मानसरोदक खण्ड में पद्मावती सामान्य स्त्री की भाँति स्वच्छन्दता छिन जाने का भय व्यक्त करती है। सिंहल द्वीप का हाल तो अत्यन्त स्वाभाविक एवं लोकजीवन से जुड़ा है। यद्यपि पद्मावत महाकाव्य है और इसमें महाकाव्यत्व के सभी गुण विद्यमान हैं इसलिए इसमें लोकजीवन का प्रत्यक्ष वर्णन कम हुआ है किन्तु जितना भी हुआ है वह सहज स्वाभाविक और मार्मिक है।

पद्मावत की कथा-रचना लोकप्रचलित कथा और ऐतिहासिकता के सम्गुंफन से हुई है इसलिए इसमें लोकजीवन के विश्वास और परम्पराएँ अनायास ही समाहित हो गई हैं। यह सिद्ध करता है कि जायसी की भारतीय लोक-जीवन में गहरी पैठ है। भारतीय लोकमानस में कथा के कई रूप किस्सा, कहानी, वृत्तान्त प्रचलित हैं। जायसी पद्मावत के माध्यम से एक ऐसी प्रेमकथा लिखना चाहते थे जिसमें उच्चतम मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सकती हो। "प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।" जायसी फ़ारसी और भारतीय परम्परा में गहरी पैठ रखते थे। इनके विषय में कई प्रचलित किंवदन्तियाँ हैं जो उच्चरित करती हैं कि किंवदन्तियाँ अत्युक्तियाँ भले ही हों परन्तु निराधार नहीं हुआ करतीं। जायसी बहुश्रुत भी थे। उनका भारतीय शास्त्रों जैसे ज्योतिष, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान विधिवत न सही, पर ध्यानपूर्वक सुना हुआ ज्ञान अवश्य था। जायसी इस सृष्टि की नश्वरता से परिचित थे। संसार के एक से एक राजा चले गए, सौन्दर्यमूर्ति नायिकाएँ भी काल के गाल में चली गईं। शेष बस उनकी कहानियाँ ही रह गईं। ये कहानियाँ ही जीवन-मूल्य रूप में रह गईं जो अनश्वर और अमिट हैं। जायसी का कथाओं के प्रति विश्वास जीवन और शास्त्र दोनों के अनुकूल है। जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि शास्त्र लोकजीवन के अनुकूल हैं। जहाँ शास्त्र ऐसा करने में समर्थ नहीं होता नया युग दस्तक देने लगता है। 'पद्मावत' में यह सामंजस्य अद्वितीय है। इसमें इतिहास की अपेक्षा लोकप्रचलित कथा को अधिक महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि नागमती का अभावग्रस्त जीवन तत्कालीन लोकजीवन का परिदृश्य दर्शाता है। वह एक सामान्य स्त्री की भाँति व्यवहार करती है। उसकी चिन्ताएँ भी जन-सामान्य जैसी हैं। पद्मावती का दुःख एक विवश स्त्री जैसा है जिसका प्राण तोते में बसता है। उसके उड़ जाने पर वह लाचार हो जाती है – "उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।" यह एक सामान्य धरातल पर रहने वाली स्त्री का दर्द है।

भारत ग्रामप्रधान देश है। भारतीय सन्दर्भ में ग्राम्य जनजीवन को छोड़कर शास्त्र की रचना करना अनौचित्यपूर्ण है। इसीलिए जायसी ने ठेठ अवधी भाषा में लोकप्रचलित कथा को अपने महाकाव्य की विषयवस्तु बनाया। भारतीय स्त्रियों को स्वतन्त्र रहने का नियमबद्ध अधिकार है। थोड़ी-बहुत स्वच्छन्दता मायके में अवश्य मिलती है लेकिन ससुराल की स्थिति बड़ी मार्मिक है। ससुराल में स्त्री की इच्छा-अनिच्छा का कोई महत्त्व नहीं होता। सास-ननद बात-बात पर ताने मारती हैं। ससुराल से मायके आना भी ससुराल वालों की इच्छा पर निर्भर करता है। इस लोक-मान्यता और स्त्रियों के कटु यथार्थ को जायसी ने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है–

ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देहीं॥

पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह॥

पद्मावत का समूचा रूपविन्यास लोककथात्मक है। इसमें उनकी भाषा का भी उतना ही योगदान है। पद्मावत की बुनावट के आन्तरिक सूत्र लोककथा से तो जुड़े ही हैं उसके आस्वाद की मिठास भी लोक-संगीत से संस्कारित है।

1.5.7. पाठ-सार

जायसी की कविता उनकी ख्याति का प्रतीक बन गयी थी। वे एक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त थे। एक सिद्ध फ़कीर के रूप में भी जाने जाते थे। पद्मावती की कथा में व्याप्त व्यथा उनकी मार्मिकता को व्यक्त करने का माध्यम बनी। सहज अनुराग निस्सार जीवन का प्राण है जो अमरत्व प्रदान करता है। कवि के इस उदात्त सोच और निर्मल स्वभाव के कारण ही रूपवन्त-गुणवन्त दोनों उनके पाँव पड़ते थे।

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
राव रूपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कई चाउ॥

जायसी अपने जीवनकाल में ही प्रसिद्ध हो चुके थे। उनकी बायीं आँख और बायाँ कान नहीं था। लोग उनकी कुरूपता पर हँसते थे किन्तु उनका कक्ति सुनकर वही लोग आँसू बहाते थे –

मुहमद कवि जो प्रेम का न तन रकत न मांसु।
जेई मुख देखा तेई हँसा सुना तो आवै आँसु॥

'पद्मावत' में रूपकतत्त्व एवं लोकतत्त्व का सम्यक् निर्वहन हुआ है। जायसी दार्शनिक और सन्त स्वभाव के कवि थे अतः आध्यात्मिक संकेतों के मध्य स्थान-स्थान पर रूपकतत्त्व का निर्वहन हुआ है और लोक से जुड़ाव के कारण लोकतत्त्व यहाँ पूरी कथा में विशेष रूप से उपस्थित देखा जा सकता है। वही इस महाकाव्य की प्राणशक्ति और लोकप्रसिद्धि का आधार भी है।

1.5.8. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'पद्मावत' में पद्मावती किसका प्रतीकार्थ है ?

(क) परमात्मा का
(ख) श्रद्धा का
(ग) सात्विक बुद्धि का
(घ) उपर्युक्त सभी

2. 'पद्मावत' में सुवा (हीरामन तोता) किसका प्रतीकार्थ है ?

(क) ईश्वर का
(ख) जगत् का
(ग) माया का
(घ) गुरु का

3. 'पद्मावत' वस्तुतः समासोक्ति है –

(क) मृत्युलोक की
(ख) परलोक की
(ग) लोक की
(घ) लोक-परलोक दोनों की

4. लोकतत्त्व का अर्थ है –

(क) लोक आधारित वर्णन
(ख) परमात्मा वर्णन
(ग) लोककथा
(घ) लोकगीत

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतत्त्व से क्या अभिप्राय है ?
2. काव्य में रूपकतत्त्व से क्या आशय है ?
3. लोकतत्त्व और रूपकतत्त्व में अन्तर बताइए।
4. 'पद्मावत' में प्रेमतत्त्व की अभिव्यंजना पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'पद्मावत' में वर्णित लोकतत्त्व की विवेचना कीजिए।
2. 'पद्मावत' में रूपकतत्त्व का विश्लेषण कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 1 : भ्रमरगीत परम्परा में सूर की मौलिक उद्‌भावना

इकाई की रूपरेखा

2.1.00. उद्देश्य कथन
2.1.01. प्रस्तावना
2.1.02. सूरदास : जीवन परिचय और रचनाएँ
    2.1.02.1. जीवन परिचय
    2.1.02.2. रचनाएँ
2.1.03. भ्रमरगीत का अर्थ
2.1.04. भ्रमरगीत की कथा और स्वरूप
2.1.05. भ्रमरगीत की परम्परा
    2.1.05.1. भक्तिकाल में भ्रमरगीत
    2.1.05.2. रीतिकाल में भ्रमरगीत
    2.1.05.3. आधुनिककाल में भ्रमरगीत
2.1.06. सूर का भ्रमरगीत
2.1.07. सूर की मौलिक उद्‌भावनाएँ
    2.1.07.1. सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व
    2.1.07.2. राधा का वियोग
    2.1.07.3. कुब्जा का उल्लेख
    2.1.07.4. प्रेम-निरूपण
    2.1.07.5. वाग्विदग्धता और वक्रोक्ति-विधान
    2.1.07.6. उद्धव का नया व्यक्तित्व
    2.1.07.7. उद्धव का हृदय परिवर्तन
    2.1.07.8. भावों की सूक्ष्म व्यंजना
    2.1.07.9. गाँव और नगर में द्वन्द्व
2.1.08. पाठ-सार
2.1.09. बोध प्रश्न
2.1.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई भ्रमरगीत परम्परा में कृष्णभक्ति-काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास की मौलिक उद्‌भावना पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भक्त-कवि सूरदास के जीवन और उनकी रचनाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
ii. भ्रमरगीत का अर्थ, उसकी कथा और स्वरूप को समझ सकेंगे।
iii. भ्रमरगीत की परम्परा और सूर के भ्रमरगीत से अवगत हो सकेंगे।
iv. सूरदास की मौलिक उद्‌भावनाओं का प्रतिपादन कर सकेंगे।

2.1.01. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल के नाम से भी जाना जाता है। इस काल की अवधि संवत् 1375 से 1700 तक स्वीकार की गई है। इस काल में हिन्दी साहित्य पूर्ण वैभव को प्राप्त कर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। इसी काल ने हिन्दी साहित्य-जगत् को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा जैसे महान् भक्तकवि दिए जिसके आधार पर इसे हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। भक्तिकालीन साहित्य को उपासना भेद की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – (i) निर्गुणभक्ति-साहित्य और (ii) सगुणभक्ति-साहित्य। निर्गुणभक्ति में ब्रह्मानुभूति को आधार मानकर आत्मविश्वास के बल पर निराकार और निर्विशेष के प्रति आस्था प्रकट की जाती है, वहीं सगुणभक्ति में लीलावतार को आराध्य मानकर भगवान् के अनुग्रह के बल पर साकार और विशेष के प्रति भक्ति की जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार स्वीकार किया है –

1. निर्गुणभक्ति-साहित्य
(क) ज्ञानाश्रयी निर्गुणभक्ति-साहित्य
(ख) प्रेमाश्रयी निर्गुणभक्ति-साहित्य

2. सगुणभक्ति-साहित्य
(क) रामभक्ति शाखा
(ख) कृष्णभक्ति शाखा

2.1.02. सूरदास : जीवन परिचय और रचनाएँ

हिन्दी के सगुणभक्ति-काव्य में कृष्णकाव्य का विशेष महत्त्व है। कृष्ण भारतीय धर्म साधना में विलक्षण व्यक्तित्व हैं, साथ ही अधिकांश पुराण कथाओं का केन्द्रबिन्दु भी हैं। कृष्णकाव्य के आधार ग्रन्थ भागवतपुराण और महाभारत माने जाते हैं किन्तु संस्कृत कवि जयदेव ने मधुर संगीतात्मक पदावली में 'गीतगोविन्द' की रचना कर कृष्णकाव्य को एक नयी दिशा प्रदान की। हिन्दी में कृष्णकाव्य के प्रवर्तन का श्रेय विद्यापति को है, जिन्होंने 'विद्यापति पदावली' की रचना की।

कृष्णभक्ति के प्रचार में वल्लभाचार्य के 'पुष्टि सम्प्रदाय' का बड़ा योगदान स्वीकार किया जाता है। वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्तकवियों को कृष्ण की लीलाओं का गुणगान करने की प्रेरणा दी। इनके पुत्र विट्ठलनाथ ने उनके पुष्टिमार्गी कवियों में से चार कवि अर्थात् सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदास को तथा अपने

चार शिष्यों अर्थात् नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्ददास को लेकर अष्टछाप की स्थापना की। विद्यापति के बाद कृष्णकाव्य को दृढ़ रूप में स्थापित करने में अष्टछाप कवियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। अष्टछाप कवियों में सूरदास का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने श्रीमद् भागवतपुराण को आधार बनाकर 'सूरसागर' की रचना की और उसमें भावरस का सम्मिश्रण कर उसे अति सुन्दर और सरस रूप में प्रस्तुत किया। सूर ने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन के दो ललित पक्षों – वात्सल्य विनय और यौवन शृंगार का चित्रण किया। उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्-रति और वात्सल्य-रति को भी रस कोटि में पहुँचाया और शृंगार-रस को रसराजत्व की प्रतिष्ठा दी।

2.1.02.1. जीवन परिचय

सूरदास के काव्य में उनके जीवनवृत्त के स्पष्ट सूत्र नहीं मिलते हैं। अन्तःसाक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य के रूप में प्राप्त सामग्री के आधार पर सूरदास का जीवनवृत्त स्वीकार किया गया है।

सूरदास के जीवनवृत्त के बाह्यसाक्ष्य के रूप में नाभादास-कृत 'भक्तमाल', गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', यदुनाथकृत 'वल्लभदिग्विजय' तथा हरिराय-कृत भावप्रकाशवाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का आधार लिया जाता है। वहीं अन्तःसाक्ष्य के रूप में सूर के आत्मकथन यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। अधिकांश विद्वानों ने प्राप्त साक्ष्य के आधार पर 1478 ई. में दिल्ली के निकट ब्रज की ओर स्थित 'सीही' गाँव के सारस्वत ब्राह्मण परिवार में सूरदास का जन्म स्वीकार किया है। वैराग्य लेने के बाद वे मथुरा के पास गऊघाट पर रहने लगे। वार्ता-ग्रन्थों के अनुसार 1509-10 ई. के आस-पास उनकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई, तब उन्होंने महाप्रभु के कहने पर यह विनय पद गाकर सुनाया –

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ।
कोऊ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितन में, मोहुँ तैं को नीकौ !

तब महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा – "जो सूर ह्वै कै ऐसो काहे को घिघियात है, कछु भगवत-लीला वर्णन करि।" इसके बाद सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य बन गए और चन्द्रसरोवर के समीप पारसोली गाँव में रहने लगे। जहाँ 1583 ई. में उनका देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने शोकार्त्त हो कर कहा था–

पुष्टिमारग को जहाज जात है सो जाको कछु लेना होय सो लेउ।

यह निर्विवाद है कि सूरदास नेत्रविहीन थे, किन्तु उनकी जन्मान्धता को लेकर पर्याप्त विवाद रहा है। विद्वानों का एक वर्ग उन्हें जन्मान्ध मानता है किन्तु दूसरे वर्ग के विद्वान उन्हें जन्मान्ध नहीं मानते। आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल का तर्क है कि – "सूर के पदों में रंगों, फूलों, वृक्षों तथा बाल-चेष्टाओं के आधार ऐसे हैं कि कोई उन्हें जन्मान्ध नहीं कहेगा।" परन्तु 'सूरसागर' में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें सूर ने स्वयं को जन्मान्ध तथा अभागा कहा है। स्पष्ट है कि इन पदों की रचना के समय वे नेत्रविहीन थे किन्तु सशक्त रूप-वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका साहित्य जन्मान्ध व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ नहीं हो सकता है।

2.1.02.2. रचनाएँ

सूरदास के जीवनवृत्त के समान ही उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी मतभेद है। इतिहास ग्रन्थों और विभिन्न पुस्तकालयों से प्राप्त कृतियों के आधार पर सूर-कृत पच्चीस ग्रन्थ बताये जाते हैं किन्तु आधुनिक विद्वानों ने छानबीन के आधार पर सूर की तीन रचनाओं – 'सूर सारावली', 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' को प्रामाणिक माना है।

(i) सूरसारावली – कुछ विद्वान 'सूरसारावली' को 'सूरसागर' की भूमिका तथा उसके सारांश रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु यह 1107 पदों की स्वतन्त्र सैद्धान्तिक रचना है। इसमें सूर ने संसार को होली के खेल का रूपक माना है। बसन्त से लेकर होली तक के ब्रज उल्लास को प्रस्तुत करती इस रचना में होली के रूप में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है।

(ii) साहित्यलहरी – यह ग्रन्थ सूरदास के दृष्टिकूट पदों का संग्रह है। इसमें 118 पद हैं जो रस, अलंकार और नायिका-भेद वाली रचना शैली से सम्बद्ध हैं। 'सूरसागर' में आये दृष्टिकूट पदों के आधार पर इसे 'सूरसागर' का अंश कहा जा सकता है किन्तु फिर भी यह एक स्वतन्त्र कृति है जिसकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं।

(iii) सूरसागर – 'सूरसागर' सूर की महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक रचना है। यह एक गेय मुक्तक काव्य है जिसकी रचना 'भागवत' को आधार बनाकर की गई। यह 'भागवत' का भाषानुवाद मात्र नहीं है वरन् सूरदास की मौलिक सर्जनात्मक उपलब्धि है। इसमें 3632 पद हैं जो कृष्ण-लीलाओं का गीत सागर हैं। यह कृष्णभक्ति-काव्य का गौरव और सूर-साहित्य की अमूल सम्पत्ति है। यह मुक्तक काव्य होते हुए भी प्रबन्धात्मकता के सूत्रों को संभाले हुए है। आचार्य द्विवेदी लिखते हैं – "सूरसागर ताजमहल-सा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल है।"

2.1.03. भ्रमरगीत का अर्थ

'भ्रमरगीत' शब्द 'भ्रमर' और 'गीत' दो शब्दों के योग से बना है। भ्रमर श्यामवर्ण का उड़ने वाला जीव होता है जिसके शरीर पर पीले रंग का सूत्र होता है। इसे मधुकर, अलि, षट्पद, भौंरा आदि नामों से भी जाना जाता है। अतः 'भ्रमरगीत' का शाब्दिक अर्थ है – 'भ्रमर का गान' या 'भ्रमर को लक्ष्य करके गाया गया गान'। हिन्दी साहित्य में इसका आशय उद्धव-गोपी संवाद से रहा है। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो विरह-व्याकुल गोपियों की व्यथा दूर करने के लिए वे अपने ज्ञानी मित्र उद्धव को अपना सन्देश देकर ब्रज भेजते हैं। उद्धव गोपियों से

कुशल-संवाद पूछ रहे होते हैं तब वहाँ एक भ्रमर उड़ता हुआ आ जाता है और गोपियाँ उसे लक्ष्य बनाकर उपालम्भ देने लगती हैं। अस्तु, यही कारण है कि इस प्रसंग को भ्रमरगीत कहा जाता है।

भ्रमरगीत में भ्रमर शब्द का प्रयोग कृष्ण और उद्धव के लिए हुआ है क्योंकि दोनों ही श्यामवर्णी हैं और पीताम्बर धारण करते हैं। जिस प्रकार भ्रमर कमल-सम्पुट में बन्द हो समाधि लगाता है वैसे ही उद्धव भी अन्तर्मुखी साधना में रत रहते हैं इसलिए गोपियाँ उद्धव को भ्रमर के प्रतीकार्थ में स्वीकारती हैं और उद्धव का भ्रमर से साम्य स्थापित करते हुए कहती हैं –

मधुकर ! जानत है सब कोई।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे गुननि निगुन हौ दोऊ।
पाये चोर हृदय के कपटी, तुम कारे अस दोऊ।

इसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण को भी भ्रमर के प्रतीकार्थ में स्वीकारती हैं और कहती हैं – जिस प्रकार भ्रमर चंचल प्रकृति का होता है और मधुपान कर अन्यत्र चला जाता है। वैसे ही कृष्ण ने भी पहले हमें अपने प्रेमजाल में फँसा लिया और अब हमें छोड़कर नगर की नारियों की सुन्दरता पर मुग्ध हो गए –

मधुकर काके मीत भये ?
दिवस चारि की प्रीति सगाई सो लै अनत गये॥

इस प्रकार हिन्दी-काव्य में कृष्ण, राधा-गोपियों के प्रेम-प्रसंग को लेकर उद्धव और भ्रमर के माध्यम से जो साहित्य रचा गया, वह भ्रमरगीत कहलाता है। भ्रमरगीत की रचना के लिए भ्रमर (षट्पद) के अनुरूप षटपदी छन्द का निर्माण भी किया गया, इसमें छह चरण होते हैं। इसके प्रथम चार चरणों में 24-24 मात्राएँ होती हैं और अन्त के दो चरणों में 10-10 मात्राएँ होती हैं।

2.1.04. भ्रमरगीत की कथा और स्वरूप

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के 46वें अध्याय में भ्रमरगीत का प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त रूप में आया है। जिसका कथानक इस प्रकार है – "गोपियाँ उद्धव से मिलती हैं और कृष्ण की लीलाओं का स्मरण कर रोने लगती हैं। तभी एक भ्रमर उड़ता हुआ आता है और एक गोपी के चरण को कमल समझ कर उस पर बैठ जाता है। तब गोपियाँ उसी को लक्ष्य कर उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हैं। गोपियों की दृढ़ प्रेमाभक्ति को देखकर उद्धव का हृदय उनके प्रति श्रद्धाभाव से भर जाता है और वे गोपियों की प्रेम-भावना में निमग्न हो कर मथुरा लौट जाते हैं।"

भागवत का यह प्रसंग हिन्दी में परिवर्तित और परिष्कृत हो गया और इसका नाम भ्रमरगीत पड़ा। डॉ॰ सत्येन्द्र ने भ्रमरगीत के कथानक का विश्लेषण इस प्रकार किया है –

i. भूमिका – कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिए प्रेरित करते हैं और उद्धव ब्रज पहुँच जाते हैं।

ii. प्रस्तावना – उद्धव गोपियों से कृष्ण का सन्देश कहते हैं।

iii. विषय-प्रवेश – वहाँ एक भ्रमर उड़ता हुआ आ जाता है।

iv. मूल-विषय –

(क) गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित कर कृष्ण और उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हैं और हृदय के उद्‌गार व्यक्त करती हैं।

(ख) गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग के सन्देश का खण्डन करती हैं।

(ग) अन्त में वे कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं।

v. उपसंहार – गोपियों की प्रेम-तन्मयता को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व चला जाता है और उनकी प्रेमा-भक्ति पर आस्था हो जाती है। वे मथुरा लौटकर गोपियों की दशा का वर्णन करते हैं और कृष्ण को निष्ठुर कहते हैं।

2.1.05. भ्रमरगीत की परम्परा

हिन्दी साहित्य में पाँच सौ वर्षों से भी अधिक समय से अजस्र रूप से प्रवाहित होने वाली भ्रमरगीत काव्यधारा का विशेष महत्त्व है। कृष्ण की निष्ठुरता पर उद्धव और गोपियों के मध्य की वार्ता भ्रमरगीत के नाम से विख्यात है। इस प्रसंग को आधार बनाकर भक्तिकाल से लेकर अद्यावधि के कवियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भक्ति, ज्ञान, विरह, उपालम्भ की व्यंजना की है। सर्वप्रथम विद्यापति की पदावली में तत्सम्बन्धी पद फुटकर रूप में मिलते हैं परन्तु परम्परा का श्रीगणेश मानकर भी विद्यापति को हिन्दी का प्रथम भ्रमरगीतकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रमरगीत का जो तात्त्विक अर्थ लिया गया है, उसके क्रम का उन पदों में अभाव है। अस्तु, हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत का प्रथम प्रणेता महाकवि सूर को ही स्वीकार किया जाता है। सूर ने सर्वप्रथम इस प्रसंग को एक क्रमिक और साहित्यिक रूप दिया है। आइए ! भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल में इस परम्परा के क्रमिक विकास का अवलोकन करें।

2.1.05.1. भक्तिकाल में भ्रमरगीत

भक्तिकाल में अनेक भक्तकवियों ने भ्रमरगीत की रचना की जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

i. सूरदास ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की। प्रथम भ्रमरगीत भागवत के भ्रमरगीत का अनुवाद मात्र है जिसकी रचना दोहा-चौपाई छन्द में है। दूसरा भ्रमरगीत केवल एक पद में लिखा गया है और तीसरा भ्रमरगीत 'सूरसागर' का अंश है जिसमें लगभग 710 पद हैं। इनमें से 400 चयनित पद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भ्रमरगीत सार में सम्पादित किए हैं। सूर का भ्रमरगीत अपने वैशिष्ट्य के कारण हिन्दी काव्य साहित्य में अप्रतिम है।

ii. सूर के पश्चात् नन्ददास ने 'भ्रमरगीत' की रचना की। नन्ददास ने उद्धव-गोपियों के मध्य दार्शनिक वाद-विवाद कराकर अन्त में सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की है। 'भ्रमरगीत छन्द' का आविष्कार सर्वप्रथम नन्ददास ने ही किया।

iii. नन्ददास के पश्चात् परमानन्ददास ने 'भ्रमरगीत' की रचना की। उनकी रचना आकार में अति संक्षिप्त होते हुए भी सरसता से परिपूर्ण है। इनकी गोपियाँ तर्क से अधिक भावुक कथनों का प्रयोग करती हैं।

iv. रामभक्ति शाखा के प्रसिद्ध भक्तकवि तुलसीदास ने 'कृष्णगीतावली' और 'कवितावली' में भ्रमरगीत-प्रसंग का वर्णन किया है। इनकी गोपियाँ उद्धव के प्रश्नों का उत्तर शालीनता, संयम और मर्यादा के साथ देती हैं।

v. भक्तिकाल के अन्य भक्तकवियों में कृष्णदास, चतुर्भुजदास, मलूकदास, हरिराय, मुकुन्ददास आदि ने भी भ्रमरगीत प्रसंग पर स्फुट छन्द लिखकर इस परम्परा का निर्वाह किया है।

2.1.05.2. रीतिकाल में भ्रमरगीत

रीतिकाल में मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, सेनापति, भिखारीदास आदि की रचनाओं में भ्रमरगीत-प्रसंग पर स्फुट छन्द मिलते हैं। उनके छन्दों ने भ्रमरगीत परम्परा के विकास में पर्याप्त योगदान दिया।

2.1.05.3. आधुनिककाल में भ्रमरगीत

भक्तिकालीन भ्रमरगीत परम्परा की काव्यधारा रीतिकाल में क्षीण हो गई थी किन्तु आधुनिककाल में उसका पुनरुत्थान हुआ।

i. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने फुटकर पदों में इस प्रसंग का उल्लेख किया।

ii. कविरत्न सत्यनारायण 'भ्रमरदूत' के माध्यम से एक अभिनव मोड़ लेकर आए और इस परम्परा में देश-प्रेम की भावना को पिरोकर एक नयी दिशा का संकेत किया। उन्होंने यशोदा के माध्यम से मातृभूमि की व्यथा का चित्रण किया और लोकहित को प्रमुखता दी।

iii. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में इस प्रसंग को स्थान दिया। इसमें मौलिकता यह है कि कृष्ण अतिभावुक हैं वहीं राधा विरह में जलने की अपेक्षा समाज-सेवा का विकल्प चुनती हैं।

iv. मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' में इस प्रसंग को उठाया है। इनकी गोपियाँ वाक्-चतुर और स्पष्टवादी होने के साथ विनयशील भी हैं।

v. जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की रचना 'उद्धवशतक' अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध है। इसमें कृष्ण के वियोग को दर्शाया गया है।

vi. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', श्यामसुन्दर दीक्षित और द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने भ्रमरगीत प्रसंग को काव्यबद्ध कर इस परम्परा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्तिकाल से लेकर आज तक इस परम्परा का स्रोत अबाध गति से बहता ही आया है।

2.1.06. सूर का भ्रमरगीत

सूर का भ्रमरगीत भागवत पर आधारित होने के बाद भी अपनी मौलिकता और नवीनता के कारण भ्रमरगीत परम्परा का प्रथम काव्य है और यह बाद के अनेक भ्रमरगीतों की रचना का प्रेरक भी है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके पर बात सही है। काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस स्मरणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाता है बल्कि उस अकृत्रिम वन भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।"

सूर ने अपने भ्रमरगीत में गोपियों की विरह-वेदना का अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक चित्रण किया है, इसके साथ ही उद्धव के माध्यम से निर्गुण अनुयायियों को सगुण प्रेमाभक्ति के समक्ष परास्त भी किया है । इस प्रकार सूर ने भ्रमर-प्रसंग को सर्वथा नवीन भावभूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भ्रमरगीत की तुलना अन्य भ्रमरगीतों से करने पर ज्ञात होता है कि नन्ददास के भ्रमरगीत में तर्क-प्रमाण और बुद्धि-तत्त्व की अधिकता है वहीं सूर के भ्रमरगीत में वाग्विदग्धता और प्रेमतत्त्व की प्रधानता है। नन्ददास का भ्रमरगीत भाषा की दृष्टि से उत्तम है किन्तु वे भाव-सौन्दर्य में सूर की बराबरी नहीं कर सके। कविरत्न सत्यनारायण ने अपने भ्रमरगीत में देश-प्रेम की भावना को पिरोया है और यशोदा के माध्यम से मातृभूमि की व्यथा का चित्रण किया है। इस प्रकार यह गोपियों का भ्रमरगीत न होकर भारत का करुण विलाप है। हरिऔध ने भी अपने भ्रमरगीत के माध्यम से देश-भक्ति और समाज-सेवा का पथ प्रशस्त किया है। रत्नाकर में यद्यपि सूरदास की भावुकता, नन्ददास का तर्क और रीतिकालीन अलंकारिता का सम्मिश्रण है फिर भी भाव क्षेत्र में सूर का भ्रमरगीत इनसे बहुत आगे है।

सच तो यह है कि सूर का भ्रमरगीत भ्रमरगीत-परम्परा की प्रथम रचना होने पर भी अपने वैशिष्ट्य के कारण सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है और इस प्रसंग के अत्यधिक विकसित रूपों में रचित ग्रन्थ भी सूर के भ्रमरगीत से टक्कर लेने में सर्वथा असमर्थ हैं।

2.1.07. सूर की मौलिक उद्भावनाएँ

हिन्दी साहित्य की भ्रमरगीत परम्परा में सूर का नाम अग्रगण्य है। हिन्दी काव्यधारा में सूर को ही भ्रमरगीत परम्परा का प्रवर्तक स्वीकार किया जाता है। इन्होंने श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध में वर्णित भ्रमरगीत प्रसंग को अत्यन्त भावुकता और नवीनता के साथ प्रस्तुत किया है। सूर ने भागवत से आधारभूत तत्त्वों को लेकर अपनी प्रतिभा और मौलिकता से ऐसे सुसज्जित किया है कि उनके भ्रमरगीत के सामने पहले के ही नहीं वरन् बाद के भ्रमरगीत भी फीके लगते हैं। हिन्दी साहित्य में सूर का भ्रमरगीत पहला भ्रमरगीत है अतः इसकी मौलिकता से तात्पर्य है कि सूर का भ्रमरगीत भागवत के भ्रमरगीत से किन आयामों में अलग है। आइए ! इस पर विचार करें।

वस्तुतः भागवतकार ने भ्रमरगीत प्रसंग द्वारा ज्ञान, कर्म और भक्ति का सामंजस्य किया है किन्तु सूर ने इस प्रसंग में निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति का रोचक विवाद उठाकर काव्य-चमत्कार और सरसता की सृष्टि की है। सूर के भ्रमरगीत में वर्णित प्रसंग कुछ मायनों में अनूठे हैं और पूर्व में उनका वर्णन नहीं किया गया है। अतः इस प्रसंगों को सूर की मौलिक उद्‌भावना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कुछ महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्‌भावनाएँ इस प्रकार हैं –

2.1.07.1. सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व

सूरदास ने 'भ्रमरगीत' में भागवत से प्राप्त कृष्ण के सन्देश-प्रेषण की कथा को एक नवीन दिशा और आयाम देकर इस सन्देश को निर्गुण ब्रह्म को आराध्य के रूप में स्वीकार करने की सलाह के रूप में प्रस्तुत किया है। सूर के उद्धव गोपियों को ज्ञान-योग का उपदेश देते हैं किन्तु कृष्ण-प्रेम के गाढ़े रंग में रंगी गोपियों पर उनका रंग नहीं चढ़ता है। गोपियों और उद्धव के मध्य उत्तर-प्रत्युत्तर होता है और गोपियाँ निर्गुण के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लगा देती हैं –

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननी को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसौ बरन, भेस है कैसौ केहि रस कै अभिलासी ॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ॥

इस प्रकार सूर ने उद्धव-गोपी संवाद के माध्यम से सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व ही प्रस्तुत नहीं किया वरन् गोपियों की सरल हृदय निष्काम भक्ति के सम्मुख उद्धव को निरुत्तर और पराजित दिखा कर निर्गुण पर सगुण की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है।

2.1.07.2. राधा का वियोग

भागवत में मात्र गोपियों के विरह का वर्णन है, राधा के वियोग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए राधा के विरह का भी मार्मिक चित्रण किया है। यद्यपि उनकी राधा स्वयं कुछ नहीं कहती किन्तु कुछ पदों में गोपियाँ राधा की विषम वियोगावस्था का वर्णन करती हैं –

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि-स्रमजल अंतस्तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी ॥
अधोमुख रहति उरधनहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥
हरी-संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति है ब्रजवनिता सब स्यामदुलारी ॥

इसी प्रकार सूर ने मथुरा लौटने पर कृष्ण के समक्ष उद्धव के माध्यम से भी राधा की दारुण विरह दशा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है –

जब राधे तबहीं मुख माधो रटति रहै।
जब माधो होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै।

2.1.07.3. कुब्जा का उल्लेख

भागवत में कुब्जा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है किन्तु सूर के 'भ्रमरगीत' में उद्धव-गोपियों के मध्य होने वाली ज्ञानयोग की चर्चा में कुब्जा का प्रसंग अत्यन्त सरस और मधुर रूप में प्रस्तुत किया गया है। असूया भाव के कारण गोपियाँ कुब्जा के प्रति कटाक्ष करती हैं जो भ्रमरगीत को मधुरता और मौलिकता प्रदान करता है –

ऊधो ! जाके माथे भाग।
कुब्जा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत वैराग ॥

2.1.07.4. प्रेम-निरूपण

सूर के भ्रमरगीत में प्रेम का विशद् विश्लेषण किया गया है। यद्यपि सूर ने प्रेम के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का चित्रण किया है किन्तु भ्रमरगीत में वियोग पक्ष की ही अभिव्यक्ति है। गोपियाँ वियोगावस्था में भी कृष्ण के प्रेम में आकण्ठ डूबी हुई हैं। उनका प्रेम वियोग में कम नहीं होता वरन् प्रिय के सुख की कामना को ही सर्वस्व समझ लेता है। सूर की गोपियों का प्रेम चरमावस्था को प्राप्त होता है और वे कहती हैं –

जहँ जहँ रहौ राज करो तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार' ॥

इस प्रकार सूर ने प्रेम को जीवन की सबसे मधुर और महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

2.1.07.5. वाग्विदग्धता और वक्रोक्ति-विधान

भागवत में कथा का प्रवाह अत्यन्त सरल है। उसमें न तो वाग्विदग्धता का चमत्कार है न ही वक्रोक्ति-विधान। किन्तु सूर के भ्रमरगीत का सारा सौन्दर्य भावप्रेरित वाग्विदग्धता और वचन-वक्रता में ही है। बात को अनोखे ढंग से कहने की कला वक्रोक्ति है और वाग्विदग्धता का अर्थ है – 'वाक् पटुता' या 'बात करने का कौशल'। सूर की गोपियाँ वाग्विदग्धता और वक्रोक्तिविधान में निपुण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है – "किसी बात को कहने के जाने कितने टेढ़े-मेढ़े ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है।" भ्रमरगीत में गोपियों द्वारा उद्धव को दी गई गालियों में 'गाली-गलौज' न होकर प्यार का प्रहार है। वे कहती हैं –

आयो घोष बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी॥
फाटक दैकर हाटक माँगत, भोरै निपट सुधारी।
धुर ही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी।
ऊधो जाहु सबार यहाँ तें बेगि गहरु जनि लावौ।
मुँहमाँग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ॥

उपर्युक्त पद प्रयत्नहीन विदग्धता का प्रमाण है और ऐसी ही सरलता और भोलापन उनकी वक्रोक्तियों में भी दिखाई पड़ती है –

तेरो बुरौ न कोऊ माने।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसे निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उढ़त मन बांध्यो, कहे सुनत नहिं कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम भानै।
कायर बकै लोह तैं भाजे, लरै जो सूर बखानै॥

2.1.07.6. उद्धव का नया व्यक्तित्व

भ्रमरगीत की रचना में भागवतकार का उद्देश्य ज्ञान, कर्म और भक्ति का सामंजस्य स्थापित करना था और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भागवत के कृष्ण, उद्धव को ब्रज में जाकर माता-पिता की कुशल-क्षेम जानने और उन्हें समझा-बुझाकर प्रसन्न और सन्तुष्ट करने के लिए प्रेरित करते हैं। साथ ही गोपियों को समझाकर उनकी वियोगावस्था का शमन करने और उन्हें सांत्वना देने के लिए भी कहते हैं। भागवत के उद्धव को ज्ञान का गर्व नहीं है और वे गोपियों के अनन्य प्रेम को देखकर मुग्ध भी हो जाते हैं। इस प्रकार भागवत के उद्धव का व्यक्तित्व सरलता और भावुकता से परिपूर्ण है। इसके ठीक विपरीत सूर के उद्धव ज्ञानी, नीरस और शुष्क हैं। ब्रज जाने से पूर्व कृष्ण की मोह भरी बातें सुनकर वे मुस्कुराते हैं और मन-ही-मन अपने ज्ञान पर गर्व करते हैं। उनके इस गर्व को मिटाने के लिए ही कृष्ण उन्हें केवल सांत्वना देने के लिए ही नहीं कहते वरन् निर्गुण-उपदेश की बात भी कहते हैं –

उद्धव ! यह मन निश्चय जानो।
मन क्रम बचन मैं तुम्हें पठावत, ब्रज को तुरत पलानो॥
पूरनब्रह्म, सकल, अबिनासी, ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख न रूप, जाति कुल नाहीं, नहिं जाके पितु माता॥
यह मत दै गोपिनुकों आवहु, बिरह नदी में भासति।
'सूर' तुरत यह जाय कहौ तुम, 'ब्रह्म बिना नहिं आसति'॥

भागवत के उद्धव गोपियों से भेंट होने पर उनके कृष्ण-प्रेम की सराहना करते हैं, वहीं सूर के उद्धव कृष्ण-प्रेम की निरर्थकता बताते हुए ज्ञान और योग का उपदेश देने लगते हैं –

जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं, पै पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत साध्यौ गोपिका, छाड़ि बिषय बिस्तार॥

2.1.07.7. उद्धव का हृदय परिवर्तन

भागवत के उद्धव का व्यक्तित्व सरलता और भावुकता से परिपूर्ण है अतः उनका गोपियों से विवाद नहीं होता वरन् वे गोपियों के प्रेम की सराहना करते हैं। इसके विपरीत सूर के उद्धव का हृदय ज्ञान-गर्व से परिपूर्ण है। जब वे गोपियों को ज्ञान-योग का उपदेश देने जाते हैं तो गोपियों का कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम देखकर वे द्रवित हो जाते हैं। गोपियों का प्रेम उन्हें संवेदनशील बना देता है। वे रूखी निर्गुण चर्चा को छोड़कर भक्ति सागर में गोते लगाने लगते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान-मार्तण्ड से झुलसे उद्धव भक्ति की सुधा-वृष्टि से सरस सुहावने हो जाते हैं। वे कृष्ण के समक्ष अपनी पराजय स्वीकारते हुए कहते हैं –

अब अति पंगु भयो मन मेरो।
गयौ जहाँ निर्गुण कहिबे कौं, भयो सगुण को चेरो।
सूर मधुप उठी चल्यो मधुपुरी बोरी जोग को बेरो॥

इस प्रकार सूर ने उद्धव के ज्ञान की पराजय और हृदय-परिवर्तन के माध्यम से निर्गुण पर सगुण की विजय को दिखाया है जो 'भ्रमरगीत' का मूल प्रतिपाद्य है।

2.1.07.8. भावों की सूक्ष्म व्यंजना

सूर आन्तरिक भावों के सूक्ष्म चितेरे हैं। 'भ्रमरगीत' में उन्होंने गोपियों के प्रगाढ़ प्रेम भाव के साथ ही नन्द-यशोदा के वात्सल्य भाव की भी सुन्दर व्यंजना की है। कृष्ण के विछोह में नन्द-यशोदा, गोपियाँ और गोकुलवासी ही नहीं वरन् लताएँ, कुंज, वनस्पतियाँ और गोधन भी व्यथित हैं। सूर ने गोपियों के विरह, असूया, एकनिष्ठ प्रेम भाव को सूक्ष्म मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। गोपियों के एकनिष्ठ प्रेम भाव को दर्शाती ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नन्दनन्दन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत, सोबत, सपने सौंतुख कान्ह-कान्ह जक री।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी॥

2.1.07.9. गाँव और नगर में द्वन्द्व

'भ्रमरगीत' में सूर ने उद्धव और गोपियों के द्वन्द्व के माध्यम से परोक्ष रूप में मध्यकाल के गाँव और नगर के द्वन्द्व का भी संकेत किया है। एक ओर गोपियाँ मथुरा को काजल की कोठरी कहती हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं को असहाय ग्वालिन मानते हुए कुब्जा को नागरी कह कर कटाक्ष करती हैं। इतना ही नहीं, स्वयं कृष्ण नगरीय जीवन के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए निश्छल और प्राकृतिक ग्रामीण जीवन को स्मरण कर कहते हैं –

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं?
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नन्द निवाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने भागवत कथा का आधार लेकर भी अपने 'भ्रमरगीत' को मौलिक साँचे में ढाला है। उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा से भ्रमरगीत को पूर्णता प्रदान की है। यद्यपि भागवतकार और सूर के उद्देश्य में मूलतः अन्तर नहीं है किन्तु उद्देश्य प्राप्ति की पद्धति में भिन्नता ही सूर की मौलिकता है। सूर की मौलिक उद्भावनाओं और काव्य-प्रतिभा ने भ्रमरगीत को जो प्रौढ़ता दी है, उसी का परिणाम है कि अपनी परम्परा का पहला ग्रन्थ होने के उपरान्त भी आज तक यह अग्रगण्य है।

2.1.08. पाठ-सार

भक्तप्रवर सूरदास का हिन्दी कृष्णभक्तों में सर्वोच्च स्थान है। इनकी महत्ता इस बात से सहज ही प्रकट हो जाती है कि आज भी सूर के भक्ति पद मन्दिरों में गाये जाते हैं। 'सूर-सूर तुलसी ससि' के माध्यम से विद्वानों ने सूर को हिन्दी साहित्याकाश का सूर्य कह कर भी उनके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। सूर उच्च कोटि के भक्त थे, वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों में दीक्षित होकर उनकी प्रतिभा और निखर गई। 'सूर सारावली', 'साहित्य-लहरी' तथा 'सूरसागर' को इनकी प्रामाणिक रचनाओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। भागवत कथा में वर्णित उद्धव-गोपी संवाद का आधार लेकर उसे एक क्रमिक और साहित्यिक रूप देने का प्रथम प्रयास सूर ने ही किया अतः सूर को भ्रमरगीत परम्परा का प्रथम प्रणेता स्वीकार किया जाता है। सूर ने इस प्रसंग को अत्यन्त भावुकता और नवीनता के साथ प्रस्तुत किया है।

सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व, राधा का वियोग, कुब्जा का उल्लेख, प्रेम-निरूपण, वाग्विदग्धता और वक्रोक्ति-विधान, उद्धव का नया व्यक्तित्व, उद्धव का हृदय परिवर्तन, भावों की सूक्ष्म व्यंजना, गाँव और नगर में द्वन्द्व आदि सूर की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। सूर ने भ्रमरगीत में निर्गुण का खण्डन और सगुण का मण्डन किया है। इसके साथ

ही योग की कठिन साधना पर भी खुलकर व्यंग्य किया है। इस प्रकार सूर ने अपनी प्रतिभा और मौलिकता से भागवत के छोटे से अंश को अमर कर दिया। हिन्दी साहित्य में सूर का भ्रमरगीत प्रेरणा स्रोत की तरह है।

2.1.09. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सूरदास को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' किसने और क्यों कहा ?
2. सूर की प्रामाणिक रचनाओं का नामोल्लेख कीजिए और किसी एक रचना का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. 'भ्रमरगीत' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. 'भ्रमरगीत' के कथानक को डॉ॰ सत्येन्द्र ने किस प्रकार विश्लेषित किया है ?
5. आधुनिककालीन भ्रमरगीत परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सूर की रचनाओं का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कीजिए।
2. भ्रमरगीत परम्परा का उद्गम और क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिए।
3. भ्रमरगीत में सूर की मौलिक उद्भावनाओं का उल्लेख कीजिए।
4. 'भ्रमरगीत' से आप क्या समझते हैं ? उसकी कथा और स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
5. भ्रमरगीत की रचना में निहित सूर के उद्देश्य को स्पष्ट कीजिए।

2.1.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ हरदयाल (सम्पादक), (2014), हिन्दी साहित्य का इतिहास, नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस ISBN : 81-7198-036-8.
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, (2013), हिन्दी साहित्य का इतिहास, जयपुर, यूनिक ट्रेडर्स.
3. चतुर्वेदी, डॉ॰ राजेश्वर प्रसाद, सूरदास-कृत भ्रमरगीत-सार, लखनऊ, प्रकाशन केन्द्र.
4. प्राचीन भारतीय साहित्यिक कवि, जयपुर, राज पब्लिशिंग हाऊस, ISBN : 81-89326-81-3.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 2 : भ्रमरगीत का काव्य-सौष्ठव, भाव-सौन्दर्य, वाग्वैभव तथा विरह-वर्णन

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. भ्रमरगीत का काव्य-सौष्ठव
2.2.3. भ्रमरगीत का भाव-सौन्दर्य
  2.2.3.1. भक्ति-भावना
  2.2.3.2. वात्सल्य-वर्णन
  2.2.3.3. शृंगार-निरूपण
  2.2.3.4. प्रकृति-चित्रण
2.2.4. भ्रमरगीत का शिल्प-सौन्दर्य
  2.2.4.1. भाषा
  2.2.4.2. अलंकार-योजना
  2.2.4.3. काव्य-रूप
2.2.5. वाग्वैभव और विरह-वर्णन
  2.2.5.1. वाग्वैभव
  2.2.5.2. विरह-वर्णन
2.2.6. पाठ-सार
2.2.7. बोध प्रश्न
2.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई सूरदास-कृत भ्रमरगीत के वैशिष्ट्य पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सूरदास कृत भ्रमरगीत के काव्य-सौष्ठव को समझ सकेंगे।
ii. भ्रमरगीत के भाव-सौन्दर्य से परिचित हो सकेंगे।
iii. भ्रमरगीत के कला पक्ष की समीक्षा कर सकेंगे।
iv. भ्रमरगीत के विरह-वर्णन और वाग्वैभव के वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

सूरदास भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में आराध्य कृष्ण की लीलाओं के रूप में बालवृत्ति और यौवनवृत्ति का वर्णन किया है। सूर पहले दैन्यभाव से भक्ति करते थे परन्तु वल्लभाचार्य से दीक्षा और प्रेरणा प्राप्त कर वे सख्यभाव के पदों की रचना करने लगे। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग को मानने वाले आठ कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी और वे कवि 'अष्टछाप' या 'अष्टसखा' के नाम से जाने गए। अष्टछाप भक्तकवि गोवर्धन में श्रीनाथजी की सेवा में संलग्न रहते थे। वे कीर्तन के लिए भक्ति पदों की रचना करते थे। इन अष्टछाप कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। सूर द्वारा रचे गए भक्तिपद आज भी कृष्ण-भक्तों द्वारा श्रद्धापूर्वक गाये जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है – "जैसे रामचरित गान करने वाले भक्तकवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गान करने वाले भक्तकवियों में महात्मा सूरदास जी का, वास्तव में ये हिन्दी काव्य गगन के सूर्य और चन्द्र हैं।"

सूरदास ने भागवत कथा को आधार बना कर साहित्य-सृजन किया किन्तु उसमें उन्होंने प्रेमाभक्ति का रंग डाल कर उसे अलग रूप में प्रस्तुत किया साथ ही उन्होंने कई नये प्रसंगों की उद्भावना कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया। सूर द्वारा रचित 'भ्रमरगीत' अपनी परम्परा की प्रथम रचना होने के साथ ही अपनी मौलिकता के कारण विशेष महत्त्व रखता है। पिछले पाठ में आप सूर के जीवन, उनकी रचनाओं, भ्रमरगीत का अर्थ, उसकी कथा और स्वरूप, भ्रमरगीत की परम्परा और सूर की मौलिक उद्भावनाओं आदि का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत पाठ में आप भ्रमरगीत के काव्य-सौष्ठव, भाव-सौन्दर्य, कला पक्ष, वाग्वैभव और विरह-वर्णन का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

2.2.2. भ्रमरगीत का काव्य-सौष्ठव

'सूरसागर' सूरदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है जिसमें भागवत कथा को आधार मानकर कथा-योजना की गई है। सूर ने स्वयं स्वीकार किया है कि–

सूर कहौ क्यों कहि सके, जन्म कर्म अवतार।
कहे कछुक गुरु कृपा ते, श्री भागवतानुसार॥

स्पष्ट है कि 'भागवत' 'सूरसागर' का उपजीव्य ग्रन्थ है। 'सूरसागर' की कथावस्तु यद्यपि बारह स्कन्धों में विभक्त है किन्तु कृष्णलीलाओं का विस्तृत वर्णन दशम स्कन्ध में किया गया है। 'सूरसागर' में वर्णित उद्धव-गोपी संवाद जो 'भ्रमरगीत' नाम से प्रसिद्ध है, हिन्दी साहित्य में सूर की मौलिकता और प्रसंगोद्भावना की विशेषता के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है – "भ्रमरगीत सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है।"

किसी भी कृति का आस्वादन करने के लिए भाव-सौन्दर्य और कला-सौन्दर्य को पहचानना आवश्यक होता है। काव्य का काव्यत्व और उसकी सफलता भावपक्ष और कलापक्ष के समुचित सामंजस्य में निहित होती है। भावपक्ष काव्य का आन्तरिक गुण है, इसका सम्बन्ध कवि की सहृदयता और भावुकता से होता है। वहीं कलापक्ष को काव्य का शरीर या बहिरंग कहा जा सकता है। इसका सम्बन्ध कवि के रचना-कौशल और चतुरता से होता है। भावपक्ष और कलापक्ष से समन्वित काव्य श्रेष्ठ काव्य की श्रेणी में रखा जाता है। इस दृष्टि से सूरदास का भ्रमरगीत अपरिमित काव्य-सौष्ठव से युक्त है। सूर ने सीमित क्षेत्र में भी नवीन उद्‌भावनाओं और कोमल कल्पनाओं के माध्यम से भ्रमरगीत को भावों की विविधता से परिपूर्ण किया है। वहीं इन भावों को सम्प्रेषित करने के लिए काव्य-शैली, भाषा, अलंकारों का सुन्दर समावेश किया है। कहा जा सकता है कि सूर का काव्य-सौष्ठव अत्यन्त सुदृढ़ और प्रौढ़ है, साथ ही अतुलित माधुर्य और अनुपम सौन्दर्य से युक्त है। सूर के काव्य-सौष्ठव की विस्तृत चर्चा आगे दो बिन्दुओं – 'भाव-सौन्दर्य' और 'शिल्प-सौन्दर्य' के अन्तर्गत करेंगे।

2.2.3. भ्रमरगीत का भाव-सौन्दर्य

सूरदास-कृत 'सूरसागर' कृष्ण की विविध लीलाओं से आप्लावित है। उन्होंने कृष्ण के बाल्यकाल और किशोरावस्था की विविध लीलाओं का वर्णन अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों के रूप में किया है। श्रीकृष्ण सूर के आराध्य हैं और उनके वर्णन में सूर की तन्मयता और रसात्मकता के दर्शन भक्तिरस में होते ही हैं, साथ ही वात्सल्य और शृंगार भी इनके भक्तिरस में पूर्णता पाते हैं। ब्रजभाषा की पहली साहित्यिक रचना होने पर भी सूरसागर अत्यन्त परिमार्जित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि – "यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पड़ती हैं।"

सूरसागर अनन्त भाव-सौन्दर्य से मण्डित है, इसमें भावों की विविधता और अनेकरूपता के सहज दर्शन होते हैं। इसके भावपक्ष को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है –

2.2.3.1. भक्ति-भावना

कृष्णभक्त सूर की भक्ति-भावना के प्रथम दर्शन इनके विनय पदों में होते हैं जो दास्यभक्ति-भावना से परिपूर्ण हैं। यह भक्ति-भावना आगे चलकर पुष्टिमार्गी भक्ति में परिवर्तित हो जाती है। अतः कहा जा सकता है कि सूर का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण स्थिर न होकर गतिशील रहा है। सूर की भक्ति को दो चरणों में समझा जा सकता है – (i) वल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व की भक्ति पद्धति और (ii) उनसे मिलने के बाद की भक्ति पद्धति। वल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व सूर अन्य भक्ति पद्धतियों से प्रभावित थे अतः उनके कुछ पद हठयोग और शैव साधना से प्रभावित हैं तो कुछ पद निर्गुणभक्ति-धारा से। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य और रामानन्द से प्रभावित पदों की पर्याप्त संख्या भी सूर-साहित्य में प्राप्त होती है जिनमें सूर की भक्ति में दास्यभाव के दर्शन होते हैं। दास्य भक्ति में आलम्बन (ईश्वर) की महानता और आश्रय (भक्त) की लघुता के भाव मिलते हैं।

वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आते ही सूर को अपने घिघियाने का अहसास हुआ और वे वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर पुष्टिमार्गीय भक्ति की ओर अग्रसर हो गए। श्रीमद्भागवत में कहा गया है – 'पोषणं तदनुग्रहः' जिसका अर्थ है – 'ईश्वरीय अनुग्रह या कृपा ही जीवन का वास्तविक पोषण है।' सामान्यतः भक्ति के तीन मार्ग माने गए हैं – (i) प्रवाहमार्ग, (ii) मर्यादामार्ग और (iii) पुष्टिमार्ग। 'प्रवाहमार्ग' के पथिक सामान्य सांसारिक प्रवाह में पड़कर सांसारिक सुखों में लिप्त रहते हैं। 'मर्यादामार्ग' पर चलने वाले पथिक वैदिक या शास्त्रीय विधियों का अनुसरण कर आध्यात्मिक सुखों की उपलब्धि चाहते हैं और 'पुष्टिमार्ग' के पथिक किसी लौकिक साधना का आश्रय न लेकर भगवान् के अनुग्रह पर ही आश्रित रहते हैं। वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिमार्ग' को भक्ति का श्रेष्ठतम मार्ग माना है और 'पुष्टिभक्ति' को स्पष्ट किया है कि यह वह भक्ति है जिसमें भक्त कृष्ण की नित्य लीलाओं में गोपी, गोप, पशु, पक्षी, वृक्ष, लतादि के रूप में भाग लेता है और असीम आनन्द को अनुभव करता है। यह आनन्द ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

सूरदास ने पुष्टिमार्गीय प्रेम भक्ति को अपनाया और अपना सर्वस्व अपने आराध्य कृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया। उन्होंने प्रेमभावना को भक्ति का मूल आधार माना और इसी आधार को लेकर सगुणभक्ति का पोषण किया। उनके काव्य में प्रेम के विविध रूपों – वात्सल्य, माधुर्य, शृंगार, वियोगादि की सरल और सहज अभिव्यक्ति हुई है। सूर ने 'भ्रमरगीत' के माध्यम से ज्ञानमार्ग की कठोरता और भक्तिमार्ग की सरलता को प्रस्तुत किया है। सूर के कृष्ण उद्धव को गोपियों के पास इसीलिए भेजते हैं कि वे गोपियों की प्रेभावना, तन्मयता और मधुरता को देखकर शिक्षा ग्रहण करें और निर्गुणभक्ति सम्बन्धी उनका ज्ञान गर्व दूर हो सके। सूर का भ्रमरगीत भक्तिमार्ग की चरम तन्मयता और विदग्धता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसमें गोपियों के माध्यम से योग और ज्ञान का प्रतिकार कर सगुणभक्ति की स्थापना की गई है। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि सूर ज्ञान-विरोधी नहीं वरन् 'भक्ति-विरोधी ज्ञान' के विरोधी हैं। उनकी गोपियाँ बड़ी सरलता से सगुण को निर्गुण से श्रेष्ठ सिद्ध कर देती हैं –

रूप न रेख, वदन, बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सौं प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई ?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके स्याम सदा सुखदाई॥

इस प्रकार सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा का आधार लेकर भी अपनी मौलिकता से भ्रमरगीत के माध्यम से सगुणभक्ति को सरल और सरस रूप में प्रस्तुत किया है।

वैष्णव परम्परा में पाँच प्रकार की भक्ति प्रचलित है – (i) शान्तभाव की भक्ति, (ii) वात्सल्यभाव की भक्ति, (iii) दाम्पत्यभाव की भक्ति, (iv) सख्यभाव की भक्ति और (v) दास्यभाव की भक्ति। सूर ने कृष्ण को अपना सखा मानकर सख्यभाव की भक्ति की है। उन्होंने कृष्ण के गोप-ग्वालों के साथ खेलने, लड़ने-झगड़ने, मिल-बाँटकर खाने, गायों को चराने और कृष्ण द्वारा मुरली बजाकर सखाओं का मनोरंजन करने जैसे अनेक प्रसंगों

का अत्यन्त सुन्दर और सरस चित्रण किया है। ग्वाल-बाल की बाँसुरी बजाने की जिद – "छबीले मुरली नेकु बजाउ" को तो आचार्य द्विवेदी ने 'सूरसागर' की 'सेन्ट्रल थीम' तक कह दिया है। सख्यभक्ति में सूर बेजोड़ हैं, उन्होंने बाल सखाओं के साथ खेल में होने वाली हार-जीत को कितनी सुन्दरता और सहजता के साथ प्रस्तुत किया है –

खेलन मैं को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, जातें अधिक तुम्हारी गैयाँ॥

स्पष्ट है कि ईश्वर के समक्ष घिघियाने वाले सूर सख्यभक्ति को अपनाने के बाद ईश्वर के सखा बन गए और विनय पदों के स्थान पर बालकृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन करने लगे। सख्यभाव की भक्ति के अतिरिक्त वात्सल्यभाव की भक्ति और माधुर्यभाव की भक्ति में भी सूर का मन रमा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सूर के लिए सर्वोच्च जीवन-मूल्य भक्ति ही है।

2.2.3.2. वात्सल्य-वर्णन

वात्सल्य का मूल आधार सन्तान के प्रति प्रेम होता है। इस नैसर्गिक प्रेम के कारण माता-पिता ही नहीं वरन् परिवार, समाज के वयस्क लोग भी बाल-क्रीड़ाओं में आनन्द की अनुभूति करते हैं। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी साहित्य में अनुपम है, उन्होंने कृष्ण के बालस्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया है। सूर से पहले वात्सल्य एक भाव मात्र था और उसका चित्रण नहीं किया गया किन्तु सूर ने 'सूरसागर' में कृष्ण की बालसुलभ चेष्टाओं के इतने आकर्षक चित्र अंकित किए कि इस सम्बन्ध में औरों के लिए कहने को कुछ शेष नहीं रहा। सूर ने वात्सल्य भाव की मार्मिकता, मधुरता और सजीवता को रसानुभूति के स्तर तक पहुँचा दिया और वात्सल्य को रस की श्रेणी में ला खड़ा किया।

सूर के वात्सल्य वर्णन को दो भागों में बाँटा जा सकता है – (i) वात्सल्य का संयोग पक्ष तथा (ii) वात्सल्य का वियोग पक्ष। संयोग पक्ष के प्रमुख अंग हैं – बालक के रूप और वेशभूषा का वर्णन, बालचेष्टाओं और क्रीड़ाओं का वर्णन, बालक के स्वभाव का वर्णन, बालक के संस्कारों और उत्सवों का वर्णन, गोचारण लीलाओं का वर्णन। इसी प्रकार वियोग पक्ष के प्रमुख अंग हैं – कृष्ण का मथुरा जाना, मथुरा से नन्द का अकेले लौटना, कृष्ण का मथुरा में निवास करना। वात्सल्य के संयोग पक्ष के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।

* * *

कर पग गहि अँगूठा मुख मेलत।
हरि पौढ़े पालने अकेले, हरषि-हरषि अपने संग खेलत।

* * *

मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।

* * *

कान्हा कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
विधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हेरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की॥

* * *

आजु मैं गाई चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भाँति-भाँति फल अपने कर में लैहौं॥

स्पष्ट है कि सूर ने कृष्ण की बालक्रीड़ाओं, प्रवृत्तियों और क्रिया-कलापों का जो चित्रण किया है वह अत्यन्त मनोहारी है। इन पदों को पढ़ने वाला सहज ही अपने नीरस और जटिल जीवन की समस्याओं को भूलकर 'रसमग्न' हो जाता है। सूर के वात्सल्य का संयोगपक्ष कृष्ण के मथुरा जाने पर वियोगपक्ष में बदल जाता है। 'सूरसागर' में वियोग का आरम्भ ही वात्सल्य के वियोगपक्ष से हुआ है। इसके अन्तर्गत सूर ने यशोदा और नन्द की दशा का मार्मिक चित्रण किया है। माता यशोदा के मनोभावों को सूर ने जिस तन्मयता से चित्रित किया है वह अभूतपूर्व है। आचार्य शुक्ल ने कहा है – "ऐसा लगता है कि यशोदा, यशोदा न रही मानों सूर हो गई और सूर, सूर न रहे, यशोदा हो गए।" कृष्ण के मथुरा जाने पर सूर ने यशोदा के हृदय से अपना हृदय मिला दिया और उनके हृदय की तड़प को इस प्रकार प्रकट किया –

जशोदा बार बार यों भाखै।
है कोई ब्रज में हितू हमारो चलत गोपालहि राखै।

सूर ने भ्रमरगीत में नन्द, यशोदा और ब्रजवासियों के वात्सल्य भाव का भी चित्रण किया है। माता यशोदा अपने लाडले के चिन्तन में व्यग्र होती हैं और उद्धव के माध्यम से देवकी को यह सन्देश भेजती है –

तुम तौ टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै॥
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥

मातृ-हृदय की ऐसी निर्मल व्यंजना अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। सूर के इस गुण से मोहित होकर आचार्य द्विवेदी ने कहा है – "हम बाललीला से भी बढ़कर जो गुण सूरदास में पाते हैं, वह है उनका मातृहृदय-चित्रण। माता के कोमल हृदय में पैठने की अद्भुत-शक्ति है इस अन्धे में।" अतः कहा जा सकता है कि वात्सल्य-वर्णन सूर के काव्योत्सर्ग का विशिष्ट क्षेत्र है जहाँ उनकी बराबरी आज तक कोई नहीं कर पाया है। वात्सल्यभाव का चित्रण सूर ने जिस आकर्षक और स्वाभाविक रूप में किया, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास वात्सल्य-सम्राट् हैं।

2.2.3.3. शृंगार-निरूपण

सूर ने 'सूरसागर' में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का प्रचुरता से वर्णन किया है। अपनी भक्तिभावना को वात्सल्य से जोड़कर जहाँ उन्होंने माता यशोदा, नन्द और ब्रजवासियों के कृष्ण-प्रेम का मनोहर चित्रण किया है वहीं भक्तिभावना को शृंगार से जोड़कर राधा-गोपियों और कृष्ण के प्रेम का भी भावपूर्ण वर्णन किया है। राधा और गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् शैशवावस्था से युवावस्था के साहचर्य से पनपने वाली स्नेह-लता है। गोपियाँ कृष्ण के साथ हँसते-खेलते उनके सौन्दर्य और मोहक चेष्टाओं पर मुग्ध हो जाती हैं और तब उनमें हास-परिहास के साथ सहज और स्वाभाविक रूप से प्रेम का व्यापार होने लगता है। इस प्रकार सूरसागर में रूप-लिप्सा और साहचर्य के योग से प्रेम की उत्पत्ति होती है। आचार्य शुक्ल कहते हैं – "हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम व्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरम्भ सूर ने दिखाया है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में।" साहचर्यमूलक संयोग शृंगार का उदाहरणद्रष्टव्य है –

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥

सूरदास ने कृष्ण-राधा और गोपियों के स्वच्छन्द-प्रेम, मानलीला, चीरहरण, रासलीला आदि प्रसंगों के माध्यम से प्रेम को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। सूर के इस प्रेम-चित्रण में कहीं-कहीं रीतिशास्त्र का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसमें कहीं भी वासना की कालिख नहीं है वरन् सम्पूर्ण प्रेमभाव आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित है और प्रिय के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव ईश्वर के प्रति समर्पण को इंगित करता है। इस प्रकार सूर ने बड़े सुन्दर ढंग से संयोग शृंगार में राधाकृष्ण के प्रणय-प्रसंग में भक्ति और आध्यात्मिकता का समन्वय कर दिया है।

सूरदास ने शृंगार के संयोगपक्ष का जितना उल्लासपूर्ण और सुखद चित्रण किया है, उनका वियोगपक्ष उतना ही करुण और मर्मस्पर्शी है। सूरसागर में वियोगावस्था का प्रारम्भ कृष्ण के मथुरा जाने के साथ होता है। कृष्ण के बिछोह में नन्द-यशोदा की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। उनके वात्सल्य-वियोग का अध्ययन आप पिछले पाठ में 'वात्सल्य-वर्णन' के अन्तर्गत कर चुके हैं। कृष्ण के मथुरा-गमन के साथ ही राधा और गोपियों का

प्रेम चिर-वियोग में परिणत हो जाता है और वे विरह-सागर में डूब जाती हैं। सूर ने काव्यशास्त्र में वर्णित विरह-दशाओं के अनुरूप गोपियों और राधा की दशा का मार्मिक चित्रण किया है। उनका भ्रमरगीत-प्रसंग प्रवासजनित वियोग के सन्दर्भ में उत्कृष्ट उदाहरण है। भ्रमर को माध्यम बनाकर गोपियाँ उद्धव और कृष्ण को कोसती हैं और अपने हृदय की मार्मिक व्यथा को प्रकट करती हैं। उनके विरह से समस्त प्रकृति भी व्याकुल हो जाती है। सूर ने विरह का प्रभाव प्रकृति पर भी समान रूप से दिखाया है, तभी तो कृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहाग्नि में जलकर यमुना श्यामवर्णी हो जाती है–

लखियत कालिन्दी अति कारी।
अहौ पथिक कहिय उन हरि सौ, भई विरह जुर कारी ॥

सूर ने शृंगार के वियोग पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है, दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी वृत्ति संयोग-पक्ष से अधिक वियोग-पक्ष में रमी है। इसका कारण यह है कि रति की आध्यात्मिक परिणति वियोग से ही सम्भव है क्योंकि इसमें संयोगजन्य सुख के समान न तो जड़ता होती है और न ही उथलापन वरन् विरह में क्रियाशीलता होती है, अनुभूति की गहराई होती है । सच तो यह है कि शृंगार को रसराजत्व प्रदान करने वाला तत्त्व वियोग ही है। सूर ने गोपियों और राधा के विरह के माध्यम से भक्त के हृदय की व्याकुलता और ईश-मिलन की लालसा का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया है। डॉ॰ नगेन्द्र का कथन है – "भक्ति के साथ शृंगार को जोड़कर उसके संयोग और वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रवास जनित वियोग के सन्दर्भ में भ्रमरगीत-प्रसंग तो सूर की काव्य-कला का उत्कृष्ट निदर्शन है।"

2.2.3.4. प्रकृति-चित्रण

सूरदास के आराध्य श्रीकृष्ण ब्रजभूमि में अवतरित हुए। उनके व्यक्तित्व का विकास ब्रज की उन्मुक्त प्रकृति की गोद में ही हुआ। बाल्यावस्था से किशोरावस्था की समस्त लीलाओं का रंग-स्थल ब्रज की प्रकृति ही रही। इस प्रकार प्रकृति श्रीकृष्ण की चिर सहचरी के रूप दिखाई पड़ती है। सूर ने कृष्णचरित्र-निरूपण में प्रकृति को विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। भ्रमरगीत का प्रसंग ब्रज के प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यद्यपि सूर ने प्रकृति-चित्रण स्वतन्त्र रूप में नहीं किया है किन्तु कृष्णलीलाओं की पृष्ठभूमि में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त सहज और आकर्षक रूप में प्राप्त होता है। ब्रज का नैसर्गिक प्राकृतिक सौन्दर्य संयोग और वियोग दोनों ही परिस्थितियों में उद्दीपन रूप में उभर कर आया है। कृष्ण और गोपियों के संयोग शृंगार का प्रारम्भ भी प्रकृति के प्रांगण में हुआ है। बसन्त ऋतु के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन हृदय में सहज ही उल्लास भर देता है–

सदा बसंत रहत जँह बास। सदा हर्ष जँह नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा तँह रो। सदा रूप मन्मथ चित्त चोर ॥

सूर के प्रकृति-चित्रण की प्रमुख विशेषता यह है कि उनके आराध्य सदैव ही प्रकृति की गोद में विचरण करते हैं – उनका गायें चराना, ग्वाल-बाल संग खेलना, गोवर्धन धारण करना, चीरहरण, महारास आदि सभी प्रसंग

प्रकृति से जुड़े हुए हैं। कृष्ण के सौन्दर्य-चित्रण में भी सूर ने प्रकृति से उपमान जुटाये हैं। सूर का प्रकृति-वर्णन विविधता से परिपूर्ण है। संयोग में जो प्रकृति कोमल और आकर्षक प्रतीत होती है वही प्रकृति वियोगावस्था में हृदय को दग्ध करती है –

बिन गोपाल बैरनि भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भईं भुंजै।
ए, ऊधौ, कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥

स्वयं श्रीकृष्ण भी मथुरा जाने पर ब्रज के प्राकृतिक सौन्दर्य – यमुना के किनारे और कुंज-लताओं की शीतल छाया को स्मरण कर कहते हैं –

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं?
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नन्द निवाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥

डॉ॰ रामरतन भटनागर के शब्दों में – "कृष्ण का विकास जैसे ब्रज-प्रकृति में होता है, उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है। ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, यह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है।"

सूर का भाव-सौन्दर्य अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने कृष्ण के बाल्यकाल से यौवनावस्था के विविध प्रसंगों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए अपनी मौलिकता और गहरी अनुभूतिमय पैठ के द्वारा हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। काव्य-सृजन में विविध रसों का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने वात्सल्य और विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन प्रमुखता से किया है। सूर ने कृष्ण की बालक्रीड़ाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और भावपूर्ण वर्णन कर वात्सल्य भाव को रस की कोटि पर पहुँचा दिया। कृष्ण के मथुरा जाने के उपरान्त राधा और गोपियों के प्रवासजन्य वियोग का वर्णन तो वियोग का उत्कृष्ट उदाहरण बन गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए।" स्पष्ट है कि सूर भावों के सम्राट्, हृदयगत मनोभावों के पारखी और विविध रसों के कवि हैं। उनकी प्रशंसा में एक दोहा प्रसिद्ध है –

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥

2.2.4. भ्रमरगीत का शिल्प-सौन्दर्य

शिल्प-सौन्दर्य से तात्पर्य है – 'काव्य का बाह्यरूप', जिसके अन्तर्गत भाषा, शैली, मुहावरे, अलंकार आदि तत्त्वों का समावेश होता है। ये तत्त्व भावों के वाहक होते हैं तथा इन्हीं के माध्यम से कवि अपने भावों को प्रभावी रूप से सम्प्रेषित करता है। सूर के काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही निखर कर आए हैं। उनका काव्य भाव की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित होकर कला के उच्चतम मानदण्डों को भी स्पर्श करता है । आचार्य द्विवेदी ने लिखा है कि – "सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में स्वयं कवि बह जाता है। वह अपने-आपको भूल जाता है । काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है।" इनके कलापक्ष को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है –

2.2.4.1. भाषा

सूर ने अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए लोकप्रचलित ब्रजभाषा को अपनी काव्यभाषा बनाया और अपनी प्रतिभा से उसे साहित्यिकता प्रदान की। इस प्रकार सूर ने ब्रजभाषा को काव्यभाषा के तौर पर स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – "सबसे बड़ी विशेषता सूरदास की यह है कि उन्होंने काव्य में अप्रयुक्त एक भाषा को इतना सुन्दर, मधुर और आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर-पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम-प्रतीति, भजन-भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ।"

सूर की भाषा ब्रजभाषा का व्याकरणिक आधार लिए हुए है साथ ही उसमें तत्सम, खड़ीबोली, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, अरबी और फारसी शब्दों का भी सुखद संयोग मिलता है। उनकी भाषा का एक महत्त्वपूर्ण गुण चित्रात्मकता है। सूर की प्रत्येक पंक्ति चित्र से युक्त है। उनका पाठक कृष्णलीला को सुनता नहीं वरन् सूर की आँखों से देखने का सुख अनुभव करता है। चित्रमय भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है –

लोचन चारु चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे॥
रतन जटित कुण्डल श्रवननि बर, गण्डम कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर-प्रतिबिम्ब मुकुर मँह ढूँढ़त यह छवि पाई॥
मुरली अधर विकट भौंहें करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नील सिखर तें धँसि धरनी ज्यों गंग॥

सूरदास की भाषा को लोकजीवन के अनुभवों से भरी लोकोक्तियाँ और मुहावरे और भी प्राणवान बनाते हैं। उनका सूरसागर लोकोक्तियों और मुहावरों का अक्षय भण्डार है। भ्रमरगीत में प्रयुक्त कुछ लोकोक्तियाँ और मुहावरे इस प्रकार हैं –

लोकोक्तियाँ –

खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को।

* * *

कहो, मधुप, कैसे समायेंगे एक म्यान दो खांड़े।

* * *

कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के संग गाँड़े।

* * *

सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े।

* * *

सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरुड़ागामी।

मुहावरे –

जापै लै आए हौं मधुकर ताके उर न समै है।

* * *

तुमसों प्रेमकथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास।

* * *

जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हे।

* * *

सूरदास नारियल जो विष को करहिं वन्दना कीन्हे।

* * *

वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।

सूरदास की भाषा की एक विशेषता उसमें संगीत का प्रवाह है। सूर के पदों में लोक-लय की ध्वनियाँ विद्यमान हैं जो उनके पदों को मोहक बनाती हैं। सूर के पद आज भी गाये और सुने जाते हैं उसका एक प्रमुख कारण उनकी गीतात्मकता है। नाद-सौन्दर्य ने भाषा और भाव दोनों के प्रभाव को बढ़ाया है तथा जन-मानस में सूर के पदों को अविस्मरणीय बना दिया है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा का कथन है कि – "सूर की कविता में संगीत की धारा इतनी सुकुमार चलती है कि यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हैं। सूरदास तो स्वभावतः ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें संगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाथी है कि वे पद संगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं।" राग धनाश्री का यह उदाहरण द्रष्टव्य है –

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूपरसराची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इन जोग-सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हटि नाव चलायो ये सरिता हैं सूखी॥

2.2.4.2. अलंकार-योजना

दण्डी ने कहा है – "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।" अर्थात् काव्य को शोभा प्रदान करने वाले धर्म (तत्त्व) ही अलंकार हैं। अलंकार दो प्रकार के माने गए हैं – (i) शब्दालंकार और (ii) अर्थालंकार। शब्दालंकार में कवि शब्द-प्रयोग में ऐसे कौशल का प्रयोग करता है कि उसमें चमत्कार या चारुता आ जाती है, वहीं अर्थालंकार में चारुता या चमत्कार शब्द पर नहीं उसके अर्थ पर निर्भर करती है। सूर के काव्य में अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं वरन् भावों के प्रभाव की वृद्धि के लिए किया है। इसके लिए उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का बहुलता से प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा का कथन उल्लेख्य है – "सूर के काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है क्योंकि शब्दालंकार तो वर्ण-सौन्दर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करते हैं। रूप सौन्दर्य के लिए उनका इतना महत्त्व नहीं, जबकि सूर का उद्देश्य रूप सौन्दर्य चित्रण और उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था।" अर्थालंकार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगकीट सम माने।

(– उपमा)

* * *

जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है।

(– रूपक)

* * *

मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।

(– हेतूत्प्रेक्षा)

* * *

सूरदास कहा लै कीजै थाही नदिया नाव रे।

(– रूपकातिशयोक्ति)

सूर के काव्य में शब्दालंकारों में यमक, श्लेष, अनुप्रास का स्वाभाविक प्रयोग मिलता है जो कविता के प्रभाव को बढ़ाने में सहायक ही सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त वक्रोक्ति का प्रयोग भ्रमरगीत में विशेष रूप से उल्लेख्य है क्योंकि इसी वक्रोक्ति ने भ्रमरगीत को अलौकिक आभा से मण्डित किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे॥

(– श्लेष)

* * *

कहिए कहा यहौ नहिं जानत काहि जोग है जोग।

(– यमक)

* * *

वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी।

(– अनुप्रास)

* * *

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े।

(– वक्रोक्ति)

स्पष्ट है कि सूर की अलंकार-योजना उनके काव्य के रसात्मक सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करने में पूर्णतः सफल हुई है।

कविता के नाद-सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए सूर ने अनुप्रास का प्रयोग किया है तो गोपियों के हृदय की व्यथा को व्यक्त करने में वक्रोक्ति सहायक बनी है। इसके साथ ही दृष्टान्त, उदाहरण, संभावना, प्रतीप, व्यतिरेक, स्मरण, निदर्शना, पुनरुक्ति-प्रकाश, असंगति, अन्योक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग ने काव्य के भाव-सौन्दर्य और शिल्प-सौन्दर्य में वृद्धि की है।

2.2.4.3. काव्य-रूप

सूरदास ने काव्य-सृजन के लिए मुक्तक पद परम्परा की गेय-शैली को अपनाया क्योंकि यह वह शैली है जिसमें जीवन की कोमलतम अनुभूतियों की प्रभावी अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। सूर द्वारा रचित सम्पूर्ण कृष्णकाव्य गीतकाव्य है जिसमें श्रीकृष्ण की लीलाओं को गीतों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सूर ने प्रबन्धकाव्य-परम्परा के स्थान पर मुक्तक पद परम्परा को अपनाया और कृष्ण की लीलाओं को फुटकल पदों के रूप में कहा। ये पद एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं वरन् प्रत्येक पद मुक्त पद है, स्वतन्त्र है। सूर ने भागवत कथा के प्रचलित प्रसंगों के आधार पर सूरसागर की रचना की किन्तु उन्होंने सूसागर को सुव्यवस्थित कथा रूप में प्रस्तुत नहीं किया वरन् भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को प्रेम-भक्ति की भावना में अभिभूत होकर संगीत के सुरों में प्रस्तुत किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुँजों के बीच फैले मुरझाए मनों को सींचने लगी। सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा कीथी। स्पष्ट है कि सूर का गीतिकाव्य मुक्तक पद परम्परा की अनमोल धरोहर है।"

सूर ने शब्द-शक्तियों का भी स्वाभाविक प्रयोग किया है। उनके कुछ पद सीधे सरल अभिधात्मक रूप में कहे गए हैं तो कुछ पदों में लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियों का चमत्कारी प्रयोग किया गया है। सूर के काव्य में मात्रिक और वर्णिक छन्दों की छटा दर्शनीय है। वे परम्परागत छन्दों को मिलाकर नये छन्द बनाने में सिद्धहस्त हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूर का शिल्प-सौन्दर्य भाव-सौन्दर्य के अनुरूप ही उच्च कोटि का है। उनके द्वारा प्रयुक्त बाहरी विधान उनकी भावाभिव्यक्ति को प्रभावी और चमत्कारपूर्ण बनाने में सहायक बने हैं। इस प्रकार सूर का काव्य समग्र रूप से प्रशंसनीय है।

2.2.5. वाग्वैभव और विरह-वर्णन

2.2.5.1. वाग्वैभव

सूरदास के भ्रमरगीत को सरस और आकर्षक बनाने में गोपियों की वाक्पटुता का विशेष योगदान है। उनकी वाक्पटुता उक्ति-वैचित्र्य से प्रेरित है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – "किसी बात को कहने के जाने कितने टेढ़े-मेढ़े ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है।" अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से भ्रमरगीत के वाग्वैभव को दो बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं – (i) वक्रोक्ति और (ii) वाग्विदग्धता।

(i) वक्रोक्ति – किसी बात को अनूठे ढंग से कहना ही वक्रोक्ति है। यह एक शब्दालंकार भी है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार है – "जब किसी व्यक्ति के एक अर्थ में कहे गए शब्द या वाक्य का कोई दूसरा व्यक्ति जानबूझ कर दूसरा अर्थ कल्पित करे, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।" इसके पुनः दो भेद

स्वीकार किए जाते हैं – (1) श्लेष वक्रोक्ति तथा (2) काकु वक्रोक्ति। जहाँ शब्द के श्लेष से कई अर्थ होने के कारण श्रोता अन्य अर्थ निकालता है वहाँ 'श्लेष वक्रोक्ति' होती है और जहाँ कण्ठ की ध्वनि या अन्य किसी प्रकार से कहे गए वाक्य का श्रोता दूसरा अर्थ निकालता है वहाँ 'काकु वक्रोक्ति' होती है। भ्रमरगीत के प्रसंग में वक्रोक्ति के अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं। सूर की वक्रोक्तियों में वक्रोक्ति अलंकार का शब्द-चमत्कार नहीं वरन् भाव-प्रसूत वाणी की स्निग्धता है अतः इन्हें वक्र-उक्तियों के अर्थ में ही स्वीकार करेंगे, वक्रोक्ति अलंकार के रूप में नहीं। सूर की ये वक्र-उक्तियाँ हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

हमरे कौन जोग व्रत साधे ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ?

* * *

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जाने।

* * *

बुझैं समाचार मुख ऊधो, कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई।

* * *

देन आए ऊधो मत नीको।
आवहु री ! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको ।

* * *

जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते।

(ii) वाग्विदग्धता – सूरदास की गोपियाँ बोलने की कला में माहिर हैं। उन्हें अपनी बात को कहने के जाने कितने ढंग आते हैं। हृदय में जलती विरहाग्नि को उन्होंने अपनी वाग्विदग्धता से विनोदशीलता में बदल दिया। उनकी कटु बातें और उलाहने उनके एकनिष्ठ प्रेम को दर्शाते हैं। उद्धव के प्रति उनके कथन गाली-गलौज न होकर प्रेमपूर्ण प्रहार हैं। उन्होंने अपनी सहज और प्रयत्नहीन वाग्विदग्धता से उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को सिरे से नकार दिया। अपने वाक्-कौशल से उन्होंने कृष्ण की निष्ठुरता और कुब्जा के प्रसंग पर तीखे व्यंग्य कसे हैं जिससेसम्पूर्ण भ्रमरगीत ही व्यंग्य और विनोद का काव्य बन

गया है। साथ ही, उनके हृदय की अथाह पीड़ा भी उनके संवाद से सहज ही उजागर हो जाती है। जैसे –

ऊधो ! हम अजान मति भोरी।
कंचन को मृग कौन देख्यों, कौन बाँध्यो डोरी।

* * *

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
सपने की पहिचानि जानि के, हमहिं कलंक लगावत?

* * *

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो।

स्पष्ट है कि सूर ने भागवत के लघु प्रसंग को अति भाव-भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया है और गोपियों के वाग्वैभव के माध्यम से निर्गुण पर सगुण और ज्ञान पर प्रेम की विजय दिखाई है। सूर की गोपियाँ अत्यन्त वाक्-कुशल हैं। उनके माध्यम से सूर ने भ्रमरगीत में वचन-वक्रता, व्यंग्य, विनोदशीलता को स्थान दिया है। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भ्रमरगीत व्यंग्य और विनोद का काव्य बन गया है। भ्रमरगीत का वाग्वैभव हिन्दी साहित्य जगत् को सूर की अनुपम देन माना जा सकता है।

2.2.5.2. विरह-वर्णन

भ्रमरगीत विप्रलम्भ शृंगारप्रधान रचना है जिसमें सूर ने विरह की समस्त दशाओं का मार्मिक चित्रण किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – "वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है या सामान्यतः हो सकता है, वे सब इसके भीतर मौजूद हैं।" विप्रलम्भ शृंगार को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। भोज के अनुसार "जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त हो लेकिन अभीष्ट को न पा सके, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार कहा जाता है।" आचार्य भानुदत्त के अनुसार "अभीष्ट की अप्राप्ति विप्रलम्भ है।"

इस आधार पर कहा जा सकता है कि संयोग के सुख का अभाव वियोग है। संयोग में जो परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं वही परिस्थितियाँ वियोग में प्रतिकूल हो जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रेम की सच्चाई और परिपक्वता विरह में ही होती है। संयोग से मनुष्य ऊब सकता है किन्तु वियोग की महत्ता सदैव बनी रहती है। प्रेम का निखार विरह से ही आता है।

सूर ने भ्रमरगीत में विरह के व्यापक क्षेत्र का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। आचार्यों ने वियोग के चार भेद स्वीकार किए हैं – (i) पूर्वानुराग, (ii) मान, (iii) प्रवास और (iv) करुण। भ्रमरगीत में कृष्ण के मथुरा-गमन के साथ ही प्रवासजन्य वियोग शृंगार का आरम्भ होता है अतः वहाँ वियोग का प्रवास नामक भेद है। कृष्ण के मथुरा जाने के साथ ही ब्रज के सारे सुख भी निर्वासित हो जाते हैं। माता यशोदा, राधा-गोपियाँ और ब्रजवासी ही नहीं वरन् ब्रज के पशु-पक्षी और प्रकृति भी कृष्ण के वियोग में तड़पने लगते हैं। यमुना विरह-अग्नि में जल कर काली हो जाती है तो गायें भी पछाड़ें खाने लगती हैं –

परति पछार खाय छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मनहुँ सूर काढ़ि डारी है वारि मध्य ते मीन।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की दशा अत्यन्त दारुण हो जाती है। वे कृष्ण को स्मरण कर निरन्तर रोती रहती हैं। उनके नेत्रों से बहती अश्रुधारा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी आँखें सावन-भादो बन गई हैं –

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब ते स्याम सिधारे।

संयोग में प्रकृति के जो उपकरण सुखकारी थे, वही उपकरण विरह के प्रभाव से कष्टकारी हो जाते हैं –

बिन गोपाल बैरनि भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥

सूर ने राधा के वियोग की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि राधा का वियोग आँसुओं में डूबी लेखनी से लिखा गया हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "मिलन समय की मुखरा लीलावती चंचला और हँसौड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्य गोपियाँ बक-झक करती हैं पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल जाता है।" उद्धव ने कृष्ण के समक्ष राधा की विरह दशा का वर्णन इस प्रकार किया है –

हरि आए सो भली कीनी।
मोहिं देखत कहि उठी राधिका अंक तिमिर को दीनी॥
तनु अति कँपति विरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी॥
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद सलिल भय भीनी॥
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटि कंचुकि झीनी॥
मनो प्रेम के पख परेवा याही तें पढ़ि लीनी॥
अवलोकति यहि भाँति मानों छूटी अहिमनि छीनी॥
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लगि है अयान मति हीनी॥

भ्रमरगीत में सूर ने वियोग शृंगार का सूक्ष्मतर स्वरूप विभिन्न परिस्थितियों और उद्भावनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। काव्यशास्त्र में विरह की दस दशाएँ स्वीकार की गई हैं – (i) अभिलाषा, (ii) चिन्ता, (iii) स्मरण, (iv) उद्वेग, (v) प्रलाप, (vi) उन्माद, (vii) व्याधि, (viii) जड़ता, (ix) मूर्च्छा और (x) मरण। सूर ने इन सभी अवस्थाओं का स्वाभाविक प्रयोग करते हुए गोपियों और राधा की विरह-व्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। इनके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अभिलाषा –

फिरि ब्रज बसहु गोकुल नाथ।
देहु दरसन दन्द -नन्दन, मिलन की जिय आस।
सूर हरि के रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥

चिन्ता –

मेरे मन इतनी सूल रही।
एक दिवस मेरे गृह आये मैं ही मथती दही।
देखि तिन्हें हौं मान कियो सो हरि गुसा गही॥

स्मरण –

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिके छूटत?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अंतरगति यों लूटत॥
चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुन गावत।
नटवर भेस नंदनंदन को वह विनोद गृह वन तें आवत॥
चरनकमल की सपथ करति हौं यह सँदेस मोहि विष सम लागत।
सूरदास मोहि निमिष न बिसरत मोहत मूरति सोवत जागत॥

उद्वेग-प्रलाप –

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बारम्बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि के ह्वै गई स्याम की पाती॥

सूर ने शास्त्रीय विरह दशाओं के अतिरिक्त अनेक मार्मिक दशाओं का वर्णन किया है जिनमें से कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

सौतिया डाह –

मधुकर! कान्ह कही नहीं हो हीं।
यह तो नई सखी सिखाई है निज अनुराग बरोही।
सँचि राखी कूबरीपीठि पें ये बातें चकचोही॥

प्रिय दर्शन की कामना –

ऊधो ! पा लागौं भले आए।
तुम देख जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाए।
सूरदास प्रभु यहै सूल जिय बहुरि न चरन दिखाए॥

विरह से प्रेम – इस दशा में विरही को विरह से प्रेम होने लगता है क्योंकि विरह का उद्गम-स्रोत प्रेम ही है। गोपियाँ भी इस दशा को प्राप्त करती हैं और कहती हैं –

ऊधो ! विरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै।
सूर गोपाल प्रेमपथ जल ते कोउ न दुखहि डरै॥

आत्म-समाधान – इसका अर्थ है, 'स्वयं को झूठी तसल्ली देना'। गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में आकण्ठ डूबी हुई हैं और कृष्ण के मथुरा-प्रवास के कारण वे विरहाग्नि में जलने लगती हैं। विरह-तप्त होकर वे "प्रीति करी काहु सुख न लह्यौ।" की बात कहती हैं किन्तु उनका अन्तर्मन प्रिय कृष्ण के विरह में भी तसल्ली ढूँढता है और वे आत्म-समाधान की दशा में आ जाती हैं। स्वयं को आश्वासन देते हुए कहती हैं–

हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलैं तो नीको, नातरु जग जस गायो॥

अदम्य आशा – अदम्य आशा विकट परिस्थितियों में प्रेम के लिए संजीवनी का काम करती है। विरहाकुल गोपियों के हृदय में अपने प्रेम के प्रति पूर्ण विश्वास है कि कृष्ण कुब्जा के जाल में फँसकर गुमराह हो गए हैं किन्तु अन्ततः वे हमारे हैं। इसी अदम्य विश्वास और आशा से युक्त होकर वे कहती हैं –

ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो॥

चित्त की निर्मलता – विरह-अग्नि में तप्त हो कर हृदय निर्मल हो जाता है। मान, गर्व, वासनाएँ सभी लुप्त हो जाती हैं। इसी भाव को व्यक्त करता उदाहरण द्रष्टव्य है –

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होउ सो होउ'।
मिटि गयो मान परेखो ऊधो, हिरदय हतो तो होउ॥

प्रिय के सुख की कामना – प्रेम की गहराई इस बात पर निर्भर करती है कि विरही अपने सुख के लिए प्रिय को पाना चाहता है या प्रिय के सुख में अपना सुख मानता है। इस स्थिति में मिलन की आशा समाप्त हो जाती है और प्रिय के सुख की कामना सर्वोपरि हो जाती है।

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

इस प्रकार विभिन्न विरह दशाओं को पार करता हुआ गोपियों का प्रेम अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है और वे कृष्ण के सुख में ही अपना सुख मानती हैं।

भ्रमरगीत की एक बात उल्लेखनीय है कि इसमें गोपियों के विरह का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया गया है किन्तु कृष्ण के विरह का वर्णन उस रूप में नहीं मिलता। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि कृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध परमात्मा और आत्मा का है अतः कृष्ण के प्रेम का निरूपण गोपियों के समान न करना उचित ही है। फिर भी सूर ने एक-दो स्थलों पर कृष्ण के प्रेम और विरह का सुन्दर वर्णन किया है, जैसे –

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं?

अतः स्पष्ट है कि सूर ने प्रेम और विरह की विविध अन्तर्दशाओं की मार्मिक व्यंजना की है। विरह की उद्‌भावनाएँ इतनी मनोवैज्ञानिक और अनुभूतिपूर्ण हैं कि जगह-जगह करुणा आ-आकर कण्ठों को अवरुद्ध और नेत्रों को आँसुओं से तर कर देती है। सूर का विरह-वर्णन साहित्य जगत् में अनुपम है।

2.2.6. पाठ-सार

भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास ने भागवत कथा को आधार बनाकर 'सूरसागर' की कथा-योजना की। इसमें वर्णित उद्धव-गोपी संवाद जो भ्रमरगीत नाम से प्रसिद्ध है, को सूर ने नवीन उद्‌भावनाओं और कोमल कल्पनाओं से भावों की विविधता से परिपूर्ण किया है। भावों की सुन्दर अभिव्यंजना के लिए कला पक्ष को सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है, परिणामस्वरूप भ्रमरगीत का काव्य-सौष्ठव अत्यन्त प्रभावी और मर्मस्पर्शी बन गया है। भावपक्ष में जहाँ भक्ति-भावना, वात्सल्य-वर्णन, शृंगार-वर्णन और प्रकृति-चित्रण में सूर ने अपनी मौलिकता और गहरी अनुभूति का प्रयोग कर हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए हैं वहीं कलापक्ष में छन्द-अलंकार-योजना, शब्द-शक्तियों का प्रयोग, लोकोक्तियों-मुहावरों का प्रयोग और गेय शैली को अपनाकर सूर ने भ्रमरगीत को प्रभावी और चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

सूरदास की गोपियों की वाक्‌पटुता से भ्रमरगीत अत्यन्त सरस और आकर्षक बन गया है। सूर ने वक्रोक्ति और वाग्विदग्धता का प्रयोग करते हुए जहाँ एक ओर गोपियों के अन्तर्मन की दशा को मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी ओर निराकार-निर्गुण ब्रह्म को अत्यन्त सहजता और सरलता से नकार दिया है। वाग्वैभव से भ्रमरगीत में व्यंग्य और विनोद का स्वाभाविक पुट आ गया है जो इसे सरसता प्रदान करता है। सूर ने भ्रमरगीत में विरह-वर्णन के लिए काव्यशास्त्र में वर्णित विरह की समस्त दशाओं का मार्मिक चित्रण किया ही है। इसके साथ ही अनेक ऐसी दशाएँ भी अत्यन्त प्रभावी रूप में भ्रमरगीत में स्थान पा गयी हैं जिनसे गोपियों का आत्मिक प्रेम अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है। अतः कहा जा सकता है कि सूर का भ्रमरगीत भावपक्ष और कलापक्ष से युक्त होकर काव्य-सौष्ठव से समृद्ध है। उनका विरह-वर्णन और वाग्वैभव हिन्दी साहित्य जगत् में विलक्षण है।

2.2.7. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य-सौष्ठव से आप क्या समझते हैं ?
2. सूर की भक्तिभावना पर टिप्पणी लिखिए।
3. "किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर। किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर ॥" का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. 'वक्रोक्ति अलंकार' की परिभाषा उदाहरण सहित दीजिए।
5. काव्यशास्त्र में विरह की कितनी दशाएँ बताई गई हैं ? विवरण दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भ्रमरगीत के भाव-सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. "सूर का काव्य कला के उच्चतम मानदण्डों को स्पर्श करता है।" उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए भ्रमरगीत के कलापक्ष की विवेचना कीजिए।
3. "सूर का विरह-वर्णन साहित्य जगत् में अनुपम है।" कैसे ? स्पष्ट कीजिए।
4. भ्रमरगीत की प्रसिद्धि में वाग्वैभव की भूमिका बताइए।

2.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ हरदयाल (सम्पादक), (2014), हिन्दी साहित्य का इतिहास, नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस ISBN : 81-7198-036-8.
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, (2013), हिन्दी साहित्य का इतिहास, जयपुर, यूनिक ट्रेडर्स.
3. चतुर्वेदी, डॉ॰ राजेश्वर प्रसाद, सूरदास-कृत भ्रमरगीत-सार, लखनऊ, प्रकाशन केन्द्र.
4. प्राचीन भारतीय साहित्यिक कवि, जयपुर, राज पब्लिशिंग हाऊस, ISBN : 81-89326-81-3.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 3 : तुलसी के राम का स्वरूप, कबीर के राम और तुलसी के राम में साम्य-वैषम्य

इकाई की रूपरेखा

2.3.00. उद्देश्य कथन
2.3.01. प्रस्तावना
2.3.02. कबीर का आविर्भाव
2.3.03. कबीर के राम
2.3.04. तुलसी का आविर्भाव
2.3.05. तुलसी के राम
2.3.06. कबीर के राम और तुलसी के राम में वैषम्य
2.3.07. कबीर के राम और तुलसी के राम में साम्य
2.3.08. पाठ-सार
2.3.09. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
2.3.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.3.11. बोध प्रश्न

2.3.00. उद्देश्य कथन

मध्यकालीन सन्त और भक्तकवियों में राम-नाम के प्रति अगाध श्रद्धा देखी जाती है। सभी सन्त और भक्तकवियों ने 'नाम-सुमिरण' का उपदेश किया है। भक्तिकाव्य-परम्परा के निर्गुण और सगुण, दोनों परम्पराओं के कवि 'नाम-स्मरण' एवं उसकी कृपा से स्पन्दित हैं। ब्रह्म के असंख्य नामों में से 'राम' नाम ही अधिकांश को प्रिय रहा है। मध्यकाल के प्रतिनिधि कवि सन्त कबीरदास और भक्त तुलसीदास ने भी 'राम' शब्द की ही महिमा का बखान किया है। यह 'राम' नाम क्या है ! क्या यह उस अदृष्ट सत्ता का वाचक शब्द है जिसकी क्षमता और इच्छा से यह सृष्टि संचालित हो रही है ! अथवा किसी उदात्त चरित्र वाले मनुष्य का नामसूचक शब्द है ! क्या वे इतिहासप्रसिद्धपुरुष रामचन्द्र ही इन सन्तकवियों और भक्तकवियों के आराध्य हैं ! अथवा महान् आदर्श प्रस्तुत करने वाले रामचन्द्र से भिन्न भी राम का कोई स्वरूप है ! भक्तकवियों ने जिन अवतारी रामचन्द्र की वन्दना की है, अपने किन गुणों के कारण वे सदियों से जन-जन के कण्ठहार बने हुए हैं। और, सन्तकवियों ने जिस परब्रह्म राम की प्राप्ति को ही जीव (आत्मा) का एकमात्र लक्ष्य कहा है, उस परब्रह्म राम का स्वरूप कैसा है ! इस तरह के अनेक सवाल जिज्ञासु के मन में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं।

कबीर और तुलसी दोनों द्वारा 'राम' नाम को महत्त्व दिये जाने से प्रायः जन-सामान्य में यह भ्रान्ति देखी जाती है कि वहाँ दाशरथि राम को ही दोनों का आराध्य मान लिया जाता है। जबकि वास्तविकता यह है कि कबीर और तुलसी के राम में पर्याप्त स्वरूपगत भिन्नता है। तुलसी दशरथपुत्र राम के उपास्य हैं जबकि कबीर ने 'राम'

नाम का मर्म दाशरथि राम से सर्वथा भिन्न घोषित करते हुए निर्गुण-निराकार परब्रह्म को 'राम' कहा है। ऐसे में कबीर और तुलसी के आराध्यों के स्वरूपगत वैभिन्न्य को समझने की सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है। साथ ही यह जानने की उत्कंठा भी होती है कि कबीर और तुलसी के राम-नाम सम्बन्धी चिन्तन का प्रमुख आधार क्या है ? राम-नाम के प्रति उनकी इस लगन के पीछे क्या कारण थे ? उनके पीछे कौनसी दृष्टि काम कर रही थी ? उनके पीछे दर्शन-चिन्तन क्या था ?

प्रस्तुत पाठ में कबीर और तुलसी-निरूपित 'राम' का स्वरूप विश्लेषित करते हुए उनकी राम-नाम सम्बन्धी अवधारणा की विस्तृत विवेचना की गई है एवं कबीर और तुलसी के राम में साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। एक बात और, कबीर और तुलसी के सामाजिक सरोकार बहुत गहरे रहे हैं, ऐसी स्थिति में बहुत स्वाभाविक है कि राम के विशिष्ट रूप को निरूपित करने के मूल में उनके सामाजिक दृष्टिकोण का भी योगदान हो। प्रस्तुत पाठ में इस दृष्टि से भी राम की स्वरूपगत भिन्नता को यथास्थान देखा-परखा गया है और प्राप्त निष्कर्षों से कबीर और तुलसी के सामाजिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक सरोकारों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. निर्गुण सन्त काव्य-परम्परा के प्रतिनिधि कवि कबीर के आविर्भाव की पृष्ठभूमि समझते हुए उनके 'राम' से भली-भाँति परिचित हो सकेंगे।
ii. सगुण भक्तकवि तुलसीदास के आविर्भाव की पृष्ठभूमि से परिचित होते हुए उनके 'राम' के विराट् एवं व्यापक स्वरूप को जान सकेंगे।
iii. कबीर और तुलसी की राम-नाम सम्बन्धी अवधारणा को समझ सकेंगे।
iv. कबीर के राम एवं तुलसी के राम के मध्य साम्य तथा वैषम्य की पहचान कर सकेंगे।

2.3.01. प्रस्तावना

भक्तिकाव्य हिन्दी कविता की सर्वोपरि उपलब्धि है। भक्ति को काव्य-मूल्य एवं जीवन्मूल्य के रूप में व्याख्यायित एवं स्थापित करने वाली भक्तिकाव्य-परम्परा का विस्तार मध्यकाल की लगभग चार शताब्दियों में परिव्याप्त है। मध्यकाल के सामन्तवादी अँधेरे में भक्तिकाव्य मानवतावादी चेतना की प्रथम प्रखर अभिव्यक्ति है। अपने वैविध्य, आनुभूतिक गहराई, लोकव्यापी स्वरूप एवं अखिल भारतीय भारतीय चेतना को अभिव्यक्त करने वाली इस कविता के कारण भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाने का गौरव प्राप्त है। वस्तुतः भक्तिकाव्य का आधार भक्तिआन्दोलन है। मानवीय प्रवृत्ति निरन्तर दोलायमान है तथा मनुष्य जैविकता और देवत्व के सन्धिस्थल पर खड़ा है। विकृत मनःस्थिति में भक्ति नहीं हो सकती। भक्ति के लिए अंतस् में सात्विकता का प्राकट्य अनिवार्य है। निरन्तर ईश्वरीय चिन्तन से ही वह सात्विक परिवेश तैयार हो सकता है जहाँ ईश्वर को प्राप्त करना सम्भव है। 'नाम-स्मरण' ईश्वरीय गुणों का निरन्तर चिन्तन-मनन करते हुए भगवदनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का साधन है। इसीलिए निर्गुण सन्तकवियों और सगुण भक्तकवियों ने 'नाम स्मरण' को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वास्तव में, नाम-स्मरण की पूरी प्रक्रिया मनुष्य के मानसिक बदलाव की प्रक्रिया का प्रारम्भ है।

नाम-स्मरण द्वारा ही मन की फिसलन को रोका जा सकता है। कबीर और तुलसी दोनों ही सोते-जागते आठों प्रहर 'राम' नाम का सुमिरण करते हैं यद्यपि दोनों के 'राम' एक न होकर भिन्न हैं। निर्गुण सन्तों और सगुण भक्तों के राम में क्या भेद है ! इसे जानने से पहले आइए हम यह जान लें कि रामानन्द-प्रवर्तित निर्गुण-सगुण समन्वित रामभक्ति के उस दौर में किन परिस्थितियों के मध्य निर्गुणोपासक सन्त कबीरदास का आविर्भाव हुआ।

2.3.02. कबीर का आविर्भाव

भक्तिकाल से बहुत पहले ही समाज में व्याप्त दोषों के परिमार्जन के लिए भक्ति के एक ऐसे स्वरूप की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी जो सभी वर्गों के लिए उदार, सहज, सुगम तथा सुलभ हो; जो पाखण्ड, आडम्बर, भेदभाव, संकीर्णता, भटकाव, दुराव-छिपाव से रहित हो; जो समाज-हितकारी एवं मर्यादित हो एवं जो धर्म को सरल, स्पष्ट एवं सर्वग्राह्य बनाने में सहायक हो।

विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग भारत में सुधारवादी प्रयास आरम्भ हो गए थे। उत्तर-भारत में भक्ति और दर्शन की जो धाराएँ प्रवाहित हुईं, कालान्तर में उनमें आन्तरिक और बाह्य कई परिवर्तन हुए। वैदिक उपासना पद्धति की प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्मों की अनीश्वरवादी साधनाओं का आविर्भाव हुआ और बाद में उनमें भी विभिन्न मत-मतान्तर उत्पन्न हुए। बौद्ध-धर्म के विरोध में तथा वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के लिए शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। शंकर के अद्वैतवाद की प्रतिक्रियास्वरूप आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की और भक्ति का सम्यक् प्रसार किया। रामानुजाचार्य के साथ ही वैष्णव-भक्ति के अन्य कई प्रतिष्ठापक आचार्य हुए जिनमें निम्बार्काचार्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। इन सभी वैष्णवभक्त-आचार्यों ने विष्णु के अवतारी स्वरूप की वन्दना की किन्तु इनके सिद्धान्तों की जटिलता और इनके अनुयायियों की धार्मिक कट्टरता ने जाति-भेद तथा वर्ण-भेद को बढ़ावा दिया। आचार्य रामानुज की शिष्य-परम्परा में रामानन्द स्वामी हुए। उन्होंने युगीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भक्तिमार्ग को उदार बनाया। उन्होंने ऊँच-नीच, देशगत-वर्णगत-जातिगत भेदभाव को मिटाकर भक्ति को सर्वसुलभ बनाने का प्रयास किया। उन्होंने विष्णु या नारायण के स्थान पर लोक में सर्वाधिक प्रसिद्ध ईश्वर के 'राम' रूप को मान्यता प्रदान की। उन्होंने कर्मकाण्ड-समुच्चय का विरोध किया तथा संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा द्वारा ही मताभिव्यक्त करने की शुरुआत की। "रामानन्द ने उत्तरी भारत की परिस्थितियों को बहुत अच्छी तरह से समझा। उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि नीच वर्ण के लोगों के हृदय में सच्ची लगन पैदा हो गई है। उसे दबा देना उन्होंने अनुचित समझा। अतएव उन्होंने परमात्मा की भक्ति का दरवाजा सबके लिए खोल दिया। उन्होंने जिस बैरागी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था, उसमें जो चाहता, प्रवेश कर सकता था। भगवद्भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वह भावना उत्पन्न कर दी, जिसके अनुसार 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का कोई ॥' भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वर्ण-विभेद को ही नहीं, धार्मिक विद्वेष को भी स्थान न दिया और ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सबको शिष्य बनाया। एक ओर तो उनके अनन्तानन्द, भावानन्द आदि ब्राह्मण शिष्य थे, ... तो दूसरी ओर उनके शिष्यों में नीच वर्ण के लोग भी थे ... इनमें धन्ना जाट था, सैन नाई, रैदास चमार और कबीर मुसलमान जुलाहा।"[1] यह उदारता रामानन्द की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है, किन्तु रामानन्द की यह उदारता उपासना के क्षेत्र तक ही सीमित रही "कर्म के क्षेत्र में

शास्त्रमर्यादा इन्हें मान्य थी।"[2] रामानन्द ने समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था का समर्थन किया तथा भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों की योजना को स्वीकार किया। फलतः वर्गभेद को बढ़ाया ही मिला। आगे चलकर रामानन्द के ब्राह्मण शिष्यों ने रामभक्ति को लेकर चलने वाली वैष्णवधारा को कट्टरता की सीमा में बाँधा तथा निम्न वर्ण के शिष्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा तथा हेय समझा। इन वैष्णव आचार्यों ने विष्णु के अवतारों की नाना प्रकार से स्तुतियों, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि सारहीन बाहरी विधि-विधानों को ही भक्ति मान लिया।

सिद्धों, नाथों तथा वैष्णवों के इन आडम्बरपूर्ण तथा भ्रमित करने वाले मतों के अलावा उस समय सूफ़ी सम्प्रदाय का भी प्रसार हो चला था। सूफ़ी-सम्प्रदाय के कवियों ने कल्पित हिन्दू राजाओं की कहानियों के द्वारा लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेम-मार्ग का महत्त्व बताया जो साधक को अपने प्रियतम ईश्वर से मिलाता है। लौकिक कथाओं को ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम बनाने के प्रयास में सूफ़ी काव्यों में नायिका के मांसल सौन्दर्य, रति तथा काम-केलियों का वर्णन ही प्रमुखता से होने लगा। फलतः जन-सामान्य इस ओर भी उदासीन ही रहा।

तत्कालीन समाज में प्रचलित नाथपंथ, वज्रयानी सिद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, सूफ़ी आदि सम्प्रदाय अपना प्रभाव जमाने के लिए एक-दूसरे का विरोध करने में लगे हुए थे। परिणामतः किंकर्त्तव्यविमूढ़ भारतीय समाज कई तरह के अन्तर्विरोधों में संघर्षरत होता चला गया। धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त अव्यवस्था, स्वार्थपरता एवं आडम्बरता ने जन-सामान्य को धर्म-विमुख ही किया।

धर्मों की यह विविधता जहाँ एक ओर सामाजिक विषमता को बढ़ा रही थी वहीं साथ ही इस्लाम के बढ़ते प्रभाव ने भी भारतीय जन-मानस को उद्वेलित किया। मुस्लिम शासकों के इस्लाम के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के संघर्ष को बढ़ावा दिया। मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा नर-संहार करना, धन-लूटना, धार्मिक स्थानों को ध्वस्त करना, नारियों के सतीत्व को भ्रष्ट करना और इस्लाम स्वीकार करने के लिए इतर धर्मावलम्बियों को विवश करने की प्रवृत्तियों ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य को तो बढ़ाया ही, साथ ही हिन्दुओं में भी ब्राह्मण और अब्राह्मण की खाई और गहरी हुई। इन धार्मिक अन्तर्विरोधों और सामाजिक विशृंखलताओं ने जन-मानस को व्यथित कर दिया था, जीवन-रस बाधित और निर्वाह दुष्कर हो रहा था। फलस्वरूप प्राचीन विश्वासों और धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा। हिन्दुओं की आँखों के सामने अपने सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिशाली देवी-देवताओं के मन्दिर-ध्वंस, मूर्ति-भंजन होने पर कोई चमत्कार नहीं होना, उनकी धार्मिक पूजा, सेवा, अर्चना के प्रति अनास्था बढ़ाने लगा। तत्कालीन हिन्दू शासक मुस्लिम आक्रान्ताओं से उन मूर्तियों-मन्दिरों की रक्षा करने में विफल रहे थे, ऐसे में उन राजा-महाराजाओं के प्रति भी अविश्वास पनपा। दूसरी ओर गरीब मुसलमान जनता के लिए भी जीवन जीना सहज नहीं रहा था। मुसलमानों में भी विभिन्न वर्ग जन्म ले चुके थे तथा शोषित वर्ग अत्याचारी, अन्यायी और अनुदार शासकों के प्रति असन्तुष्ट था।

इस प्रकार तत्कालीन समाज में उच्च-वर्ग के प्रति विद्रोह पनपने लगा था तथा जनता की अपने दिखावटी, बनावटी, सारहीन तथा आडम्बरपूर्ण धर्म के प्रति आस्था समाप्त होने लगी थी। लोग नयी परिस्थितियों

के अनुसार सोचने को विवश हो गए थे, ऐसे समय में एक प्रतिभासम्पन्न, निर्भीक, तेजस्वी एवं प्रखर व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो इस धार्मिक अन्तर्विरोधों और सामाजिक विशृंखलताओं में से समन्वय एवं एकता का मार्ग निकाल सके। इन्हीं परिस्थितियों में सन्त कबीर का आविर्भाव हुआ। "वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे, जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। ... वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे । वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गए थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानों प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। ... जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ से एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर से सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।"[3] वस्तुतः कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जबकि देश के वातावरण में विविध तत्त्व अनुकूल और प्रतिकूल दोनों रूपों में समाहित थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में बढ़ते हुए वैमनस्य को बड़ी विकलता से देखा, न केवल हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष वरन् हिन्दू धर्म में घुसे दम्भ और पाखण्ड की निन्दा तथा वर्ण-भेद से फैली कटुता को मिटाने का प्रयास भी कबीर ने किया। उन्होंने सामाजिक-ऐक्य के लिए किसी नये वाद, मत, पंथ या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की और न ही वे किसी सम्प्रदाय के अनुवर्तक (अनुयायी) ही बने। उन्होंने तो आडम्बरों, पाखण्डों और कुरीतियों का विरोध किया फिर चाहे वे हिन्दू-धर्म में हों या मुस्लिम धर्म में। धार्मिक कृत्रिमता को कबीर ने बड़े क्षोभ से देखा। यदि धर्म की वास्तविकता जनेऊ में नहीं थी तो सुन्नत में भी नहीं थी –

कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जानै भेऊ।
मन मुसले की जुगति न जाँनै, मति भूले द्वै दीन बखानै ॥[4]

जिस धर्म में सार्वजनीनता न हो, जो अखण्ड मानव समाज के साथ लागू न हो सके, कबीर उसे स्वाभाविकता से वंचित ही मानते हैं, इसीलिए तो पण्डितों और मुल्लाओं के धार्मिक बाह्याचारों के चंगुल से मुक्ति पाते हुए उन्होंने कहा था –

हमारा झगरा रहा न कोऊ। पण्डित मुल्ला छोड़े दोऊ॥[5]

2.3.03. कबीर के राम

कबीर द्वारा ब्रह्म के लिए प्रयुक्त राम, हरि, नारायण, मुकुन्द जैसे शब्दों के कारण कबीरपंथ के अनुयायी इन्हें वैष्णव मानते हैं, तो तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा जैसे बाह्याचारों के प्रति इनकी अनास्था एवं अवतारवाद तथा शास्त्रविहित नियमों के प्रति इनका विरोध इन्हें निर्गुणोपासक सिद्ध करता है । मुस्लिम मतावलम्बी इनके एकेश्वरवाद से प्रभावित हो इन्हें इस्लामिक ग्रन्थों से प्रभावित मानते हैं, तो उनके द्वारा ईश्वर के लिए 'कर्त्ता' शब्द

का प्रयोग करना तथा 'एक ज्योति मात्र से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है' ऐसा कहने से "कर्नल मालकन ने ... कबीर साहब को सूफ़ी सम्प्रदाय का होना बतलाया है और गुलाम सरवर ने इन्हें स्पष्ट शब्दों में शेख तकी का शिष्य तक मान लिया है।"[6] वस्तुतः कबीर की वाणी में हिन्दू-धर्म का अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णवों की भक्तिमय उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, बौद्धधर्म का शून्यवाद, अहिंसा, मध्यममार्ग, इस्लाम का एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव तथा सूफ़ियों की प्रेम-भावना समायी हुई है। कबीर ने सभी धर्मों की महत्त्वपूर्ण एवं उत्तम बातों को समन्वित कर तथा विकृतियों को परिष्कृत कर भक्ति का एक नया मार्ग लोगों को दिखाया जो प्रत्येक जाति, धर्म, वर्ग तथा वर्ण के लिए ग्राह्य था।

कबीर का व्यक्तित्व विलक्षण था, वह एक विचारक और प्रेमी का व्यक्तित्व था। उनका विचारक जिस प्रकार दार्शनिक और सुधारक था उसी प्रकार उनका प्रेमी भी सुधारक और भक्त था। जनता में सहज भक्ति द्वारा स्वतन्त्र चिन्तन की भावना जाग्रत कर देना कबीर का महत्त्वपूर्ण कार्य था। उन्होंने वर्ग, सम्प्रदाय, मत की सीमा में न बाँधकर निराकार राम की भक्ति का सन्देश दिया।

कबीर की दृष्टि में शास्त्रीयता नहीं थी किन्तु दार्शनिक गुत्थियों, जटिलताओं और रूढ़ियों को उन्होंने बड़ी चिन्ता से देखा था। उस समय समाज को भेदविहीन किसी सुबोध दर्शन की बड़ी आवश्यकता थी इसलिए कबीर ने ईश्वर के ऐसे सर्वमान्य रूप को प्रदर्शित किया जो समाज को बाँध सके। पोथी-ज्ञान की तो उन्होंने सर्वथा उपेक्षा ही की है –

कबिरा पढिबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।[7]

कबीर का प्रभु या परमात्मा कोई अवतार नहीं है, वह किसी वर्ग, सम्प्रदाय, जाति या देश की निधि नहीं है प्रत्युत वह समान रूप से सबका है, सबके भीतर है और प्रेम द्वारा कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त करने का अधिकार रखता है। उसको किसी भी नाम से, जो उसकी प्रभुता का संकेत दे सके, अभिहित किया जा सकता है। अतएव कबीर का निरंजन राम, रहीम या अल्लाह से अभिन्न है। कबीर ने धार्मिक दृष्टि से राम को चिन्तामणि कहकर उसे हृदय में सुरक्षित रखने का उपदेश दिया है। जो लोग सिद्धियों और निधियों के पीछे पड़े रहते हैं उनको सावधान करते हुए वे उन्हें राम की ओर प्रेरित करते हैं –

राँम भणि राँम भणि राँम चिन्तामणि,
भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि॥
असंत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ,
साध संगति मिलि हरि गुँण गाइ।[8]

कबीर के 'राम' नाम के प्रेरक और मन्त्रदाता स्वामी रामानन्द स्वयं एक वैष्णव भक्त थे। उनसे 'राम' नाम का मन्त्र ग्रहण कर कबीर ने अपने राम को यत्र-तत्र निरंजन ही सिद्ध किया है परन्तु 'राम' नाम के प्रति उनका आग्रह अटल रहा है। उन्होंने अपनी दृष्टि को उजागर करते हुए स्पष्ट कहा है –

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया सोभा अधिक अपार ॥[9]

तथा

कबीर आपण राम कहि, औराँ राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥[10]

सच तो यह है कि कबीर का राम कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है, वह एक परिवर्तित मनोदशा ही है। यह आबद्ध मन की नहीं वरन् मुक्त मन की स्थिति है। इस दशा को कबीर ने अनेक पदों में व्यक्त किया हैं। कबीर की यह मनोदशा प्रेमदशा है। इसमें प्रेम की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है। यह दशा प्रेम की लौकिक दशा से भिन्न है क्योंकि लौकिक प्रेम संकीर्ण होता है किन्तु कबीर का राम-प्रेम व्यापक और उदार है। इस प्रेमदशा में प्रेमी और प्रिय (भक्त और भगवान्) का अभेद स्थापित होता है तथा लोकप्रतीति का विनाश हो जाता है। कबीर ने अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहा है –

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूँ जल मैं जल पैसि न निकसै, यूँ ढुरि मिलै जुलाहा ॥[11]

जीवन के परिष्कार और पुनर्जन्म से मुक्ति के लिए कबीर ने 'राम' नाम को सबसे ऊपर प्रतिष्ठित किया। इस निराकार राम की-सी क्षमता उन्हें अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देती –

कहत कबीर सुनहु रे लोई, राँम नाँम बिन और न कोई।[12]

कबीर ने कई स्थलों पर राम में ब्रह्म और व्यावहारिक ईश्वर दोनों का समन्वय किया है। ब्रह्म में प्रियत्व के आरोप से एक ओर एकोपासना का मार्ग प्रशस्त होने की संभावनाएँ बढ़ीं तो दूसरी ओर उससे व्यावहारिक ईश्वर का काम भी सम्भव हो गया। इस स्थिति में कबीर का निर्गुण राम न तो शंकर का ब्रह्म रह जाता है, न सगुणोपासकों का राम और न ही इस्लाम का एकेश्वर। उसमें जो मिल-जुली झाँकी मिलती है, उसकी व्यवस्था विलक्षण है और उसी में कबीर के सामाजिक दर्शन का मूल आधार भी निहित है।

कबीर ने अपने युग में व्याप्त धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए तथा धार्मिक ऐक्य स्थापित करने के लिए परम्परागत एवं प्रचलित धर्मों की उत्तम बातों को सार रूप में ग्रहण कर भक्ति का एक सहज, सुगम तथा सर्वग्राह्य स्वरूप जन-सामान्य को दिखलाया, यह बात तो निर्विवाद सत्य है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि कबीर के आराध्य 'निर्गुण राम' ही क्यों हुए? उनके गुरु रामानन्द ने राम के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकारा, यद्यपि राम के अवतारी रूप की स्तुति पर ही उनका जोर अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है, तब कबीर को 'निर्गुण राम' ही क्यों अभीष्ट हुए? इसका समाधान इस रूप में देखा जा सकता है –

कबीर ने अपने आराध्य 'ब्रह्म' को निराकार-निर्गुण कहा क्योंकि वे सब मत-मतान्तरों से ऊपर उठकर इस सृष्टि में व्याप्त अज्ञात-शक्ति के महत्त्व को निदर्शित करना चाहते थे। वह निर्गुण-निराकार शक्ति परब्रह्म के रूप में सर्वव्याप्त है इसलिए कबीर ने अनेक प्रतीकों और रूपकों के द्वारा उसका गुणगान किया एवं उसी में ईश्वरीय-शक्ति का आभास कराया। उस परब्रह्म को निराकार मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी रहा कि वह सब वर्गों के लिए ग्राह्य हो सके, साकार रूप देने से वह किसी वर्ग-विशेष में बँध जाता किन्तु निराकार होने से – क्या हिन्दू, क्या मुस्लिम, क्या बौद्ध, क्या सूफ़ी, क्या वैष्णव, क्या दलित-शूद्र – सभी के लिए वह वरणीय हुआ। निराकार होने से वह किसी भी सीमा में न बँध सका वरन् निस्सीम होकर सर्वसुलभ एवं सर्वप्रिय हो गया।

दूसरा प्रश्न यह है कि कबीर ने साधना और आराधना के लक्ष्य रूप 'ब्रह्म' को राम कहकर ही क्यों सम्बोधित किया ? जब कबीर का वह 'ब्रह्म' निराकार तथा अदृश्य ही है तो उसका सम्बोधन 'राम' के स्थान पर 'अल्लाह' या 'खुदा' कहकर क्यों नहीं हुआ ? फिर यदि कबीर पर हिन्दुत्व का प्रभाव माना जाय तो 'ब्रह्म' को 'राम' न कहकर 'कृष्ण', 'शिव', 'ब्रह्मा' या अन्य प्रचलित विभिन्न देवी-देवताओं के नाम से सम्बोधित क्यों नहीं किया गया ?

इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि कबीर ने गुरु का अनुसरण किया हो। कबीर रामानन्द के शिष्य थे, रामानन्द ने अपनी भक्ति में 'राम' नाम को प्रतिष्ठित किया था इसीलिए सम्भवतया कबीर ने गुरु आराध्य 'नाम' को ही अपने आराध्य 'नाम' से विभूषित किया। दूसरा कारण यह देखा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में गुरु का अत्यन्त महत्त्व स्वीकारा गया है। प्रत्येक साधक अपने जीवन में किसी-न-किसी को अपना मार्गदर्शक और आदर्श मानकर ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है, वह सच्चा मार्गदर्शक गुरु ही हो सकता है। कबीर ने रामानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु माना था। सम्भवतया उन्होंने रामानन्द के नाम को ही आधार बनाकर (राम+आनन्द) 'राम' नाम को अपने निर्गुण ब्रह्म का नाम दिया हो और इस तरह से गुरुमहिमा और ईश्वरमहिमा दोनों का गुणगान किया हो। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त भी एक अन्य कारण माना जा सकता है जिसके सन्दर्भ में कबीर-रामानन्द सम्बन्धी एक प्रचलित जनश्रुति द्रष्टव्य है – "कहते हैं कि रामानन्द पहले मुसलमान को चेला बनाने में हिचके। इस पर कबीर ने एक युक्ति सोची। रामानन्दजी पंचगंगा घाट पर रहते थे और सदैव ब्राह्ममुहूर्त में गंगास्नान करने जाते थे। एक दिन जब कबीर ने देख लिया कि रामानन्द स्नान करने के लिए चले गए तो सीढ़ी पर लेटकर वह उनके लौटने की बाट जोहने लगे। रामानन्द लौटे तो उनका पाँव कबीर के सिर से टकरा गया। यह सोचकर कि हमसे बिना जाने किसी का अपकार हो गया है, रामानन्द 'राम-राम' कह उठे।"[13] हो सकता है कि कबीर ने इसी 'राम' शब्द को गुरु-मन्त्र मानकर 'राम' नाम को अपनी भक्ति-भावना का आधार बना लिया हो। गुरुप्रदत्त धन होने के नाते कबीर ने 'राम' नाम को केवल अपनाया ही नहीं, वरन् उसको अपना सर्वस्व बना लिया।

इन समस्त कारणों से परे एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि उस युग में हिन्दुओं में अन्य देवी-देवताओं तथा विष्णु के अन्य अवतारों की तुलना में 'राम' शब्द ही सर्वाधिक प्रचलित और सर्वजनप्रिय था। जन-जीवन में 'राम' नाम की महिमा जन-जन के मध्य गहरी जड़ें जमाये हुए थी। कबीर ने सम्भवतया 'राम' नाम के इसी महत्त्व को समझते हुए अपने आराध्य 'ब्रह्म' को 'राम' नाम से सम्बोधित किया ताकि उनकी विचारधारा

को सहजता से व्यापक प्रसार मिल सके। इस्लाम अपने एकेश्वरवाद के कारण मुसलमानों के धार्मिक-ऐक्य का कारण रहा था जबकि हिन्दू-धर्म में विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हो जाने से हिन्दू-समाज आपस में बँटता चला जा रहा था, ऐसे में कबीर ने तात्कालिक आवश्यकता को समझा और हिन्दुओं में लोकप्रिय 'राम' शब्द को अपने आराध्य 'निर्गुण ब्रह्म' से सम्बन्धित कर 'राम' नाम को व्यापक विस्तार दिया। इससे हिन्दुओं में परस्पर फैली खाई को पाटने की सुविधा तो हुई ही, साथ ही दलित, शोषित और गरीब मुसलमानों को भी इस 'निर्गुण ब्रह्म' को अपने आराध्य-स्वरूप मानने में कोई हिचक महसूस नहीं हुई। इस प्रकार कबीर ने तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरों से ऊपर उठकर एक सर्वग्राह्य ईश्वर के दर्शन जन-साधारण को करवाये, जो सभी विवादों से परे था और सर्वसुलभ था।

कबीर ने परम तत्त्व की चर्चा करते समय उसे विभिन्न नामों से अभिहित किया है। कभी वे उसके लिए 'अगम', 'अगोचर', 'सहज', 'सुंनि' जैसे शब्दों का प्रयोग कर उसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय सत्ता कह देते हैं तो कभी उसे 'उन्मन', 'गगन', 'जोति', 'सबद' या 'परमपद' आदि ठहराते दीख पड़ते हैं। वे कहीं उसे 'ब्रह्म', 'देव', 'समर्थ रक्षक', 'प्रिय' के रूप में देखते हैं तो कहीं उसे 'अल्लाह', 'करीम', 'खुदा', 'देव', 'समर्थ रक्षक', 'प्रिय' के रूप में देखते हैं तो कहीं उसे 'अल्लाह', 'करीम', 'खुदा', 'रहमान', 'केशव', 'माधव', 'जगदीश', 'हरि', 'गोविन्द', 'नरहरि', 'गोकुल नायक', 'बीठुला' (बिट्ठल देव), 'राम' आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। किन्तु इन विविध नामों के प्रयोग से उनका तात्पर्य निर्गुण निराकार ब्रह्म से ही है।

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है। सर्वव्यापी होते हुए भी सर्वातीत है, वह अजन्मा है, अतः वह कभी अवतार ग्रहण नहीं करता –

ना दसरथ घरि औतरि आवा, नाँ लंका का राव संतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवैं ले गोद खिलावा॥
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया॥
बाँवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया॥
गंडक सालिकराँम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैस्य ध्याँन नहीं लावा, परसराँम ह्वै खत्री न संतावा॥

कहै कबीर विचार करि ये ऊले ब्योहार।
याही थै जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि॥[14]

इस प्रकार कबीर के अनुसार जो ब्रह्म संसार में बरत रहा है वह विष्णु के उक्त अवतारों से अलग ही नहीं, अगम्य भी है।

कबीर कहते हैं कि जिसे हम राम, रहीम, करीम, केशव, अल्लाह आदि नामों से अभिहित करते हैं, वस्तुतः वही मेरा 'राम सति' है जो न पैदा होता है, न मरता है, न आता है, न जाता है और हर स्थिति में सच्चा बना रहता है। 'राम सति' कहकर कबीर उसकी सत्यता को सिद्ध करते हैं –

हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई।
विसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ॥[15]

जिस तरह सत्य की कोई सीमा नहीं है, उसी तरह उनके इस सत्यस्वरूपी राम की भी कोई सीमा नहीं है। जगत् में जो कुछ भी सत्य है, रमणीय है, कल्याणकारी है, वह राम ही है। धरती की धूल से सुमेरु पर्वत तक; जलचर, थलचर, नभचर से अण्डज, पिण्डज, जंगम, स्थावर तक।

ज्ञानमूलक अद्वैतभक्ति की भूमिका पर पहुँचे हुए कबीर के लिए विष्णु और कृष्ण, गोविन्द और राम, अल्लाह और खुदा, रब और करीम, गोरख और महादेव, सिद्ध और नाथ उस अपरम्पार के अनन्त नाम बनकर एकार्थक हो जाते हैं और कबीर की ब्रह्म-कल्पना को पूर्णता देते हैं। चिन्तन और भावना की इसी अद्वैत भूमिका पर पहुँचकर उक्त नामों से अभिहित होने वाले सगुण अवतार या ब्रह्मवाचक तथा व्यक्तिवाचक नाम निर्गुण राम के वाचक बन जाते हैं, उनमें नयी अर्थ-सम्पत्ति भर जाती है। फिर तो "उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दसों दरवाजों को खोल देता है; 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन को जानता है; 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान् जगत् का साधक है; 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एक मात्र यति या योगी है – जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर हैं, वे इस एक की ही पूजा करते हैं।"[16]

परमार्थतः कबीर का राम द्वैताद्वैत-विलक्षण है, भावाभावनिर्मुक्त है, अलख है, अगोचर है, अगम्य है, अकथ्य है। उस निर्गुण राम का कोई लक्षण नहीं है। उसका कोई वेश नहीं है, भूख-प्यास का गुण भी उसमें नहीं है यद्यपि घट-घट में वही समाया हुआ है। वह वेद और भेद से, पाप और पुण्य से, ज्ञान और ध्यान से, स्थूल और सूक्ष्म से, भेष और भीख से, डिम्भ और आकार से विवर्जित है। वह 'अनुपम-तत्त्व' तीनों लोकों से अतीत है। चारों वेद, सारी स्मृतियाँ और पुराण तथा नौ व्याकरण कोई उस निर्गुण राम का मर्म नहीं समझ सका।[17]

कबीर का वह निर्गुण निराकार राम अरूप है। कबीर कहते हैं कि उस परम पुरुष के न तो मुख है, न माथा; न रूप है और न ही अरूप। पुष्पगन्ध से भी सूक्ष्म, ऐसा वह अनुपम तत्त्व है –

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुप बास थैं पातरा ऐसा तत्त अनूप ॥[18]

उस ब्रह्म राम को न तो हलका कहा जा सकता है, न भारी। जब वह नेत्रों का विषय ही नहीं है तो फिर उसको जाना कैसे जा सकता है –

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जाँणौ राम कूं, नैनूं कबहूँ न दीठ॥[19]

वह न बूढ़ा है और न ही बालक –

नाँ हम बार बूढ़ नाहीं हम ना हमरै चिलकाई हो।[20]

उसे नापा-तोला भी नहीं जा सकता –

तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिणँती ग्यांन न होई।
नां सो भारी नां सो हलका, ताकी पारिष लषै न कोई ॥[21]

वस्तुतः वह अस्ति-नास्ति के भाव-अभाव से परे है, इसलिए मन-वाणी से भी परे है। जब उसे कोई जानता ही नहीं, तब उसका निरूपण ही कैसे किया जा सकता है ! कोई उसे कुछ बताता है, कोई कुछ और। ऐसी अपरिमेय सत्ता को कोई नहीं जान सकता –

जस तूँ तस तोहि कोई न जान, लोग कहैं सब आनहिं आँन ॥[22]

तथा

वो है तैसा वोही जानैं, ओही आहि आहि नहीं आँनैं ॥[23]

तथा

जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोई।[24]

वह जैसा है, वैसा उसे ही विदित है। वही केवल है, अन्य कुछ नहीं। जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका पूर्णरूप में होना सम्भव नहीं। वह जैसा है वैसा ही है।

वस्तुतः कबीर का यह निर्गुण निराकार ब्रह्म 'राम' माया के तीनों गुणों से परे है, उसकी रूप-रेखा कुछ भी नहीं है, उसका न स्वरूप है, न वर्ण। वह आदि-अन्त से रहित है। वह अजर है, अमर है, अलख है, उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह सगुण में भी निर्गुण है और निर्गुण में भी सगुण है। वस्तुतः वह तो घट-घट वासी है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड व्यापी होने पर भी इनसे परे है अर्थात् वह सर्वातीत ब्रह्म 'राम' एक अनुपम विलक्षण तत्त्व है जिसे दूर खोजने की आवश्यकता नहीं, वह सारे शरीर में भरपूर हो रहा है। कबीर कहते हैं, लोहू भी झूठ है, चाम भी झूठ है, सत्य है वह राम, जो इस सारे शरीर में रम रहा है –

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजै दूरि।
ध्यान धरौं मन सुध करि, राँम रह्या भरपूरि ॥

* * *

कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोही चाँम ।
जो या देही रहित हैं, सो है रमिता राँम ॥[25]

उसे चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, उसके दर्शन पाने के लिए ब्रह्म-दृष्टि चाहिए। वह ब्रह्म परात्पर है, नेति नेति है, वर्णन से परे है। इतना ही नहीं, वह भाव और अभाव दोनों से परे है अर्थात् न तो यह कहा जा सकता है कि वह भाव रूप है और न यह कि वह अभाव रूप है –

कह्यां न उपजै उपज्याँ नहीं जाणैं, भाव अभाव बिहूनाँ।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं, सहजि राँम ल्यौ लीनाँ ॥[26]

कबीर का ब्रह्म राम सब में एक भाव से व्याप्त है। वह सब में रम रहा है और सब उसमें रम रहे हैं। यह जो नाना रूप दृश्यमान प्रपंच है सब कुछ उसी का रूप है –

जब थैं आतम तत्त बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थैं, काम क्रोध गहि डारा ॥
ब्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पण्डित को जोगी।
राँणाँ राव कवन सूँ कहिये, कवन बैद को रोगी ॥
इनमें आप आप सबहिन मैं, आप आप सूँ खेलैं।
नाँनाँ भाँति घड़े सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै ॥
सोच बिचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुँणी अरु पण्डित, मिलि लीला जस गावै ॥[27]

कबीर अपने ब्रह्म राम को अविनाशी बताते हुए कहते हैं, जब कुछ भी नहीं था, तब भी वे थे और जब कुछ नहीं रहेगा, तब भी वे रहेंगे –

धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नाँही तुम्ह नाँही रे भाई, रहे राँम भरपूरा रे ॥
कुसलहि कुसल करत जग खींना; पड़े काल भौ पासी।
कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे राम अबिनासी ॥[28]

इस प्रकार अपने राम को अनन्त तथा युग-युगान्तर तक रहने वाला कहकर कबीर उसकी अनादिता सिद्ध करते हैं।

कबीर का वह निर्गुण ब्रह्म राम सर्वांग में और सर्वत्र व्याप्त है, उसे स्थान आदि की सीमाओं में परिबद्ध नहीं किया जा सकता। "लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं किन्तु सही बात कोई कहता ही नहीं। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे हैं। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घटों में समाया हुआ है इसलिए सभी रूप उसके रूप हैं

और सभी वर्ण उसके वर्ण हैं; फिर उसे अरूप या अवर्ण कैसे कहें ? पिण्ड और ब्रह्माण्ड की बातें कही जाती हैं, पर चाहे पिण्ड हो या चाहे ब्रह्माण्ड, सभी देश और काल में सीमित हैं, पर उसका न तो आदि है और न अन्त । फिर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त कह ही दिया तो उसका ठीक-ठाक परिचय मिल गया । सही बात तो यह है कि वह पिण्ड से भी परे है, ब्रह्माण्ड से भी परे है ।"[29]

कबीर का यह निर्गुण निराकार ब्रह्म राम अद्वैत है । वह दो नहीं है, एक है –

हिंदू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ॥[30]

कबीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हमने तो एक को एक ही करके जाना है, दोजख (नरक) तो उन्हीं को मिलता है जो उस ब्रह्म को दो कहते हैं अर्थात् जो उसे एक रूप में नहीं पहचानते हैं ।[31] आखिर द्वैत है कहाँ ?

अरे भाई दोइ कहा सो मोहि बतावौ,
बिचिहि भरम का भेद लगावौ ।[32]

कबीर का निर्गुण-निराकार ब्रह्म राम तो अनुभवगम्य है । वह अगोचर है, उसकी अगोचरता का केवल अनुभव ही किया जा सकता है और उस अनुभव से ही बद्ध प्राणी की मुक्ति होती है –

अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई ॥
जग लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भव सागर क्यूँ तिरिहौ ॥

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल॥[33]

कबीर का कहना है कि उस अविगत, अकल तथा अनुपम को देखकर अगर वर्णन करना भी चाहूँ तो मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जैसे कोई गूँगा व्यक्ति मिठाई का स्वाद पाकर उसकी मधुरता दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकता अपितु वह मन-ही-मन आह्लादित होकर संकेत मात्र करके रह जाता है –

अविगत अकल अनूपम देख्या, कहताँ कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जाँनि मिठाई ॥[34]

उसके तेज का वर्णन करते कबीर विस्मित-से हो जाते हैं –

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान ।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परमान ॥[35]

कबीर राम को आत्मा से भिन्न नहीं मानते तभी तो वे उसे बार-बार 'आतम राँम' कहकर सम्बोधित करते हैं । वे तो इतना तक कह देते हैं कि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है –

कौन बिचारि करत हौ पूजा, आतम राँम अवर नहीं दूजा ॥[36]

कबीर के अनुसार जिसने उस 'आतम राँम' को प्राप्त कर लिया है, वही उसे जान सकता है –

भाव भगति पूजा अरु पाती, आतमराँम मिले बहु भाँती ॥
राँम राँम राँम रुचि माँनै, सदा अनंद राँम ल्यौ जाँनै॥
पाया सुखसागर कर मूला, जो सुख नहीं कहूँ समतूला॥
सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होई ॥
जिहि लाधा सो जाँनिहै, राम कबीर और न जानै कोइ ॥[37]

वस्तुतः वह 'रमता राम' केवल घट में ही नहीं अपितु समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जिस प्रकार पुष्प मे परिमल की अदृष्ट व्याप्ति है, जैसे काठ में अग्नि व्याप्त है उसी प्रकार घट-घट में उस परब्रह्म राम की व्याप्ति है। समस्त प्राणियों, वस्तुओं और स्थानों में उसकी व्याप्ति है –

राजा राँम कवन रंगै, जैसे परिमल पुहुप संगैं।[38]

तथा

जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ राँमा।[39]

कबीर अपने ब्रह्म राम को 'निरंजन' भी कहते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म राम ही एक मात्र निरंजन है, यह जो कुछ हमारे सामने फैला हुआ दिखाई दे रहा है, वह सकल संसार 'अंजन' मात्र ही है। वस्तुतः 'अंजन' न तो सर्वव्याप्त है, न असीम है, वह तो असार है, अस्थायी है इसके विपरीत निरंजन सर्व-व्याप्त एवं सारपूर्ण है, वह स्थायी है। उसे योग, ध्यान, तप से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि ये सभी मनोविकार तो परिवर्तनशील हैं इसलिए निरंजन राम की प्राप्ति के लिए निर्विकार मन की आवश्यकता है –

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहुँ विचार ॥
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई॥
अंजन आवैं अंजन जाइ, निरंजन सब घट रह्यौ समाइ ॥
जोग ध्याँन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे राँम अधार ॥[40]

वस्तुतः कबीर के राम अनुपम हैं, उनकी कोई उपमा नहीं है। उनका स्वरूप विलक्षण है क्योंकि वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों से परे है, तीनों लोकों में उसके समान कोई नहीं है। कबीर कहते हैं कि उस 'अनुपम तत्त्व' को तो वही जान सकता है जो उसी में लौ लगा देता है –

राम राइ तेरी गति जाँणी न जाई।

* * *

कहैं कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे राँम ल्यौ लाई ॥[41]

कबीर का यह ब्रह्म राम जिसका न तो कोई रूप है, न कोई आकार, जो न तो 'ससीम' से अभिहित होने वाली 'स्थूल' सत्ता है और न ही सत्तारहित शून्य है।

जिस प्रकार कबीर की साधना 'सहज' है, उनका प्रेम 'सहज' है, उनका ज्ञान 'सहज' है, उनका रहन-सहन 'सहज' है, उसी प्रकार कबीर का राम भी 'सहज-स्वरूप' है, जो किसी मन्दिर या मस्जिद में स्थित न होकर मन-मन्दिर में ही विराजमान रहता है। अपने राम के सहज रूप को जानकर कबीर उसी का भजन करते हैं –

सहज जाँनि राँमहि भजै कबीरा।[42]

और उस 'सहज राम' को प्राप्त करके स्वयं कबीर भी सहज में विलीन हो जाते हैं।[43]

कबीर के राम अव्यक्त, अपरिचित एवं निराधार हैं । उनकी गति अगम्य है[44] जिसका पार कोई नहीं पा सकता ।[45] कबीर कहते हैं कि उसके रूप का बखान कैसे करूँ क्योंकि उसे न तो व्यक्त कह सकते हैं न अव्यक्त । वस्तुतः वह अज्ञात और अज्ञेय है ।[46] इसलिए दूसरों को तो उसका परिचय कराया ही नहीं जा सकता । यदि कोई उसे जान सकता है तो स्वयं उसका दास ही। किसी अन्य की पहुँच उस तक नहीं हो सकती।

कबीर का ब्रह्म राम ही समस्त सृष्टि का कर्त्ता-धर्ता है । यों तो वह द्वैताद्वैत विलक्षण, सर्वातीत, निर्गुण-सगुण से भी परे है, परन्तु कबीर ने व्यावहारिक दृष्टि से लोगों के मन में ईश्वर के प्रति आस्था एवं भक्तिभाव जमाने के लिए ही ब्रह्म को सृष्टि का कर्त्ता तथा सिरजनहार कहा है । उसी बनाने वाले ने सत्, रज, तम, तीनों गुणों से इस मायिक प्रपंच की रचना की है –

एक बिनाँनी रच्या बिनाँन, सब अयाँन जो आपैं जाँन ॥
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, चारि खानि बिस्तार उपाया ॥
पंच तत लै कीन्ह बंधान, पाप पुंनि माँन अभियान ॥
अहंकार कीन्हें माया मोहू, संपति बिपति दीन्हीं सब काहू ॥
भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणी धन नीधनवंता ॥
भूख पियास अनहित हित कीन्हाँ, हेत मोर तोर करि लीन्हाँ ॥[47]

उस अखिल ब्रह्माण्ड के रचयिता राम का कर्तृत्व विलक्षण है। उसके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वह निस्संग होकर किया जाता है, सकल सृष्टि का स्वामी होकर भी वह इन सबसे विलग रहता है, यही उसकी विलक्षणता है।[48]

कबीर का विश्वास है कि राम ही जीव के जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का उच्छेद करने वाले हैं –

राँम बिन को कर्म काटण हार।[49]

वही यम-पाश से मुक्त करने वाले हैं, जगत् की अन्य कोई शक्ति मनुष्य को यम-यातनाओं से मुक्त नहीं कर सकती।[50] एकमात्र राम का ही आश्रय पाकर मनुष्य समस्त भय आदि से मुक्त हो जाता है।[51]

राम कबीर के परम प्रिय हैं। वे उनके एकमेव आधार हैं। इसलिए कबीर राम से नाना भाँति अपना सम्बन्ध जोड़ते दिखाई देते हैं। कभी वे अपने राम को स्वामी के रूप में देखते हैं जिसके वे स्वयं क्रीतदास हैं –

मैं गुलाँम मोहि बेंचि गुसाँई,
तन मन धन मेरा रामजी के ताँई ॥[52]

तो कभी कबीर अपने राम से पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी जोड़ लेते हैं और उन्हें 'बाप राँम' या 'बाप राँम राय' कहकर सम्बोधित करते हैं।[53] इस प्रकार उनके साथ अपनी घनिष्ठ आत्मीयता का भाव प्रकट करते हैं –

बाप राँम सुनि बीनती मोरी, तुम्ह सूँ प्रकट लोगन सूँ चोरी ॥[54]

इसी तरह कबीर उस ब्रह्म राम को 'हरि' नाम से सम्बोधित करते हुए उन्हें अपनी जननी घोषित कर देते हैं –

हरि जननी में बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा ॥[55]

गुसाँई, पिता, माता के साथ ही कबीर उस निर्गुण निराकार ब्रह्म राम को अपना गुरु तथा पीर भी कह देते हैं –

कबीर पंगुड़ा, अलह राँम का, हरि गुर पीव हमारा ॥[56]

गुसाँई-गुलाम, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, गुरु-शिष्य आदि सम्बन्धों के साथ ही कबीर उस ब्रह्म राम से दाम्पत्य सम्बन्ध भी जोड़ते हैं जो अन्य समस्त सम्बन्धों की अपेक्षा कहीं ज्यादा आत्मीयता का सूचक है। उस सम्बन्ध का परिचय देते हुए कबीर कहते हैं –

हरि मेरा पिव भाई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राँम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
किया स्यंगार मिलन कै ताँई, काहे न मिलौ राजा राँम गुसाँई ॥
अब की बेर मिलन जो पाँऊँ, कहै कबीर भौ-जलि नहीं आँऊँ ॥[57]

हरि कबीर के प्रियतम हैं और कबीर उनकी बहुरिया हैं। कबीर कहते हैं कि अब यदि मैं तुमसे मिल सकूँ तो दुबारा कभी इस भवसागर में नहीं आना पड़ेगा।

इतना ही नहीं, कबीर अपने राम के साथ विधिपूर्वक विवाहित होने तक की बात कहते हैं । कबीर की आत्मा का 'राजा राम' के साथ ब्याह रचा है। कबीर के हृदय-रूपी घर में 'राजा राम' के साथ उनकी आत्मा के विवाह का उत्सव मनाया जाता है –

दुलहनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती ।
राँमदेव मोरैं पाँहुनैं आये मैं जोबन मैं माती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार ।
राँमदेव सँगि भाँवरी लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेती सूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हँम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी ॥[58]

'मुझे एकमात्र एवं अविनश्वर पुरुष ने ब्याह लिया है' – ऐसा कहकर कबीर उस निर्गुण ब्रह्म राम से अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़ते हैं । अपने आपको राम से विवाहित मानते हुए कबीर अपने आप को परकीया नायिका के रूप में निरूपित नहीं करते । राम के साथ तो उनका गहरा सम्बन्ध हो गया है और राम के साहचर्य से कबीर में आकर्षण विद्यमान हो गया है, तभी तो वे कहते हैं –

अब तोहि जाँन न देहूँ राम पियारे, ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे ॥

* * *

चरननि लागि करौं बरियायी, प्रेम राखौं उरझाई ॥[59]

कबीर के इन कथनों के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके 'राम' कोई व्यक्ति-विशेष नहीं हो सकते और न वास्तव में हम उन्हें किसी अवतार के रूप में ही मान सकते हैं । उनके अनुसार 'राम' को किसी देव-विशेष की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता और अन्य देवताओं के साथ में भी उनका कोई सरोकार नहीं है तथा अपने उस राम का कुछ परिचय देते हुए वे यह भी बतला देते हैं कि उसके यहाँ करोड़ों सूर्यदेव प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव और उनके कैलास पर्वत विद्यमान हैं, करोड़ों ब्रह्मा उसके यहाँ वेदोच्चार करते हैं –

जो जाचौं तो केवल राँम, आँन देव सूँ नाँही काँम ॥
जाकैं सूरिज कोटि करै परकास, कोटि महादेव गिरि कबिलास ॥
ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं, दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं ॥
कोटि चंद्रमाँ गहै चिराक, सुर तेतीसूँ जीमैं पाक ॥
नौग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ॥
कोटि कुबेर जाकै भरे भंडार, लछमीं कोटि करैं सिंगार॥
कोटि पाप पुंनि ब्यौहरे, इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं॥

जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करै जैकार ॥
विद्या कोटि सबै गुँण कहैं, पारब्रह्म कौ पार न लहैं ॥
बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारै फिरैं ॥
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ॥
असंखि कोटि जाकै जमावली, राँवण सेन्याँ जाथैं चली ॥
सहसवाँह के हरे पराँण, जरजोधन घाल्यो खै माँन ॥
बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी क्षेत्रपाल ॥
लट छूटी खेलैं बिकराल, अनंत कला नटवर गोपाल॥
कंद्रप कोटि जाकैं लाँवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं ॥
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद माँगौं दान ॥[60]

इन्हीं राम में कबीर सदैव लीन रहा करते हैं और इन्हीं राम के प्रति आस्था से कबीर का मन कभी भी डिगता नहीं है –

मन न डिगै ताथैं तन न डराई, केवल राँम रहे ल्यौ लाई ॥[61]

इस प्रकार कबीर के लिए राम ही सब कुछ है, उनका राम सर्वव्यापी है, सर्वातीत है, सर्वोपरि है।

विष्णु तथा दाशरथि राम से उनका राम अलग ही नहीं है, अगम्य भी है। उसे राम, रहीम, करीम, केशव, अल्लाह आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। उनके निर्गुण राम का कोई लक्षण नहीं है। वह अनुपम तत्त्व तीनों लोकों व तीनों गुणों से अतीत है। वह आदि और अन्त से रहित है। उसे चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, उसे देखने के लिए ब्रह्म-दृष्टि चाहिए। वह परात्पर है, भाव और अभाव दोनों से परे है। "वह समस्त ज्ञान तत्त्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है, केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। ... वह किसी भी दार्शनिक वाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है, यही कबीरदास का निर्गुण राम है।"[62]

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन समाज में व्याप्त धार्मिक और सामाजिक अव्यवस्था को सुधारने के लिए रामानन्द स्वामी ने भक्तिमार्ग को उदार बनाकर जिस रामोपासना का मार्ग प्रशस्त किया था, कबीर ने उसे और भी अधिक उदार तथा सर्वग्राह्य बनाने के लिए निर्गुण राम को अपना आराध्य बनाया। निर्गुण राम को आराध्य बनाकर कबीर ने न केवल स्वधर्मियों द्वारा हेय समझे जाने वाले निम्न वर्गों को, अपितु पाखण्ड, आडम्बरों एवं रूढ़ियों से ग्रस्त इतर धर्मों के असन्तुष्ट अनुयायियों को भी भक्ति का सहज, सुगम, सर्व-सुलभ और आडम्बरविहीन मार्ग दिखाया। कबीर के इस सहज भक्तिमार्ग द्वारा धर्मों की विविधता से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए भारतीय समाज को तो स्थिर दिशा मिली ही, साथ ही धर्म, जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय से परे इस निराकार परब्रह्म को अपना आराध्य बनाने में उच्च वर्ग से प्रताड़ित तथा उपेक्षित सभी धर्मावलम्बियों को भी कोई झिझक नहीं हुई। इस प्रकार कबीर ने धार्मिक-ऐक्य तथा सामाजिक-सुधार की भावना को दृष्टि में रखते हुए राम-रहीम की एकता के प्रतीक निर्गुण राम की प्रतिष्ठा की।

समाज-हितकारी एवं सर्व सुलभ होने के कारण कबीर की इस निर्गुण-रामोपासना का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। राम को आराध्य बनाकर कबीर ने जिस निर्गुण-भक्ति का अलख जगाया वह न केवल कबीर के समकालीन रैदास जैसे सन्तों में दृष्टिगोचर होता है, अपितु उत्तरकालीन सन्त दादू तथा राजस्थान के रामसनेही सन्तों – दरिया साहब, सन्त हरिरामदास, सन्त रामदास, सन्त दयालुदास, सन्त रामचरण, सन्त रामजन, सन्त दूलहैराम, सन्त सुखराम, सन्त अभाँबाई आदि पर भी इसका गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।

कबीर और उनके परवर्ती सन्तकवियों ने जिस राम को अपना आराध्य बनाया है, वह राम दाशरथि राम नहीं है, वरन् वह तो परब्रह्म का पर्याय है। वह परब्रह्म राम अजन्मा है इसलिए वह अवतार ग्रहण नहीं करता। वह अजर, अमर, अखण्डित और अविनाशी है। आदि-अन्त से रहित वह परब्रह्म राम ही सृष्टि का कर्त्ता-धर्ता, सृजनहार, नियामक, पालक, पोषक तथा संहारक है। त्रिगुण और त्रिलोक से अतीत वह तत्त्व अनुपम और विलक्षण है जिसका मर्म कोई नहीं जान पाता। वह परब्रह्म राम सर्वातीत, अगम्य, अगोचर, अलख, अकथ्य, अनिर्वचनीय तथा अवर्णनीय है। वह निर्गुण-निराकार राम तो अनुभवैकगम्य है। वह ही परम सत्य है, जगत् में जो कुछ भी सत्य, रमणीय तथा कल्याणकारी है, वह निर्गुण राम ही है। वह सत्यस्वरूपी राम निरंजन है। माया के तीनों गुणों से परे वह निरंजन राम रूप-रेख-रंग-आकार से रहित है। वह अलेख परब्रह्म असीम तथा सर्वव्यापी है। सत्यभासित होने वाला यह जगत् तो प्रत्यक्षतः नाशवान है अतः मिथ्या है। वह परब्रह्म ही सारपूर्ण, स्थायी, नित्य तथा शाश्वत है। वह परब्रह्म राम ही समस्त दुःखों का नाश करने वाला तथा मुक्तिदाता है। इसलिए प्राणियों को अन्य समस्त प्रपंचों को त्याग कर ब्रह्मप्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

कबीर और उनके परवर्ती सन्तकवियों ने ब्रह्म-प्राप्ति के लिए नाम-स्मरण पर बल देते हुए उपासना के क्षेत्र में सहज साधना द्वारा घट ही में व्याप्त उस परम ज्योति के दर्शन करने का उपदेश किया है। तीर्थादि भ्रमण, पर्वस्नान, उपवास-रोजा, मूर्ति-पूजा, विवि-विधान, नाना भाँति के बाह्याडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध की है। वह परब्रह्म राम तो घट-घट में एक साथ रमण कर रहा है इसलिए इन सन्तों ने आचरण की शुद्धता पर बल देते हुए 'सर्वभूतहिते रताः' की भावना को प्रमुखता दी है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि कबीर की यह साधना उनकी सामाजिक उपादेयता को ही सिद्ध करती है। राम के निर्गुण रूप को उपास्य बनाने के मूल में उनका सामाजिक दृष्टिकोण ही लक्षित होता है। वस्तुतः कबीर ने भटके हुए भारतीय जन-मानस को हृदयस्थ परमात्मा के दर्शन के माध्यम से नयी राह दिखाई है।

2.3.04. तुलसी का आविर्भाव

जिस युग में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ था, वह धार्मिक-सामाजिक अस्थिरता का युग था। देश का धार्मिक क्षेत्र नाना सम्प्रदायों एवं अखाड़ों से भर चुका था। निर्गुण सन्तों के अनुयायियों ने विभिन्न पंथों और सम्प्रदायों की स्थापना कर ली थी, यथा – कबीरपंथ, सेनपंथ, रैदासी सम्प्रदाय, नानकपंथ, साध सम्प्रदाय, लालपंथ, दादूपंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरीपंथ, मलूकपंथ आदि। कबीर आदि निर्गुण सन्तों ने परब्रह्म-प्राप्ति का

सहज मार्ग प्रशस्त किया था। आगे चलकर उनके अयोग्य एवं अनधिकारी शिष्यों ने उसमें भटकाव की स्थिति उत्पन्न कर दी। वे अज्ञानी निर्गुणोपासना के मर्म से अपरिचित होने के कारण जन-मानस को मूल उद्देश्य से तो विमुख कर ही रहे थे, साथ ही मूढ़ जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से भी विचलित कर रहे थे। जिस अवतारवाद का विरोध निर्गुण सन्तों ने यह सोचकर किया था कि "उसके द्वारा नर-पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म में पाखण्ड को घुसने का मार्ग मिल जाता है।"[63] उस अवतारवाद-विरोध को भूलकर "निर्गुण सन्तों के अनुयायियों ने उन्हें ही अवतार बनाकर उनकी पूजा आरम्भ कर दी।"[64]

सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों का भी पर्याप्त प्रभाव उस युग के समाज पर था। भक्ति-मार्ग से सर्वथा अपरिचित ये योगी और साधक तरह-तरह की करामातें दिखाकर अशिक्षित वर्ग पर अपना प्रभाव जमा रहे थे। नाना प्रकार के साधकों में योगियों की विशेष महिमा थी, इसी से योग-मार्गियों के जोग जगाने की बड़ी धूम थी –

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।[65]

विशाल जटा और नाखूनों से विकट वेश बनाये रखने वाले इन योगियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वे भारी तपस्वी माने जाते थे –

जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥[66]

तथा

असुभ बेष, भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥[67]

मूढ़ जनता इन रमते जोगियों की करामातों को साधुता का लक्षण मानने लगी थी और यह समझ बैठी थी कि विरले रहस्यदर्शी लोग ही ईश्वरोन्मुख साधना कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग जो हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा ग्राह्य है जन-मानस को उससे परांगमुख करने का कार्य इन नाथपंथी जोगियों ने किया।[68]

तुलसी के पूर्व ही सूफ़ियों का प्रभाव भी भारत पर बहुत फैल चुका था। दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी इन सूफ़ियों के विचार यद्यपि वेदान्त-सम्मत थे किन्तु उनका मूल स्रोत इस्लाम था। ये 'कुरान' आदि को प्रमाण मानकर चले थे।[69] इन्होंने परमात्मा को प्रेमी आत्मा की कामरति का आलम्बन बनाकर नारी रूप में अंकित किया। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में "सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बनकर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिए सौ जान से निसार होता है, उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है। ... इस तरह

सूफ़ीमत में ईश्वर स्त्री और भक्त पुरुष है। पुरुष ही स्त्री से मिलने की चेष्टा करता है, जिस प्रकार जायसी के 'पद्मावत' में रत्नसेन (साधक) सिंहलद्वीप जाकर पद्मावती (ईश्वर) से मिलने की चेष्टा करता है।"[70]

परमात्मा और आत्मा (जीव) के मध्य नारी और नर का रतिभाव रखना भारतीय परम्परा की दृष्टि से अमर्यादित था। दूसरा, सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों और निर्गुण सन्तों के प्रभावस्वरूप सूफ़ियों ने भी प्रेम-मार्ग में हठयोग की साधना की आवश्यकता बतलायी।[71] भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल सूफ़ियों की इन मान्यताओं को देखकर डॉ॰ शिवकुमार शर्मा क्षुब्ध होते हुए कहते हैं – "सूफ़ी फकीरों के प्रेमाख्यानों की चाशनी ऊपर से मीठी अवश्य थी किन्तु उसमें भी रोगग्रस्त हिन्दू शरीर का निदान निहित नहीं था।"[72]

तुलसी के युग में कृष्णभक्ति का प्रचार भी बड़े उत्साह और मधुर भावना के साथ हो रहा था। वल्लभ, निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी और चैतन्य (गौड़ीय) सम्प्रदायों ने कृष्णभक्ति शाखा का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया।[73] इन सम्प्रदायों का केन्द्र वृन्दावन था। देश के विभिन्न भागों के अनेक दार्शनिकों ने इस ब्रजमण्डल को अपना निवासस्थान बनाया। इन कृष्णभक्त दार्शनिकों का भक्तिदर्शन वेदान्ती था किन्तु इनकी दृष्टि भगवान् की सौन्दर्य-विभूति और लोकरंजन पर ही केन्द्रित रही, ईश्वर के लोकमंगलकारी रूप की प्रायः उपेक्षा ही की गयी। राधा-कृष्ण की युगलोपासना, रासलीला, नित्य विहार आदि का ही विशेष चित्रण किया गया। इन मधुरस प्रेमी भक्तों के द्वारा "उपास्य और उपासक के सम्बन्ध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई दूसरे प्रकार के लोकव्यापक नाना सम्बन्धों के कल्याणकारी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई।"[74] साहित्यालंकार सत्यदेव चतुर्वेदी का कथन है –"कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत भगवान् के उस बाल-लीला और कैशोर्य के लोकरंजनकारी चरित्र को हृदयंगम किया, जिससे आनन्द का अनुभव तो हुआ, किन्तु 'धर्म-संस्थापनार्थ' में उसे उतनी सजीवता न प्राप्त हुई।"[75] आराध्य के प्रति शृंगारिक मान्यताएँ रखने वाले ये मधुर-रसप्रेमी भक्त अपने आराध्य के मधुर रूप का आलम्बन ग्रहण कर जीवन और जगत् में व्याप्त नैराश्य को दूर करने का विफल प्रयास कर रहे थे। इनकी शृंगारिक मान्यताओं के कारण राधा-कृष्ण शृंगार के साधारण नायिका-नायक मात्र रह गये थे। कृष्ण का 'गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली'[76] और 'नीबी-बन्धन-मोचक'[77] के रूप में चित्रण हुआ। फलतः समाज आपाद-मस्तक घोर शृंगार में निमग्न होने लगा था।

तुलसी के युग में माधुर्य भाव से राम की उपासना करने वाले रसिक भक्तों का एक सम्प्रदाय भी प्रचलन में था जिसे रसिक सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। तुलसीदास के बहुत पूर्व से ही रामोपासना में समाविष्ट यह परम्परा चली आ रही थी। रसिक भक्तों ने राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादश लीला, संयोग-वियोग, मधुर रति आदि का वर्णन किया। रामोपासना की इस पद्धति का प्रचार भक्तों के एक सम्प्रदाय विशेष तक सीमित था। इसके सिद्धान्तों की गोपनीयता ही इसके विकास में बाधक सिद्ध हुई।

इन विभिन्न भक्तिधाराओं के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के तीन मुख्य सम्प्रदाय वैष्णव, शैव और शाक्त भी उस समय समाज पर अपना विशेष प्रभाव डालने के लिए प्रयासरत थे। इन तीनों सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध इतना तीव्र था कि साधारण-सी बात को लेकर भी प्रायः रक्तपात की नौबत आ जाया करती थी।[78] शाक्त-सम्प्रदाय में

शक्ति के रूप में प्रकृति, स्त्री या देवी की उपासना प्रमुख थी, इसके भी दक्षिण-पक्षी और वाम-पक्षी दो भेद हो गये थे। इनमें वाम-पक्षियों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों की उपासना शुरू की।[79] एक ओर तो ये शाक्त धर्मबाह्य आचरण कर भ्रष्टता को प्रश्रय दे रहे थे, साथ ही दूसरी ओर शिव की नगरी काशी में शैवों का वैष्णवों से निरन्तर संघर्ष हो रहा था। वस्तुतः उस युग में शैव-वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों में परस्पर प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप मनोमालिन्य और द्वैष बहुत बढ़ गये थे।

जिस समय हिन्दू धर्म इन सम्प्रदायों के आन्तरिक संघर्ष से जूझ रहा था, उसी समय इस्लाम और ईसाई धर्म भी भारतीय समाज में सेंध लगाने हेतु प्रयासरत थे। सूफ़ी कवियों ने तो परोक्ष रूप से इस्लाम के प्रचार में सहयोग दिया ही, इसके अतिरिक्त तलवार के बल पर अपने धर्म की जड़ें जमाने का प्रयास भी मुस्लिम सम्प्रदाय के कतिपय कट्टर शासकों द्वारा हो रहा था। डॉ॰ ईश्वरीप्रसाद ने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक पुस्तक में इन कट्टर शासकों की धर्मान्धता का वर्णन करते हुए लिखा है – "मुसलमानों का विश्वास था कि अपने धर्म का प्रचार करते समय यदि काफिरों के साथ युद्ध करना पड़े और उसमें उनके प्राण जायँ तो वे सीधे स्वर्ग जाएँगे।"[80]

इस प्रकार इन विदेशी धर्मों ने वैदिक सनातन धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्वरूपों के उत्कर्ष को ठेस पहुँचायी। निर्गुण-सम्प्रदायों के अनुयायी अधिकांशतः निम्न जातियों से सम्बन्धित थे, स्वभावतः ही उन्होंने ब्राह्मण-सम्पादित स्मार्तधर्म और धर्ममूल शास्त्रों का मुक्तकण्ठ से विरोध किया। बौद्ध और जैन धर्म जो शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती वैष्णवाचार्यों के धर्म-रक्षार्थ किये गये प्रयासों से अवनति को प्राप्त हो चुके थे, वे भी इस समय अपने धर्म का प्रभाव पुनः जमाने के लिए तत्पर हो रहे थे।

इस प्रकार वैदिक सनातन धर्म एक ओर अभारतीय इस्लाम और ईसाई धर्मों के तथा दूसरी ओर भारतीय बौद्ध, जैन एवं निर्गुण सम्प्रदायों के संघर्ष में आया। वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के पारस्परिक विरोध के कारण हिन्दू-धर्म आन्तरिक संघर्ष से जूझ रहा था। इस आन्तरिक संघर्ष से उसकी धार्मिक शक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी। इधर विविध पंथों का प्रसार असामान्य वेग से हो रहा था, उधर अकबर जैसे शासक हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक समन्वय करने की आड़ में 'दीन-ए-इलाही' जैसे नव-धर्मों का प्रवर्तन कर रहे थे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्राचीन मर्यादित वैदिक सनातन धर्म और वर्णाश्रम धर्म से लोगों को हटाने के प्रयास सब ओर से किये जा रहे थे। हिन्दू समाज के मेरुदण्ड सनातन धर्म की व्यवस्था शिथिल हो रही थी, वेद-शास्त्र के निन्दकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी –

दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ।[81]

कबीर-पंथ और सूफ़ीमत के प्रचारकों की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास कहते हैं–

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेदपुरान॥[82]

वेदमार्ग को छोड़कर चलने वाले अन्यान्य पन्थों का संकेत भी तुलसी ने किया है–

स्रुति-सम्मत हरि-भक्ति-पथ, संजुत-बिरति-बिबेक।
तेहि परिहरिहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥[83]

नाना पंथों की वृद्धि से प्राचीन सच्छास्त्रों की नितान्त अवहेलना हुई और वे लुप्तप्रायः हो गए। तुलसी कहते हैं –

सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभ ग्रंथ॥[84]

इन विविध पंथों के कारण वर्ण-व्यवस्था के लिए विघातिनी स्थिति उत्पन्न हुई –

बरन-धर्म नहिं आस्रम चारी। स्रुति-बिरोध-रत सब नर-नारी॥[85]

तथा

बादहि सूद्र द्विजन सन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाँटि॥[86]

तथा

आस्रम बरन कलि-बिबस बिकल भये,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।[87]

तथा

बेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।

* * *

बर्न-विभाग न आस्रम-धर्म, दुनी दुख -दोष-दरिद्र-दली है।[88]

उस समय के मुनि भी ऐसे थे –

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपुको ईस कहावत सिद्ध सयाने॥[89]

वस्तुतः उस समय वैरागी या संन्यासी हो जाना साधारण-सी बात थी। "जिनके भी 'नारि मुई गृह संपति नासी' वही मूड़ मुड़ाइ के संन्यासी हो जाता था। ... सारा देश सैकड़ों सम्प्रदायों और अखाड़ों में बँटे हुए इन

साधुओं से भरा हुआ था। नाथमार्गी साधुओं का प्रभाव अब भी पूर्ण मात्रा में था; 'अलख' की आवाज गर्म तो थी, पर ... ये अलख जगाने वाले कुछ नहीं 'लख' पाते थे। भक्ति की जो नयी धारा आई थी, वह इन अशिक्षित, नाथ-प्रभावित, शास्त्रज्ञान-विवर्जित और विवेकहीन साधुओं के हाथों, कुछ-का-कुछ बनती जा रही थी। कलिकाल के ये 'अधम' भक्त साखी, सबदी, दोहरा, कहनी और उपखान (उपाख्यान) कह-कहकर भक्ति का निरूपण करते थे और वेद-पुराणों की निन्दा करते थे।"[90]

तुलसीदास लोकधर्म के समर्थक हैं जबकि इन ढोंगी-अज्ञानियों की वैयक्तिक साधना में लोकधर्म की सर्वथा उपेक्षा थी। तुलसी ने इस धार्मिक अवनति को बड़े क्षोभ से देखा। "उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में एक घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज में ज्ञानसम्पन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्त्तव्यों का पालन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिप्रेमपरायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागने वाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटने वाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता।"[91] और वास्तविकता भी यही थी, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित पथ-प्रदर्शन के अभाव में हिन्दू-जनता आदर्श-विहीन, उच्छृंखल, पंगु एवं विशृंखल हो चुकी थी। उसके समस्त जीवनादर्शों का लोप तो हो ही रहा था, वह अपना आत्मविश्वास खोकर परमुखापेक्षी भी बनती जा रही थी। उसका जातीय स्वाभिमान मिट चला था। जन-सामान्य के हृदय में न तो अपने देश के गौरवशाली अतीत के प्रति श्रद्धा ही रह गई थी और न ही वर्तमान विषमता, परतन्त्रता एवं पतन को मिटाकर नये, सुन्दर और गौरवपूर्ण भविष्य-निर्माण की भावना ही स्वस्थ थी।

तत्कालीन समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उच्च-स्तर के लोग विलासिता के पंक में डूबे हुए थे और निम्नवर्गीय स्त्री-पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे। अधिकांश हिन्दू राजाओं ने मुग़ल हुकूमत की अधीनता स्वीकार कर ली थी। शाही दरबार की रीति-नीति के अनुरूप विलासिता तथा चाटुकारिता को ही इन राजाओं ने अपना कर्त्तव्य मान लिया था। सम्राट् तथा सामन्तों की अवस्थिति और उनकी पारस्परिक नीति यह थी –

गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥[92]

'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुरूप प्रजा भी राजाओं के समान ही पतित हो रही थी। राजाओं की विलासप्रियता से जनता की दास्यप्रिय मनोवृत्ति को प्रश्रय मिला और वह अपनी प्राचीन शिक्षा-दीक्षा से परांगमुखी होकर शासकों के रंग में रँगने के लिए प्रयत्नशील होने लगी। पाखण्ड और पाप की वशवर्तिनी होकर वह भी मनमानी करना चाहती थी –

प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है।[93]

देशभर में विलासिता का वातावरण व्याप्त था। समाज में भोग-लालसा इतनी प्रबल हो गयी थी कि पुरुष स्त्रियों के संकेत पर नाचते थे –

नारि बिबस नर सकल गोसाई। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥[94]

स्त्रियों की तिरछी चितवन में बँधकर वे सब कुछ भुला बैठे थे। पुरुष इतने विलासी हो गये थे कि स्त्रियों के पीछे माता-पिता, बड़े-बूढ़ों की उपेक्षा एक साधारण बात थी –

सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें, रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तें॥[95]

कामवासना में नर अन्धा हो गया था। विलासिता की सीमा यहाँ तक पहुँच रही थी कि काम-प्रवृत्ति में पड़कर वह बहन और पुत्री का पवित्र नाता भी भूल गया था –

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा-तनुजा॥[96]

निम्न-वर्ग तथा कृषक-वर्ग की स्थिति दयनीय थी। उनकी प्रधान आवश्यकताओं की उपेक्षा कर उनसे अनेक प्रकार के लगान वसूले जाते थे। दुर्भिक्ष-अकाल आदि विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं की मार सहन करने वाली दीन-जनता राज्य-कर्मचारियों की क्रूरता से भी पीड़ित थी। कृषकों के साथ होने वाले अन्याय और अत्याचारों पर तुलसीदास का मत यह है –

मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहिगो जारि कै हीयो॥
कासी में कंटक जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो।
आजु कि काल्हि परौं कि नरौं जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो॥[97]

उन दिनों पड़ने वाले दुर्भिक्षों और उनके कारण काल-कवलित होने वाले प्राणियों का संकेत तुलसी ने किया है –

कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥[98]

शासकों द्वारा सतत शोषित और दुर्भिक्ष की ज्वाला से परिपीड़ित प्रजा की आर्थिक दुर्दशा का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं –

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी॥
जीविका-बिहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई, का करी?[99]

ब्राह्मण अपने जिस कर्त्तव्य और सात्त्विकता के कारण साक्षाद् भगवद्रूप माने जाते थे, वे अब लुप्तप्राय हो गये थे । अब इन ब्राह्मणों की बुद्धि नाना भाँति के राग-द्वेषों से पंकिल हो गयी थी, वे विद्या बेचकर जीविकापार्जन करने लगे थे –

प्रभु के बचन बेद-बुध सम्मत मम मूरति महिदेव-मई है।
तिन्हकी मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि लई है ॥[100]

तथा

द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन ॥[101]

सर्वत्र पाप ही पाप विद्यमान था । देव-स्थलों एवं तीर्थों की दशा चिन्तनीय थी। वे नाना प्रकार के छल-छद्म तथा अनाचारों के अड्डे बन रहे थे, मानों कलियुग अपने दल-बल-सहित वहाँ किलेबंदी कर रहा था –

सुर-सदननि, तीरथ, पुरिन, निपट कुचालि कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज ॥[102]

इस प्रकार एक ओर जहाँ इन लोक-वेद के समर्थक सम्प्रदायों में बाह्याडम्बर का प्रवेश हो चुका था तो दूसरी ओर जिन सम्प्रदायों-पंथों का लक्ष्य बाह्याडम्बर का जाल काटना था, वे स्वयं उसमें फँस गये थे।

साहित्यिक शक्ति का प्रवाह भी तत्कालीन युग में पतनोन्मुख था । मुग़लसम्राट् के आश्रित कवियों ने प्रधानतया शृंगार, वीर रस तथा नीति की कविताओं की रचना करने में ही अपना ध्यान लगाया । इन कवियों की शृंगारिक रचनाओं में संयोग एवं वियोग का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन दृष्टिगोचर होता है। नख-शिख वर्णन ही शृंगारी कविताओं का प्रधान विषय था । इसके अतिरिक्त वीर-काव्यों के अन्तर्गत जिस वीरता की व्यंजना तत्कालीन कवियों की कृतियों में हुई है, उसमें आश्रयदाता राजा, महाराजा या सरदारों की चाटुकारिता ही विशेष रूप में दिखाई देती है, सार्वभौमिकता का उसमें सर्वथा अभाव है । नीति विषयक रचनाओं में भी रहीम के अतिरिक्त अन्य अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति सामान्य नीति को छोड़ वाक्चातुरी, विनोद-हास्य आदि की ओर ही रही है । इन सूक्तियों में गहरे अनुभवों के साथ हृदय की मार्मिकता का सम्बन्ध बहुत कम दिखाई देता है। लोक-हितार्थ, धर्म-संस्थापनार्थ कोई भी प्रयास इन दरबारी कवियों द्वारा नहीं हुआ। इनकी दरबारी प्रवृत्ति की गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत से निन्दा की है –

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥[103]

गोस्वामी तुलसीदास अपने समकालीन कवियों की भाँति राजाश्रित कवि नहीं बने । राम के अतिरिक्त और किसी राजा-महाराजा को प्रसन्न कर उससे किसी प्रकार की याचना को उन्होंने विगर्हित समझा –

जाँचै को नरेस, देस देस को कलेस करै ?
दैहै तौ प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंडिये ॥
कृपापाथनाथ लोकनाथ नाथ सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िये ?[104]

कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी के समय का युग राजनैतिक पराभव का युग तो था ही, उस समय का समाज नैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से भी ह्रासोन्मुख था।

गोस्वामी तुलसीदास समाज की इन दुर्बलताओं को देखकर तटस्थ रहने वाले व्यक्ति नहीं थे । अपनी व्यक्तिगत साधना के लिए भले ही वे समाज से निर्लिप्त रहे हों, पर समाज के दुष्कर्मों को उद्‌घाटित कर उसे चेतनामय बनाने के कर्त्तव्य से वे परांगमुख नहीं थे । उन्होंने एक सुधारक के रूप में केवल दोष-दर्शन ही नहीं कराया प्रत्युत समाज को आदर्शोन्मुख भी किया । उन्होंने नाथपन्थियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जन-मानस की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को राम-भक्ति के माध्यम से पुनः पल्लवित किया, साथ ही रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनैतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर विशृंखलित हिन्दू समाज को केन्द्रित किया । उन्होंने एक ऐसी सीधी-सरल एवं सहजसाध्य भक्ति-भावना का प्रवर्तन किया जो निर्गुणमतानुयायियों की रहस्य-भावना से बिल्कुल विपरीत थी, वह भक्ति-भावना छल-कपट, बाह्याडम्बरों से रहित जन-मानस को सन्मार्ग दिखाने वाली थी।

तुलसीदास अपने युग की पंथ-निर्माण की प्रवृत्ति से अप्रभावित ही रहे। उन्होंने अपना कोई नया सम्प्रदाय या पंथ नहीं चलाया बल्कि उन्होंने शाश्वत वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा बनाये रखना ही अपना कर्त्तव्य समझा । इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समन्वय बुद्धि से काम लिया। उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का व्यापक ज्ञान था। उनके काव्य-ग्रन्थों में इनका समन्वय देखा जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपण्डित का समन्वय, रामचरितमानस के आदि से अन्त दो छोरों पर जाने वाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान् समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है।"[105] राम-काव्य में भी राम की बाल-लीला के साथ-साथ राम का वीरोचित, उदात्त, अन्याय-विरोधी, धर्म-संस्थापनार्थी रूप तुलसी ने प्रस्तुत किया जिसमें जनता ने राम के ऐसे रूप का दर्शन किया, जिसमें अन्याय के विरुद्ध न्याय की, पाशविकता के विरुद्ध देवत्व की, अधर्म के विरुद्ध धर्म की, पराधीनता के विरुद्ध स्वतन्त्रता की, पतन के विरुद्ध उत्कर्ष की और पराजय के विरुद्ध जय की क्षमता थी। अपने युग के समाज का प्रत्येक दृष्टि से अध्ययन कर "उन्होंने राम के परम्परा-प्राप्त रूप को अपने युग के अनुरूप बनाया है। उन्होंने राम की संघर्षकथा को अपने समकालीन समाज और अपने जीवन की संघर्ष-कथा के आलोक में देखा है।"[106]

तुलसीदास का यह समग्र प्रयास जनता-जनार्दन के मानस-परिष्कार के लिए था। वे जिस समाज की कल्पना करके चले, वह स्वार्थ-त्याग और बलिदान सिखाने वाला था और जिस राजा की उन्होंने भावना की थी, वह लोकाराधन के लिए राज्य, सुख, राग आदि सब-कुछ न्योछावर कर देने वाला था। उन्होंने राजा और प्रजा के लिए जो आदर्श प्रस्तुत किया वस्तुतः वह प्राचीन वर्ण-व्यवस्था और रामराज्य का प्रतिष्ठापक था।

रामराज्य का अर्थ है आदर्श राज्य। आदर्श राज्य यानी जहाँ प्रजा में पारस्परिक ऐक्य हो, किसी का किसी से बैर न हो –

बयरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई॥[107]

ऐसे राज्य में सुख-शान्ति का विकास होता है, प्रजा सदैव निर्भय, अशोक और नीरोग रहती है –

बरनास्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग॥[108]

राजा और प्रजा के लिए धर्म अर्थात् कर्त्तव्यनिष्ठता या नियमबद्धता ही सर्वोपरि होनी चाहिए। रामराज्य में इस बात को विशेष महत्त्व दिया जाता था, जहाँ प्रजापालक महाराज राम स्वयं एक नारीव्रत हों, वहाँ की प्रजा तो उनका अनुसार करेगी ही –

एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन, बच, क्रम पति हितकारी॥[109]

तुलसी ऐसे ही समाज की कामना करते हैं। इसके लिए उन्होंने प्राचीन वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर जोर दिया, पारिवारिक जीवन के आदर्शों की स्थापना पर जोर दिया, शास्त्रसम्मत प्राचीन परम्परागत नियमों और विश्वासों का वर्णन किया, मर्यादावाद का समर्थन किया।

तुलसी ने जिस भक्तिमार्ग का प्रवर्तन किया, वहाँ दुराव-छिपाव आदि बिल्कुल नहीं है। रामभक्ति का वह राजमार्ग प्राणीमात्र के लिए खुला है, उसमें प्रवेश करने के लिए एकमात्र सात्त्विक आचार की अपेक्षा है –

सूधे मन, सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुवर-प्रेम-प्रसूति॥[110]

इस प्रकार तुलसीप्रवर्तित धर्म 'चक्र' के भीतर पहेली बनकर रहने वाला न होकर सारे संसार के लिए अन्न-जल की भाँति सुलभ है –

निगम अगम, साहेब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माह॥[111]

गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व केवल इसलिए ही नहीं है कि उन्होंने धार्मिक अनाचार को भक्ति से विलग करने का प्रयास किया प्रत्युत वे महत्त्वपूर्ण इसलिए भी हैं क्योंकि उन्होंने धर्म-रसायन की योजना में नैतिक, भाविक और बौद्धिक तत्त्वों का अनूठा अनुपात स्थिर किया । माता-पिता, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र, पड़ोसी, राजा-प्रजा, ग्राहक-दुकानदार आदि के बीच परस्पर व्यवहार के लिए किये गए कार्यों में तुलसी ने नैतिकता की स्थापना की।

इतना ही नहीं वैष्णवों और शैवों में जो पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप मनोमालिन्य एवं द्वेष बढ़ गये थे तुलसीदास ने उनका पारस्परिक संघर्ष मिटाकर ऐक्य-स्थापना का उद्योग विशेष रूप से किया।

तुलसी के अनुसार रामभक्त होने के लिए शिव की भक्ति अनिवार्य है। शिव की आराधना किये बिना कोई राम-भक्त नहीं हो सकता और राम स्वप्न में भी ऐसे भक्त पर कृपा नहीं करेंगे।[112] शंकर के समान राम का अनन्य भक्त कौन है ? किसने अपनी भक्ति की प्रतिष्ठा के लिए सती जैसी स्त्री का परित्याग किया है ? शिव से बढ़कर राम का प्रिय कोई नहीं।[113] दोनों देवों की भक्ति का गूढ़ सम्बन्ध समझने के लिए श्रीमुख द्वारा कथित यह गुप्त मत भी स्मरणीय है –

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥[114]

इस प्रकार शिव और राम की उपासना में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की अनिवार्यता सिद्ध कर तुलसीदास ने शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में परस्पर ऐक्य-स्थापना करने का प्रयास किया, उन्होंने पुराणनिगमागम के आधार पर विष्णु, शिव और शक्ति में अभेद बतलाकर वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के भेद-भाव को दूर करने का सफल प्रयत्न किया।

तुलसीदास ने जिस व्यापक धर्म का निर्देश किया, वह उनका व्यक्तिगत कोई नवीन प्रवर्तित धर्म नहीं था, वह प्राचीन भारत का सनातन धर्म ही है जो मनुष्य मात्र के लिए सामान्य धर्म के नाम से अनादिकाल से प्रवाहित हो रहा है।

धर्म का व्यापक स्वरूप दिखाना और उस पर सर्वसामान्य का अधिकार जताना, तुलसीदास का अभीष्ट अवश्य था, पर उससे भी बढ़कर जो धार्मिक सन्देश उन्होंने दिया, वह है उनका परम धर्म – अहिंसा। परोपकार को परम पुण्य और पर-पीड़न को परम पाप ठहराते हुए वे कहते हैं –

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥[115]

इस प्रकार रामभक्ति के साधनरूप लोकमंगलकारी मानवधर्म और वर्णाश्रमधर्म की निबंधना करके गोस्वामी तुलसीदास ने जिस सनातन धर्मदर्शन का प्रतिपादन किया, उससे न केवल हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता बढ़ी

प्रत्युत धार्मिक-सामाजिक रूप से अस्थिर देश का कल्याण भी हुआ। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "वे आदर्शवादी ही नहीं, आदर्श-स्रष्टा थे और अपने काव्य से भावी समाज की नींव डाल रहे थे। ... आज तीन, साढ़े-तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया कि उन्होंने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।"[116]

2.3.05. तुलसी के राम

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के जिस दिव्य-पुनीत चरित की विवेचना अपने काव्य-ग्रन्थों में की है, वह न केवल चारित्रिक महिमा से मानवता के समक्ष एक अद्‌भुत आदर्श प्रस्तुत करता है प्रत्युत अपने आधिदैविक गुणों से कोटि-कोटि मानवों की श्रद्धा और भक्ति का पात्र भी बन गया है।

दाशरथि राम के चरित्र की गरिमा से प्रभावित होकर यद्यपि तुलसी से पूर्व भी राम सम्बन्धी विपुल साहित्य लिखा जा चुका था तथापि वहाँ राम कुछ दिव्यता रखते हुए भी महामानव के रूप में ही अपना प्रभाव छोड़ते हैं। वे विष्णु के अवतार होने पर भी अपना अवतारी स्वरूप कम ही उजागर करते हैं। वस्तुतः राम के व्यक्तित्व को लेकर साहित्य-रचना के मूल में तुलसी के सामने कोई समस्या नहीं थी फिर भी उनके समक्ष कई प्रश्न थे। उनमें सबसे पहला यह था कि विदेशी या विधर्मी यवनों की दासता से सत्त्वहीन हो रहे भारतीय जन-मानस को तथा राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परेशानियों से त्रस्त एवं निराश जनता को आशा का सन्देश देना था। दूसरा, भारतीय समाज चारित्रिक दृष्टि से पतित एवं भ्रष्ट हो रहा था, उसके समक्ष आदर्श चरित्र रखकर उसका चारित्रिक उत्थान भी करना था। तीसरा, धर्म के क्षेत्र में पारस्परिक कलह तथा सम्प्रदायों में वैमनस्य फैल चुका था; शैव, वैष्णव और शाक्त एक-दूसरे के निन्दक बन गये थे, इस अनावश्यक कलह को मिटाना था। चौथा, उस समय राम के स्वरूप में भ्रम फैला हुआ था। कबीर आदि सन्तों ने राम को निर्गुण, निराकार बताया था। जन-सामान्य दाशरथि राम और उपास्य राम में भेद स्वीकार करता था। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर तुलसी ने दिग्भ्रमित जनता के समक्ष राम का वह स्वरूप प्रस्तुत किया जो इन सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके।

तुलसी के राम समन्वित रूप में हमारे सामने आते है। डॉ॰ उदयभानुसिंह के शब्दों में "उनके राम में परब्रह्म एवं पुरुषोत्तम का समन्वित रूप विद्यमान है। दार्शनिक-दृष्टि से वे सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर हैं और काव्य-दृष्टि से वे मानव-प्रवृत्तियों द्वारा अनुप्राणित कथा-नायक हैं, परम्परा-प्रथित पुरुषोत्तम हैं।"[117] डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "गोस्वामी तुलसीदासजी के राम न केवल ब्रह्म हैं (निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण अशरीरी परमात्मा हैं) न केवल महाविष्णु हैं (सगुण शरीरी परमात्मा हैं) न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम हैं (आदर्श मनुष्य हैं) वरन् तीनों के सामंजस्य से पूर्ण परम आराध्य हैं।"[118] वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास ने अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र के जागतिक, प्राकृतिक, लीला-विलास में ही गुणातीत, लोकातीत, निर्विकार, निराकार, नित्यनिरंजन, प्रकृतिपरक, अज, अविनाशी, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थः' भगवान् की

अचिन्त्य, अनादि, अनन्त ऐश्वर्य-माधुरीमयी दिव्यलीला के दर्शन किये हैं और उसे अपने सुन्दर मनोहारी शब्दों में सबके लिए हृदयग्राही बनाकर सबमें वितरण किया है। अपने राम का परिचय देते हुए तुलसी कहते हैं –

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा॥
व्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥[119]

सच तो यह है कि तुलसी के राम का स्वरूप मानातीत, अगाध, अप्रमेय, वचन-अगोचर, बुद्धि से परे, अपार, अविगत और अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार श्रुति 'नेति नेति' के द्वारा ब्रह्म का निरूपण करती है तुलसी भी उसी प्रकार राम की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं –

राम स्वरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति निगम कह॥[120]

तुलसी के राम परबह्म हैं। उपनिषद्कारों और वेदान्तियों ने जिसे 'ब्रह्म' कहा है, शैवों ने जिसे 'परमशिव' माना है, वैष्णवों की दृष्टि में जो 'परम-विष्णु' हैं उसी परमार्थ तत्त्व को तुलसीदास 'राम' कहते हैं।

राम परम विशुद्ध, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, सर्वगत, परमपूर्ण परब्रह्म परमात्मा हैं जो भक्तों की अहैतुकी कृपावश चिदानन्दमय दिव्य शरीर से आविर्भूत होकर भवसागर में डूबते हुए निःशेष जीवों के कल्याण-मंगल-उद्धार हेतु परमपावनी पवित्र मर्यादाबद्ध परमानन्द-मोक्षदायिनी परम मधुर आदर्श लीला करते हैं। इस प्रकार तुलसी अपने आराध्य राम में परब्रह्म एवं पुरुषोत्तम का अद्भुत सामंजस्य प्रतिस्थापित करते हैं।

जिस प्रकार प्राचीन शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म, पुरुष या विष्णु से बड़ा कोई देव नहीं है, उसी तरह तुलसी के अनुसार राम से बड़ा कोई देव नहीं है। वस्तुतः तुलसी के राम में उसी परब्रह्म के एवं परमपुरुष विष्णु के गुण समाहित दीख पड़ते हैं।

निराकार रूप में तुलसी का अपने आराध्य राम से आशय उस अशरीरी परमात्मा से है जो सर्वव्याप्त है एवं जो कुछ दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् विश्व तथा असंख्य ब्रह्माण्ड हैं उन सबमें एक साथ एक समान रम रहा है। सर्वत्र रमण करने के कारण ही उनका नाम 'राम' है। चेतन-अचेतन प्राणि-पदार्थ मात्र में वे परब्रह्म राम रम रहे हैं –

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥[121]

राम विशुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं। वे सदा रहने वाले, अखण्ड ज्ञानस्वरूप परमानन्दसिन्धु हैं। वे सदा उदित रहने वाले सूर्य हैं। उनमें मोह या अज्ञान-अन्धकारमयी रात्रि का लेश मात्र भी नहीं है। वे सहज प्रकाश रूप हैं –

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥[122]

वे परमब्रह्म परमात्मा परमविशुद्ध ब्रह्म राम ही मूलतत्त्व या परमतत्त्व हैं। समस्त जीव और सम्पूर्ण जगत् उन्हीं से आविर्भूत हैं। वे जीव और जगत् के परम प्रकाशक हैं –

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥[123]

राम ही विश्व के परम कारण हैं। वे जगत् से अभिन्न उसके निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण हैं।[124] इसीलिए तुलसी ने उन्हें 'विश्व-कारण-करण' भी कहा है।

परब्रह्म राम ही 'परम सत्य' हैं क्योंकि उनके स्वरूप का परिवर्तन या नाश नहीं होता। इसी अर्थ में वे नित्य एवं शाश्वत भी हैं। वे ब्रह्म राम चिन्मय हैं –

राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्ब रहित सब उरपुर बासी ॥[125]

तुलसी के परब्रह्म राम परमानन्द स्वरूप हैं।[126] उन्होंने सुखसंदोह, आनन्दकन्द, आनन्दसिन्धु आदि शब्दों द्वारा राम के इसी रूप की व्यंजना की है। वे शुद्ध ब्रह्म परात्पर राम एक, अद्वितीय और अनुपम हैं।[127]

वे विश्वविलोचन परब्रह्म राम सर्वज्ञ हैं, वे संसार रूपी दृश्य के द्रष्टा हैं। वे सबके मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु 'सबरदरसी' तो हैं ही;[128] वे समदर्शी भी हैं अर्थात् उनके लिए न कोई प्रिय है, न अप्रिय।[129] उनकी न किसी से शत्रुता है और न किसी से मित्रता।

निर्लिप्त-भावी वे परब्रह्म राम सम्पूर्ण विश्व के शासक हैं। वे परम शक्तिमान् राम जड़-चेतन प्राणि-पदार्थों के संरक्षक तो हैं ही; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कर्म, काल, देवी-देवता, दानव-मानव आदि भी उन्हीं की माया के वशीभूत हैं। इस प्रकार वे सर्वनियामक एवं सर्वनियन्ता हैं।[130] वे परम सामर्थ्यशाली प्रभु निजेच्छा से क्षणमात्र में चेतन को जड़ और जड़ को चेतन करने में समक्ष हैं –

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हिं करइ चैतन्य।[131]

परब्रह्म राम जगत् के स्थितिसंयमकर्त्ता भी हैं और जगद्रूप भी हैं क्योंकि उन्हीं से यह जगत् उद्भूत हुआ है और उन्हीं में स्थित भी है। वस्तुतः वे विश्व के कर्त्ता, पालक और संहारक तीनों ही हैं –

जो करता पालक संहरता॥[132]

सृष्टि के पूर्व भी राम थे, वर्तमान में भी जो कुछ भासित हो रहा है, वह राम-रूप ही है और सृष्टि के संहार के पश्चात् भी जो कुछ शेष रह जाएगा वह केवल राम ही होंगे। इस प्रकार सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र वे परब्रह्म राम ही व्याप्त रहते हैं।

ऐसे जगद्वन्द्य जगदीश परमेश्वर श्रीराम की उपासना में ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी लवलीन रहते हैं क्योंकि हरि को 'हरिता', विधि को 'विधिता' और शिव को 'शिवता' देने वाले ये परम प्रभु राम ही हैं। अनन्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव के मूल अंशी राम हैं, उन्हीं के अंश से नाना त्रिदेवों का उदय होता है –

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥[133]

इस प्रकार राम त्रिदेवों से परे ही नहीं, उनके नियामक भी हैं। तुलसी तो यहाँ तक कहते हैं कि केवल एक राम में सृष्टि-रचना का जो नैपुण्य है, सृष्टि-पालन की जो क्षमता है एवं सृष्टि-संहार की जो शक्ति है, वह कोटि-कोटि सम्मिलित ब्रह्मा, विष्णु, महेश में ही हो सकती है –

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटि सम पालनकर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥[134]

ऐसे सच्चिदानन्दघन बलधाम परमात्मा राम के भ्रूविलास के संकेत पर ही माया अपना प्रचण्ड व्यापार रचाती है। केवल माया ही नहीं; जीव, प्रकृति, गुण, काल, कर्म, महत्तत्त्वादि सभी के अधिष्ठाता परब्रह्म राम ही हैं –

माया जीव काल के, करम के, सुभाय के,
करैया राम, बेद कहैं, साँची मन गुनिए।[135]

ऐसे अमोघ शक्ति-सम्पन्न परब्रह्म राम के नाम, रूप और गुण अनन्त हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है, जिसका पार कोई नहीं पा सकता। पृथ्वी के कण तो कोई गिन सकता है किन्तु राम के गुण नहीं गिने जा सकते। उनके विषय में जितना कहा जाए वह थोड़ा है। स्वयं महादेव शिव प्रभु राम को 'अतर्क्य' बतलाते हैं –

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥[136]

तुलसीदास कहते हैं कि सभी सज्जन अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उन 'अतर्क्य' प्रभु का गुणानुवाद गाते हैं –

आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥[137]

अनन्त अप्राकृत गुणों से विभूषित वे निर्गुण निराकार रूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण साकार रूप में रघुवंशी राम रूप में अवतरित हुए हैं। जिस प्रकार आकाश में परमाणु रूप से स्थित जल ही बादल रूप में बरसता है तथा काष्ठ में स्थित अग्नि घर्षण स्वरूप दृश्यमान हो जाती है वैसे ही वह परब्रह्म निर्गुण निराकार राम

भक्तवत्सलता, करुणा आदि गुणों से युक्त होने के कारण भक्तों के उद्धारार्थ दशरथ पुत्र राम रूप में अवतरित हुए हैं।

वस्तुतः वेद और उपनिषदों में शाश्वत सत्यों का वर्णन तो था, परन्तु सामान्य मनुष्य के धरातल पर उन्हें ले आने की आवश्यकता थी। इसलिए पृथ्वी पर सत्य का अवतार श्रीरामचन्द्र रूप में हुआ। वे राम वस्तुतः परब्रह्म ही हैं जो भक्तों के रंजन के लिए मनुष्य जैसी लीला करते हैं–

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुनरहित जो।
मायापति सोइ राम, दास-हेतु नर-तनु धरेउ॥[138]

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि राम की निर्गुण निराकार स्वरूपता को स्वीकार करके भी तुलसी राम की सगुण साकार स्वरूपता की प्रतिस्थापना हेतु क्यों प्रवृत्त हुए?

इसका समाधान डॉ॰ उदयभानुसिंह के इन शब्दों में देखा जा सकता है – "वस्तुतः राम का सगुण रूप निर्गुण राम का ऐश्वर्य है। उस ऐश्वर्याभिव्यक्ति के अभाव में भगवान् राम जड़ और निरर्थक हो जाते।"[139] स्पष्ट है कि तुलसी द्वारा प्रतिपादित राम के निर्गुण और सगुण में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है, अन्तर केवल वेष का है। निर्गुण-सगुण दोनों का समन्वय करते हुए तुलसीदास स्पष्टतः कहते हैं कि उनके राम स्वरूपतः निर्गुण और सगुण दोनों हैं –

अगुन-सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥[140]

तथा

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥[141]

वह परब्रह्म परमात्मा सगुण भी है, निर्गुण भी; साकार भी है, निराकार भी और वह इन दोनों से विलक्षण भी है। देखा जाए तो वह परमात्मा विवेचन, वर्णन और चिन्तन से परे है क्योंकि विवेचन, वर्णन और चिन्तन करने वाली शक्ति सीमित है जबकि वह परमात्मा अनन्त, अपार और असीम है। सीमित शक्तियों द्वारा असीम तत्त्व कैसे नापा जा सकता है ? उस अलौकिक तत्त्व का तो केवल लक्ष्य ही कराया जा सकता है। इसलिए कविवर तुलसीदास ने पद्मपुष्पशोभित सरोवर के सादृश्य द्वारा उपपत्तिपूर्वक परब्रह्म राम की सगुणरूपमाधुरी का चित्ताकर्षक चित्रण किया है –

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुण ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।[142]

वास्तव में जो सब गुणों से सर्वथा अतीत है, उसी में सब गुण रह सकते हैं। जो किसी एक गुण में आबद्ध हो, उसमें सभी गुण नहीं रह सकते और जिसमें अनन्त गुण अनादिकाल से नित्य-निरन्तर रहते हैं, वह यथार्थतः सभी गुणों से सर्वथा निर्लिप्त है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि शब्द उसके द्योतन करने वाले विशेषण हैं, न

कि उसका वर्णन करने वाले। वास्तव में, सब दृष्टियों से अतीत तत्त्व एक ही है, वह अलौकिक है, उसके समान कोई अन्य होना सम्भव ही नहीं।

अभिप्राय यह है कि तुलसी के राम एक हैं। वे परमात्मा एक ही साथ सगुण भी है, निर्गुण भी; साकार भी हैं, निराकार भी; व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी; बहिर्यामी भी हैं, अन्तर्यामी भी; गुणाश्रय भी हैं, गुणातीत भी; प्राकृत गुणों से रहित होने पर भी वे अनन्त अप्राकृत विमल गुणों से विभूषित भी हैं। इस प्रकार जो अलख निरंजन राम हैं, वे ही दशरथतनय कौसल्यानन्दन राम है।

उस निर्गुण निराकार ब्रह्म में सगुण साकार ब्रह्म का आरोप कर देने से मात्र यह परिवर्तन होता है कि "जो राम निराकार और सर्वदेशीय बताये गये हैं वे ही इस झाँकी में साकार और एकदेशीय बन गये हैं। जो विश्वरूप कहे गये थे वे सुर रूप होकर भक्तों के सामने आ रहे हैं। जिनके अनन्त नाम थे, अनन्त रूप थे, अनन्त लीलाएँ थीं और अनन्त धाम थे उनके विशिष्ट नाम, विशिष्ट रूप, विशिष्ट लीलाएँ और विशिष्ट धाम की कथा चल पड़ती है।"[143]

तुलसीदास राम के निर्गुण और सगुण स्वरूप में अभेद-दृष्टि रखते हैं तथा तत्त्वतः उन्हें एक ही बताते हैं फिर भी उनके द्वारा राम के साकार रूप को ही अपेक्षाकृत अधिक श्रेयष्कर एवं भजनीय बताने के पीछे प्रमुख कारण तुलसी का भक्त हृदय है जो राम की साकार-मूर्ति पर अनुरक्त है, दूसरी मुख्य बात है तुलसी की लोकवादी दृष्टि। तुलसी लोककल्याण की भावना लेकर चले थे, वे लोक के कल्याण की, उसकी सुगमता के बारे में सोचने वाले सहृहदय भक्तकवि थे। उन्होंने महसूस किया कि "निर्गुण-निराकार ब्रह्म जीव की भाविक सन्तुष्टि नहीं कर सकता। उस उदासीन निर्लेप परमात्मा से आत्मकल्याण की आशा करना व्यर्थ है। त्रितापपीड़ित लोकयात्री को तो ऐसा आराध्य चाहिए जो उसकी व्यथा-कथा सुन सके, उसके प्रति सहानुभूति रख सके और संकट से उसका उद्धार कर सके। सगुण-साकार राम इसी प्रकार के भजनीय हैं। वे भक्त पर अतिशय ममता और उसके मंगल का सदैव ध्यान रखते हैं, स्नेहमयी जननी की भाँति उसकी निरन्तर रखवाली करते हैं।"[144]

भक्त की इस मनःकामना को तुलसी भली-भाँति समझते थे इसलिए वे अपने आराध्य राम का तादात्म्य विष्णु के साथ करते हैं। इस प्रसंग में पुनः एक प्रश्न उठ सकता है कि जब वे परब्रह्म स्रष्टा भी हैं, पालक भी हैं, संहारक भी हैं तो गोस्वामी तुलसीदास ने अपने आराध्य राम का तादात्म्य स्रष्टा ब्रह्मा से या संहारक शिव से क्यों नहीं किया ?, विष्णु से ही क्यों किया ? उत्तर स्पष्ट है कि आत्मकल्याण एवं लोककल्याण की भावनाएँ रखने वाला भक्त परब्रह्म परमात्मा के पालक भाव की ओर ही विशेष रूप से आकृष्ट होता है। इस पालक तत्त्व को तुलसी ने जगद्भर्ता विष्णु के रूप में देखा। फलस्वरूप उन्होंने अपने इष्टदेव राम का तादात्म्य विष्णु के साथ किया है।

वेद और पुराण जिनको माया, गुण और ज्ञान से परे और परिमाणरहित बतलाते हैं; श्रुतियाँ और सन्तजन जिनका दया और सुख का समुद्र, सब गुणों का धाम कहकर गान करते हैं; वेद के कथनानुसार जिनके प्रत्येक रोम में माया के रचे हुए अनेक ब्रह्माण्डों के समूह भरे हैं; उन्हीं परब्रह्म परमेश्वर ने भक्तों पर प्रेम करने वाले अपार शोभा-मण्डित घनश्याम वपुषधारी लोचनाभिराम चतुर्भुज श्रीकान्त विष्णु रूप में अपने आयुध, दिव्याभूषण और

वनमाला धारण किये हुए माता कौशल्या को दर्शन दिए। तदनन्तर माता कौशल्या की मनोकामनानुसार उनको परम अनुपम सुख देने के लिए वे ही सुरभूप भगवान् विष्णु बालक रूप होकर रुदन करने लगे –

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

* * *

माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता।
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥

* * *

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।

* * *

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा॥
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा॥[145]

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने आराध्य राम की 'सिन्धु-सुता-प्रिय-कन्त' एवं 'मुकुन्द' आदि अभिधानों के द्वारा वन्दना करके भी विष्णु और राम का तादात्म्य किया है। इतना ही नहीं, राम को 'इन्दिरापति' और 'कमलारमण' भी कहा गया है। साथ ही राम के लिए 'हरि' शब्द का बारम्बार प्रयोग, उनका धाम 'क्षीरसागर' तथा 'बैकुण्ठ' होना एवं उनको 'विहंग-राज-गामी' या 'गरुड़-गामी' कहना भी राम के विष्णुत्व के ही परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र के रूपसौन्दर्य-वर्णन में उनके वक्षस्थल पर वनमाला के अतिरिक्त 'विप्रचरण-चिह्न' का वर्णन भी यही सूचित करता है कि राम और विष्णु के विग्रह अभिन्न हैं।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास विभिन्न स्थलों पर नाना भाँति के अभिधानों द्वारा अपने इष्टदेव राम और जगद्भर्ता पालनहार विष्णु का तादात्म्य सूचित करते हैं किन्तु इससे यह भ्रम कदापि नहीं होना चाहिए कि तुलसी के आराध्य राम विष्णु ही हैं या विष्णु की सामर्थ्य तक ही सीमित हैं प्रत्युत तुलसी के राम तो परब्रह्म परमात्मा के पूर्णरूप होने के कारण अनेक कल्पों के करोड़ों विष्णुओं का सामर्थ्य रखते हैं। तुलसी ने "विष्नु कोटि सम पालनकर्त्ता"[146] कहकर इस भ्रम को दूर कर दिया है। साथ ही त्रिदेवों और पंचदेवों में विष्णु को सम्मिलित करके

तुलसी ने उन्हें न केवल राम का भक्त ही बताया है वरन् राम की शक्ति के आगे विष्णु को नीचा भी दिखा दिया है।[147]

तुलसी के राम देवाधिदेव हैं, महाविष्णु हैं, अद्वितीय-अनुपम हैं । अपने आराध्य का यह देवाधिदेवत्व तुलसी ने अनेक प्रकार से सिद्ध करके की चेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने जड़ तथा चेतन तत्त्वों पर राम का प्रभाव प्रकट करके तथा सम्मान्य देवों द्वारा उनके महत्त्व को व्यक्त करा कर तो इस विषय की पुष्टि की ही है साथ ही स्वयं भी राम का विराट् स्वरूप प्रदर्शित करते हुए राम को विश्वरूप और विभिन्न लोकों को राम के अंगों के रूप में अंकित करके उनकी महिमा का बखान किया है–

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

* * *

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुजवास सचराचर रूप राम भगवान॥[148]

तुलसी स्पष्ट करते हैं कि उनके आराध्य राम सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक हैं जिन्हें वैष्णव भक्तों ने अपनी भावना, इच्छा तथा कल्पना के अनुसार बैकुण्ठलोक अथवा क्षीरसागर में विराजमान माना है –

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

* * *

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥[149]

भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर वे राम रूप में प्रकट अवश्य हुए हैं परन्तु राम रूप में प्रकट होने से तात्पर्य उस अव्यक्त-निर्गुण-निराकार परब्रह्म राम का व्यक्त-सगुण-साकार रूप में प्रकट होना ही है। मनुजरूप में अवतरित होने पर भी उन प्रभु श्रीराम का दिव्य मंगलमय शरीर पंचभौतिक नहीं है प्रत्युत वह तो सच्चिदानन्दमय, सर्वथा निर्विकार, मायागुण-रहित और स्वेच्छासम्भूत सत्य नित्य चिद्घन-विग्रह है –

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

तथा

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥[150]

तात्पर्य यह है कि "विग्रह विशेष के रूप में आविर्भूत राम की भासमाना एकदेशीयता उनकी पूर्णता, सर्वव्यापकता या विभुता का प्रतिबन्ध नहीं करती।"[151]

इस प्रकार तुलसी के राम अवतारी भी हैं और अवतार भी। भक्तों के कल्याणार्थ, उनकी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार वे विराट् स्वरूप विश्वरूप परब्रह्म राम शरीर धारण करके पृथिवी पर आविर्भूत होते हैं। दशरथतनय रूप में उनका प्राकट्य भी उनका एक अवतार ही है। अवतार रूप में भी राम स्वयं अपने परब्रह्मत्व से परिचित हैं। तभी तो कौशल्या को वे अपने आविर्भाव के समय ही सचेत कर देते हैं कि वे उसके पुत्र नहीं वरन् 'माया-गुन-ग्यानातीत' हैं।[152] दशरथ भी उनके ब्रह्म रूप से अवगत हैं।[153] अन्य समस्त प्राणी भी लौकिक नातों के बीच भी उनके परब्रह्म स्वरूप को पहचानते हैं।

राम को अपनी सर्वतन्त्रता-स्वतन्त्रता एवं शक्ति-सम्पन्नता का बोध भी है। वे संसार की सत्ता को शरणागत के रूप में ही मानते हैं। वस्तुतः उनका समस्त जीवन ही एक विशाल क्रीड़ा और विराट् अभिनय है। उनका प्रत्येक कार्य केवल इच्छा मात्र से ही हो जाता है। उन्हें किसी कार्य के सम्पादन के लिए परिश्रम या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। धनुष-यज्ञ में वे धनुष को अनायास ही उठा लेते हैं और उसे कमलनाल की भाँति खण्ड-खण्ड कर देते हैं। विराध, कबन्ध, बालि आदि का केवल एक बाण से ही वध कर देते हैं। रावण के साथ वे युद्ध नहीं करते बल्कि उसे खेल खिलाते हैं।

इसी प्रकार उनके समस्त मनोविकार भी प्रदर्शनमात्र हैं, क्योंकि उनकी इच्छाशक्ति ऐसी है, जिससे समस्त सृष्टि और अखिल ब्रह्माण्ड संचालित है। स्पष्ट है अवतार रूप में श्रीराम स्वयं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

इस सन्दर्भ में एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उन सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण परब्रह्म परमेश्वर का रामावतार विषयक मूल प्रयोजन क्या है ?

सामान्यतया सज्जनों के परित्राण, अधर्मियों के विनाश, श्रुतिसम्मत धर्म के संस्थापन और भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिए परब्रह्म परमेश्वर राम देह धारण करते हैं। उनके रामावतार का विशिष्ट प्रयोजन भक्तों का आनन्द, उनके वचन की रक्षा एवं निरपराध जनों का उद्धार करना है।

तुलसी कहते हैं कि जो परमेश्वर एक हैं, सच्चिदानन्द और परमधाम हैं, जिनका कोई नाम रूप नहीं, जो इच्छा रहित हैं, उन्हीं भगवान् ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकार की लीलाएँ की हैं। वे लीलाएँ केवल भक्तों के हित के लिए ही हैं, क्योंकि भगवान् परम कृपालु हैं और शरणागत के बड़े प्रेमी हैं –

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥[154]

जब स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा अखिल लोक (ब्रह्माण्ड) नायक भगवान् विष्णु को पुत्र रूप में देखने की इच्छा से प्रेरित होकर प्रार्थना करते हैं कि –

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानदं निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥[155]

अर्थात् जिन्हें वेद 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करते हैं; जो आनन्दस्वरूप, उपाधिरहित और अनुपम हैं एवं जिनके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् प्रकट होते हैं। हे दानियों के शिरोमणि ! हे कृपानिधान ! हे नाथ ! हम आपसे अपने मन का सच्चा भाव कहते हैं कि हम आपके समान पुत्र चाहते हैं।[156] उनकी यह प्रीति देखकर, उनके ये अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान भगवान् बोले – एवमस्तु। हे राजन् ! मैं अपने समान दूसरा कहाँ जाकर खोजूँ ! अतः स्वयं ही आकर तुम्हारा पुत्र बनूँगा।[157] ऐसा कहकर प्रभु अपने रामावतार का संकेत करते हैं –

होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥

इच्छामय नरवेष सँवारें। होइहउँ प्रगत निकेत तुम्हारें॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥[158]

इस प्रकार वे अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, परात्पर, पूर्णतम, सच्चिदानन्दकन्द, निर्गुण, निर्विकार, अच्छेद्य, अभेद्य, अलक्ष्य, अखण्ड, अचिन्त्य, अव्यय, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, उपनिषद्वेद्य, शुद्ध ब्रह्म ही सकल कल्याणमय, गुणगणनिलय, सगुण, साकार, सर्वजन मनोहर, सर्वेन्द्रियाभिराम शरीर धारण कर रघुनन्दन, दशरथनन्दन, कौसल्यानन्दन श्रीरामरूप में प्रकट होते हैं। तुलसीदास कहते हैं जो सर्वव्यापक, निरंजन (मायारहित), निर्गुण, विनोदरहित और अजन्मा ब्रह्म है, वही प्रेम और भक्ति के वश माता कौसल्या की गोद में खेल रहा है –

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥[159]

इस विषय को तुलसीदास शिव-पार्वती प्रसंग में और भी स्पष्ट करते हैं। जहाँ शिव पार्वती से कहते हैं कि उन प्रभु के अवतार ग्रहण करने का एक ही कारण नहीं है अपितु उनके द्वारा अवतारग्रहण करने के अनेक कारण हो सकते हैं और कई कारण ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें कोई जान ही नहीं सकता। शिव कहते हैं –

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु॥
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जनम कर हेतु॥

सोई जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥
राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥[160]

भक्तों के दुःख से दुःखित होकर विश्व के कल्या ण के लिए वे श्री भगवान् स्वयं रामरूप में अवतार धारण करते हैं एवं नाना भाँति की लीलाएँ करते हैं –

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला॥[161]

भक्त के निमित्त वे सर्वेश्वर प्रभु श्रीभगवान् राजवेष धारण करके परम पावन लीला करते हैं । प्राकृत दृष्टि से नर-लीला के अनुकरण में वे मनुष्य ही जान पड़ते हैं । यथार्थतः वे सच्चिदानन्द, जन्म-रहित, व्याप्य-व्यापक, अखण्ड, अनन्त-स्वरूप हैं –

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥[162]

अपने इष्टदेव राम का स्वरूप हृदयंगम कराने के लिए तुलसी ने उनके अनन्त गुणों का बखान अपने काव्य-ग्रन्थों में किया है।

श्रीरामचन्द्र के अनन्त गुणों में 'शरणागतवत्सलता' एक महान् गुण है। उनका आश्रय जिस किसी ने भी लिया, उसे किसी अन्य के आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती । राम शरणागत को प्राणों से भी बढ़कर मानते हैं –

जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥[163]

जब विभीषण श्रीराम की शरण आया तो उन्होंने तुरन्त उसे लंका का राजा घोषित कर दिया। इतना ही नहीं, सभी प्रकार से उसकी रक्षा भी की । जब रावण ने विभीषण को मारने के लिए शक्ति चलाई तो शरणागतरक्षक श्रीरामचन्द्र ने विभीषण को पीछे कर दिया और उस शक्ति को स्वयं पर ले लिया –

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥[164]

मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण को गोद में लेटाए रामचन्द्र नेत्रों से अश्रु बहा रहे हैं और समस्त विपत्तियों के लिए स्वयं को दोषी मान रहे हैं –

मोपै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लषन सो भाई॥

पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहिबन-बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौं न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिश कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरकि दरार न जाई॥
तात-मरन तिय हरन गीध-बध भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥[165]

दीनबन्धु प्रभु राम परमकृपालु, भक्तचिन्तामणि और पतितजनतारन हैं। करुणासिन्धु प्रभु राम के समान 'प्रेमकनौड़ा' तो त्रिभुवन और तीन काल में भी कोई नहीं है। वे अपने भक्त के अवगुणों पर दृष्टि न देकर गुण की ओर ही देखते हैं। वे परम सामर्थ्यशाली प्रभु सेवक की सेवकाई के वशीभूत होकर स्वयं ही उसके ऋणी बन जाते हैं। उन्हें अपने भक्त से और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, वे तो केवल सहज प्रीति चाहते हैं। राम की सहज शरणागत-वत्सलता और उनकी दासप्रियता का बखान स्वयं उन्हीं के श्रीमुख से दर्शाते हुए तुलसी कहते हैं–

सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ।
आयौ सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत ऋषिराउ।
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ।
तिनहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ।
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ।[166]

यद्यपि राम समदर्शी हैं; धनी-निर्धन, पुण्यात्मा-शरणागत घोरातिघोर पापी का भी वे परम-कल्याण करते हैं; तथापि अपने दास पर वे अनन्य प्रीति रखते हैं, राम का उपासक उनकी ममता और प्रीति दोनों का पात्र होता है। अपने अन्तःकरण में भक्त के प्रति असीम वात्सल्य एवं चिन्ता रखने वाले शरणागतरक्षक राम भक्त की आर्त-पुकार सुनकर कहाँ-कहाँ तक नहीं पहुँचते ? बड़े से बड़े संकट में भी वे परम सामर्थ्यशाली राम तत्काल अपने भक्त की रक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं –

प्रभु सत्य करी प्रहलाद-गिरा, प्रगटे नरकेहरि खंभ महाँ।
झखराज ग्रस्यो गजराज, कृपा ततकाल, बिलंब कियो न तहाँ॥
सुर साखी दै राखी है पांडुबधू तट लूटत, कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच-बिमोचन को, जन को पन राम न राख्यो कहाँ॥[167]

राम की परमोदारता भी अकथनीय है। वे बिना सेवा के ही द्रवीभूत हो जाते हैं। बड़े-बड़े मुनि और ज्ञानी-जन नाना भाँति के योगादि साधन के सम्पादन द्वारा जो पद नहीं प्राप्त कर पाते, वह पद परमोदार राम ने शबरी और गृद्ध को दे दिया। इतना ही नहीं, जो विपुल वैभव रावण ने घोरातिघोर तप का अनुष्ठान करके शिव की कृपा से प्राप्त किया था, वही अतुलनीय ऐश्वर्य प्रभु राम ने सकुचाते हुए विभीषण को दे दिया। यह राम की परमोदारता ही है कि उन्होंने अहल्या का भी उद्धार किया, निषाद को सखा बनाकर उसे लोक-परलोक दोनों में पुनीत कीर्ति दी, बन्दर-

भालु को भी अपनाया तथा रावण से त्रस्त विभीषण को शरण में आया देखकर उसे राजा बनाया और इस प्रकार अपना 'करुणानिधि' एवं 'अनाथ-नाथ' नाम सार्थक किया –

ऋषिनारि उधारि, कियो सठ केवट मीत, पुनीत सुकीर्ति लही।
निज लोक दियो सबरी खग को, कपि थाप्यो सो मालुम है सब ही ॥
दससीस-बिरोध, सभीत विभीषन भूप कियो जग लीक रही।
करुनानिधि को भजु रे तुलसी, रघुनाथ अनाथ के नाथ सही ॥[168]

फूल से भी अधिक कोमल और वज्र से भी बढ़कर कठोर चित्त वाले विशाल हृदय प्रभु राम की दानशीलता भी वर्णनातीत है। दानि-शिरोमणि राम से जो एक बार भी याचना करता है, वह सदा के लिए अयाचक हो जाता है। राम तो कल्पवृक्ष हैं; सुर-असुर, नर-नाग में ऐसा कौन है जो 'दसरथ के दानि-सिरोमनि राम' के पास जाकर अपना मनोवांछित फल न पा सका हो–

दसरत्थ के दानि-सिरोमनि राम, पुरान-प्रसिद्ध सुन्यो जसु मैं।
नरनाग सुरासुर जाचक जो तुम सों मन भावत पायो न कै॥[169]

अन्य विविध गुणों के आगार होने के साथ-साथ तुलसी के प्रभु राम शील-संकोच आदि के पारावार भी हैं। अपरिमित सरल शीलवान् उन सीतापति राम के समान शील और स्नेह का निर्वाह करने वाला अन्य कोई नहीं। अत्रि, भरत, दशरथ आदि तो राम के गुण, रूप एवं शील का बखान करते ही हैं। यहाँ तक कि स्वभाव से ही क्रुद्ध होने वाले परशुराम भी अन्ततः राम के शील पर मुग्ध हो उनकी स्तुति करने लग जाते हैं। राम का शील-स्वभाव मन को उत्फुल्ल करने वाला, तन को रोमांचित करने वाला और नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित करने वाला है। उनके शील के विषय में तुलसी कहते हैं–

प्रभु तरु पर, कपि डार पर, ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सो साहिब सीलनिधान ॥[170]

राम धर्मपरायण एवं सत्यनिष्ठ हैं। वे धर्मधुरन्धर, सत्यप्रिय, वेद की मर्यादा के रक्षक हैं। उनका अवतार ही जीव-जगत् के कल्याणार्थ हुआ है। दुष्टों के दल का नाश करने वाले तथा देवताओं का हित-सम्पादन करने वाले वे राम गुरु, पिता और माता के वचनों की आज्ञानुसार चलने वाले हैं। नीति-प्रीति, परमार्थ, स्वार्थ के यथार्थ मर्म को राम से बढ़कर समझने वाला और कोई नहीं। तुलसीदास कहते हैं – ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, चन्द्र, सूर्य, दिक्पाल, माया, जीव, समस्त कर्म एवं काल, शेष, पृथ्वी एवं पाताल के अन्यान्य राजा और वेद एवं शास्त्रों में गायी गई योग की सिद्धियाँ – इन सभी के सिर पर राम की ही आज्ञा वर्तमान है अर्थात् वे ही सबके एकमात्र महान् महेश्वर हैं।[171] राम सर्वज्ञ, सुजान, धर्म-नीति-गुण-ज्ञान-निधान हैं और 'बेदबोधित-कर्म-धर्म-धरणी-धेनु-बिप्र-सेवक-साधु-मोदकारी' हैं।[172]

असंख्य सद्गुणों एवं उदात्त वृत्तियों के आगार श्रीराम का सौन्दर्य तो कल्पनातीत है। उसे वही जानता है, जिसने कभी स्वप्न में भी वह रूप देखा हो। राम के प्रत्येक अंग की सुषमा अप्रतिम है, भक्तजन सुखदायी है। अनुपमेय सौन्दर्य के परमाश्रय किशोरवय श्यामवर्णी श्रीराम के अंग की शोभा के समक्ष तो शतकोटि कामदेवों की शोभा भी तुच्छ है –

बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुखधाम।
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम॥[173]

राम का मनोरम स्वरूप शिव और काकभुशुण्डि सदृश परम रामभक्त अपने हृदय में प्रतिष्ठित किये रहते हैं, मुनिजन भी उसके दर्शन का यत्न किया करते हैं। श्रीराम के उस मनोहारी स्वरूप का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं –

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु कर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावँती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥

तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुर बसहिं जेन्ह माहीं॥[174]

राम के वर्णनातीत सौन्दर्य पर सौन्दर्यप्रेमी नर-नारियों का वशीभूत होना तो स्वाभाविक ही है, उस अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर तो पशु-पक्षी भी आनन्दित हो उठते हैं। इतना ही नहीं, जलचर भी प्रकट होकर श्रीराम का दर्शन करते हैं और दर्शन के आनन्दातिरेक में वे निश्चल से हो जाते हैं। राम के इस अपरिमित सौन्दर्य का प्रभाव उनके सेवक, सुर, नर, मुनि, चर, अचर पर पड़ना तो स्वाभाविक ही है किन्तु विशिष्टता तो यह है कि शत्रु निशाचर भी इस शोभा के समक्ष आकर मोहित हो जाते हैं और अपना आयुध चलाना भूलकर इस सौन्दर्यमयी छबि को निहारने लग जाते हैं। राम का अपार सौन्दर्यमय शरीर समस्त संसार को प्रकाशित कर रहा है। करोड़ों कामदेवों की छवि को भी लज्जित करने वाला राम का यह रूप-सौन्दर्य सभी प्राणियों को मोहित कर देने वाला है। तुलसीदास कहते हैं – "जिसका जैसा मन का भाव है, राम उसको वैसे ही दिखते हैं। उन अनादि नित्य रस की मूर्ति श्रीराम को

देखकर सभा के राजा लोग, वीर पुरुषों के समूह, साधारण पुर नर-नारी अपने-अपने हृदय के भावों की शोभा ही श्रीराम के रूप में देख रहे हैं। योद्धागण उनको मूर्तिमान वीर रस के रूप में देखते हैं, कुटिल लोगों को वे भयानक दीख पड़ते हैं, असुर भावापन्न लोगों को यमराज के रूप में तथा पुर के नस्नारियों को श्रेष्ठ पुरुष-रत्न के रूप में दिखते हैं –

देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भाषा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥
रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेह सुखु नहिं कथनीया॥

* * *

एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ॥[175]

श्रीराम के बाल-रूप की झाँकी तो परम आह्लादकारिणी है, जो भक्तों को असीम सुख-राशि प्रदान करती है। रघुपति के अनेकानेक भक्तगण उनके इसी बाल-रूप पर तृण तोड़ते हैं, ध्यान-मग्र रहते हैं। महादेव शिव भी बालक राम के इस अनुपमेय सौन्दर्य पर मुग्ध हैं तथा इसी बालरूप की वन्दना करते हैं। काकभुशुण्डि पक्षीराज गरुड़ को श्रीराम की बाललीला का श्रवण कराते हुए प्रेमानन्दवश पुलकित हो जाते हैं–

बालबिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥

रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर॥
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर॥

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुह दुह दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससि कर सम हासा॥
नील कंज लोचन भव मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए॥
पीत झीनि झगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी॥ नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥
मोहि सन करहिं बिबिधि बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥[176]

श्रीराम की ये मनोहारी बालसुलभ चंचलताएँ उन चिदानन्दस्वरूप भगवान् की लीलाएँ ही हैं जो भक्तों को सुख देने वाली हैं।

अरण्य-विहारी राम के रूप-लावण्य की छवि भी अगाध है। रामोपासकों में अधिकांश भक्तगण अपने आराध्य राम के इस विपिन-विहारी कर-शर-धारी रूप का ही ध्यान-मनन करते हैं। तुलसी स्वयं भी राम की इसी छवि पर विशेष मुग्ध हैं –

राघव, भावति मोहि बिपिन की बीथिन्ह धावनि।
अरुन-कंज-बरन चरन सोकहरन, अंकुस कुलिस केतु अंकित अवनि॥
सुंदर स्यामल अंग, बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेरवनि।
कनक-कुरंग संग साजे कर सर चाप, राजिवनयन इत उत चितवनि॥
सोहत सिर मुकुट जटा पटल, निकर सुमन लता सहित, रची बनवनि।
तैसेई स्रम-सीकर रुचिर राजत मुख, तैसिए ललित भृकुटिन्ह की नवनि॥[177]

सिंहासनस्थ राजा राम की शोभा अद्भुत है। इस अपार शोभा का वर्णन शेष, श्रुति, शारदा आदि निरन्तर कर रहे हैं परन्तु फिर भी उसका पार नहीं पाते। त्रिभुवन के स्वामी श्रीरामचन्द्र को सिंहासन पर विराजमान देख देवताओं ने नगाड़े बजाये। तुलसीदास कहते हैं कि जो प्राणी इस अद्भुत शोभा का दर्शन कर लेते हैं, वे धन्य हैं –

भरतादि अनुज विभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहें छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति विराजते॥
श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छवि सोहई।
नब अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥[178]

राम के इस सिंहासनस्थ स्वरूप-शोभा की ज्योति से अनेकानेक रामभक्तों का हृदय निरन्तर ज्योतिमान् रहता है। तुलसीदास ने अपनी काव्य-रचनाओं में राजा रामचन्द्र के अंग-प्रत्यंग की इस अमित सुषमा का विशद् वर्णन किया है।

भूपमौलिमणि, राजराजेन्द्र, राजीवलोचन राम अपरिमेय सामर्थ्यवान् हैं। उनमें वह शक्ति है कि यदि वे अकेले ही रणभूमि में अचल हो जाएँ तो सारे सुर और असुर एक होकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। राम की क्रोधाग्नि में चौदहों भुवन शीघ्र ही भस्म हो सकते हैं। उनके धनुश-संधान मात्र से समुद्र भी त्रस्त होकर कम्पायमान हो उठता है। अपने एक ही बाण से सैकड़ों समुद्रों को सोख लेने की शक्ति राम में है। राम जिस समय बाण फेरने लगते हैं उस समय 'ब्रह्माण्ड-दिग्गज-कमठ-अहि-महि' का डोलना तो सामान्य बात है। राम में तो वह सामर्थ्य है कि उनके 'भृकुटि-विलास' मात्र से संसार की स्थिति और प्रलय दोनों होते हैं। राम तृण को वज्र और वज्र को तृण बना देते हैं, अत्यन्त निर्बल कर देते हैं। अपनी लोकोत्तर महान् सामर्थ्य के कारण ही वे रज को मेरु और मेरु को रज बनाने की क्षमता रखते हैं। तुलसी कहते हैं कि वे प्रभु श्रीराम जिस तरह शील-चातुर्य आदि में अनुपमेय हैं, उसी तरह सामर्थ्य (शक्ति) में भी –

तुलसी तेही सेवत कौन मरै? रज ते लघु को करै मेरु तें भारे?
स्वामी सुसील समर्त्थ सुजान सो तोसों तुही दसरत्थ-दुलारे॥[179]

श्रीरामचन्द्र के गुणसमूह अपार हैं। स्वयं महादेव शिव कहते हैं कि श्रीराम के गुणों का वर्णन तो श्रुति और शारदा भी नहीं कर सकतीं। श्रीराम अनन्त हैं; उनके गुण अनन्त हैं; उनके जन्म, कर्म और नाम भी अनन्त हैं। जल की बूँदें तथा पृथ्वी के रज-कण चाहे गिने जा सकते हों किन्तु श्रीरघुनाथजी के चरित्र वर्णन करने से नहीं चुकते –

राम चरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥
जन सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥[180]

वस्तुतः राम और रामकथा दोनों ही अनन्त हैं, जिन्हें साधु-महात्मा अपनी-अपनी मति के अनुसार गाया करते हैं। तुलसी कहते हैं कि इनका सम्यक् गान तो कोटिकल्पपर्यन्त भी असम्भव है –

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥
रामचन्द्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥[181]

राम के अनन्त गुणों में उनका एक प्रधान गुण है उनका मर्यादापुरुषोत्तमत्व। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी काव्य-रचनाओं के माध्यम से अपने आराध्य रघुवंशमणि श्रीरामचन्द्र के मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप को प्रमुखता से प्रतिष्ठापित किया है। गोस्वामी तुलसीदास के राम भारतीय लोक-मर्यादा के आदर्श हैं। वे भारतीय संस्कृति की सामाजिक विशिष्टताओं के प्रतीक हैं। वे वर्णाश्रम धर्म के पालक हैं। उनके जीवन में भारतीय सामाजिक मर्यादाएँ एवं आदर्श व्यक्त हुए हैं। दशरथतनय श्रीरामचन्द्र ऋषि-प्रणीत शास्त्र-मर्यादा के रक्षक एवं पालक हैं। वे

लोकजीवन में समाहित होकर भी उसके ऊपर हैं। वे एक साथ आदर्श और मर्यादापालक हैं। वे व्यक्ति होकर भी समष्टि हैं।

तुलसी के राम एक ऐसे विराट् तेजः शक्तिपुंज हैं, जिनका समस्त जीवन त्यागप्रधान है और साथ ही उदात्त कर्त्तव्य-भावना से परिपूर्ण है। उनका जीवन कहीं भी स्वयं के लिए नहीं है, वह एक आदर्श से प्रेरित, एक आदर्श के लिए समर्पित और उस आदर्श को आचरण में व्यक्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील जीवन है। वह व्यक्तिगत सुख एवं भोग को प्रधानता देने वाला जीवन नहीं बल्कि वह तो कर्त्तव्योन्मुख लोकहित की प्रधानता का जीवन है। वह लोकानुरंजक, लोकानुप्रेरक, लोकोद्धारक जीवन है। वह प्रकाशदाता है, वह जीवनदाता है। वह असत्य एवं अन्धकार से सत्य एवं प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। वह ऐसा जीवन है, जिसमें कोटि-कोटि जीवनों को वाणी और सामर्थ्य देने की प्रवृत्ति भी है, शक्ति भी है, अभिव्यक्ति भी है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के विग्रह में समस्त सद्गुण स्वाभाविक रूप से निवास करते हैं। वंश मर्यादा की दृष्टि से देखा जाय तो जिस वंश में श्रीरामचन्द्र ने अवतार लिया था, उस वंश परम्परा में धर्म-पालन, भारतीय संस्कृति की रक्षा, सनातन आर्य सभ्यता का पोषण एवं मानवोचित सद्गुणों को धारण करने वाले एक से बढ़कर एक दिव्य महापुरुष हो चुके थे। हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु आदि अनेक सत्पुरुषों ने मर्यादा में रहकर धर्म की रक्षा करते हुए प्रजा के पालन-पोषण को ही अपने जीवन का सौभाग्य समझा, ऐसे पवित्र वंश में श्रीरामचन्द्र का आविर्भाव हुआ। फलतः सहज ही उन्हें श्रेष्ठ संस्कार मिले। रघुवंशियों के बारे में तुलसीदास ने कहा है–

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥[182]

श्रीरामचन्द्र सत्यसंध महाराज दशरथ और चारुशीला महारानी कौसल्या की प्रिय संतान हैं। श्रेष्ठ वंश और उत्तमचरित माता-पिता की संतान होने के कारण शुभसंस्कार उनमें बाल्यावस्था से ही विद्यमान हैं। यों तो वे साक्षात् परमेश्वर, ब्रह्म-अवतार ही हैं किन्तु मानवीय दृष्टि से देखें तो भी वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' हैं। शरीर-सम्पत्ति, वीरभाव एवं प्रतिभा के आलोक से उनका शैशव आलोकित है। बचपन से ही वे शील के समुद्र हैं। उनके विद्योपार्जन में केवल सैद्धान्तिक या पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं अपितु जीवन तथा उसके श्रेष्ठ कर्त्तव्यों एवं आदर्शों की विकासमान अनुभूतियों का जुड़ाव भी दृष्टिगत होता है।

पारिवारिक आदर्शों की दृष्टि से देखा जाए तो वे प्रत्येक सम्बन्ध में मर्यादित आदर्श प्रस्तुत करते दीख पड़ते हैं। छोटों पर ममता एवं स्नेह से उनका हृदय सिक्त है। भाइयों के प्रति उनका हृदय प्रेम से इतना द्रवित रहता है कि राज्याभिषेक की चर्चा उन्हें खेदजनक लगती है। वे सोचते हैं कि सब भाई एक साथ जन्मे, साथ-साथ सबका पालन-पोषण हुआ, साथ-साथ खाये-पिये, खेले-पढ़े। फिर यह क्या कारण है कि एक भाई को ही राजगद्दी मिले ?

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़े हि अभिषेकू॥[183]

वास्तव में राम भाइयों की सुख-सुविधा की बात पहले सोचते हैं, उसके पश्चात् स्वयं की।

आदर्श भाई होने के साथ ही वे आदर्श शिष्य भी हैं। अपने माता-पिता एवं गुरुजनों के प्रति उनमें असीम श्रद्धा और सम्मान है। उनकी आज्ञा का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। पिता द्वारा वनवास की आज्ञा को वे दण्डकारण्य का राज्य मानकर शिरोधार्य करते हैं। माता-पिता दोनों की अक्षय स्नेह-धारा से स्निग्ध एवं मृदुल हृदय उनको मिला है, परन्तु कहीं भी राम में अनावश्यक चंचलता नहीं है; सर्वत्र वे अपने शील एवं चरित्र की गम्भीरता से युक्त दिखाई देते हैं।

श्रीराम एक आदर्श पति भी हैं। वे एकपत्नीव्रत का पालन करने वाले महान् जितेन्द्रिय हैं। परस्त्री की ओर आँख उठाकर देखना भी उनके लिए घोर पाप है। जाग्रत् में तो क्या, स्वप्न में भी उन्होंने कभी परायी स्त्री पर दृष्टि नहीं डाली।[184] प्राणप्रिया भगवती जनकनन्दिनी सीता उनकी परम-अनुगता हैं और वे भी उनके प्रति सहज प्रेम से परिपूर्ण हैं। वे गृहस्थावस्था में भी मुनि के समान हैं।

इस प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र भ्रातृप्रेम, प्रितृप्रेम और दाम्पत्य-प्रणय के उदात्त एवं उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

इतना ही नहीं, श्रीराम अत्यन्त ब्रह्मण्य हैं। वे पूज्य भूदेव ब्राह्मणों के अनन्य भक्त हैं और उनके प्रति असीम श्रद्धाभाव रखते हैं –

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा॥[185]

श्रेष्ठ वंश-विभूति, माता-पिता का गम्भीर वात्सल्य, एक महान् राज्य का भावी अधिकार, अनुगत बन्धु, गुरुजनों का आशीर्वाद, असीम पौरुष एवं बल – सब मिलकर भी राम में कहीं अहंकार की सृष्टि नहीं कर पाते, और न ही ये विभूतियाँ कभी उन्हें अपने कर्त्तव्य से विमुख या शिथिल ही कर पाती हैं। वास्तव में, तुलसी के राम के आदर्श चरित में स्नेह की कोमलता के साथ ही कर्त्तव्य की महान् निष्ठा के भी दर्शन होते हैं। पिता के सत्य एवं धर्म की रक्षा के लिये युवराज पद पर अभिषेक के दिन के समस्त राजसिक सुविधाओं को त्यागकर कठिन कण्टकाकीर्ण वन की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

पिता की मूर्च्छा और मृत्यु, माता के आँसू, भाइयों की हृदय-व्यथा, पत्नी का महान् कष्ट, स्वजनों का आर्त्तनाद और प्रजावर्ग का गम्भीर शोक भी उन्हें कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित नहीं कर पाते। प्राणप्रिया पत्नी का त्याग तो उनकी कठोर कर्त्तव्य-भूमिका का निकष है।

इसमें भी विशिष्टता इस बात की है कि राम के इस त्याग-वैराग्य में कहीं भी आवेश नहीं है। यह सब तो उनका सहज स्वभाव है। वे शान्त, आवेशहीन, धर्म-मर्यादाओं से परिपूर्ण हैं। जब उनके श्वसुर जनक तथा भाई

भरतादि माताओं सहित उन्हें मनाने जाते हैं, तब स्नेह के भार एवं शील-संकोच से शीश झुकाए हुए वे केवल अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं और कर्त्तव्य के निर्णय और आदेश का भार उन्हें ही सौंप देते हैं।

अपने धर्म में दृढ़ रहते हुए रामचन्द्र कहीं भी गुरुजनों से तर्क-वितर्क नहीं करते बल्कि सदैव अपनी धर्म-मर्यादा का ध्यान रखते हुए विनयपूर्वक ही उत्तर देते हैं। वास्तव में, वे धर्म के साक्षात् स्वरूप हैं। धर्म ही उनका श्रीविग्रह है। उनकी सम्पूर्ण लीलाएँ धर्म-मर्यादा से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होती हैं। उनके लिए तो राज्य भी कर्त्तव्य-पालन, धर्म-पालन के लिये था और वनवास भी धर्म एवं कर्त्तव्य की पूर्ति का साधन। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका समस्त जीवन ही कर्त्तव्य-धर्म पूर्ण है।

राष्ट्रीय आदर्शों की दृष्टि से राम सदैव अन्याय एवं अधर्म की शक्तियों से युद्ध करते हुए ही दिखाई देते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन अनैतिकता एवं अधर्म के विरुद्ध निरन्तर संघर्षमय जीवन है। सतत संघर्षशील रहते हुए भी वे कभी निरुत्साहित होकर पराजय स्वीकार नहीं करते प्रत्युत अपने अलौकिक कौशल, पराक्रम, संघटनादि शक्ति एवं अपने अक्षय आत्मबल से दुष्ट रावण का विनाश कर आसुरी शक्तियों से संत्रस्त प्राणियों को अभय प्रदान करते हैं। यद्यपि राम के पास रावण की अपेक्षा भौतिक आधार-नगण्य थे, फिर भी आध्यात्मिक शक्तियों एवं अपने उदात्तगुणों के समुचित संघटन द्वारा उन्होंने भयंकर बलशाली शत्रु पर विजय प्राप्त की।

सामाजिक आदर्शों की दृष्टि से देखा जाय तो राम ने निषादराज, शबरी, गीध जैसे सामाजिक उपेक्षितों को प्रेम से अपनाकर अपने सहृदय सामाजिक होने का परिचय दिया है। शापवश पाषाण बनी पड़ी अहल्या का उद्धार करके राम ने यह आदर्श प्रस्तुत किया कि सत्पुरुष पतित सेपतित प्राणियों से भी कभी घृणा नहीं करते प्रत्युत उनमें अपनी शक्ति का, पावनता का आधान कर उन्हें भी ऊपर उठा देते हैं, महत्ता प्रदान करते हैं। छोटे वानर-भालू आदि वनचरों को भी राम ने अपने संसर्ग एवं संस्कार से शक्ति और महत्ता की सीमा पर पहुँचा दिया।

तुलसी के राम प्राणी मात्र पर दया और प्रेमभाव रखने वाले सहृदय राजा हैं। उनके राज्य में कोई स्त्री विधवा नहीं थी। वे अपनी प्रजा को दुःखी नहीं देखना चाहते। उनका मन तो तीनों लोकों से भी ऊँचा है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर राम की दयाशीलता एवं अनुकम्पा का द्रवित हृदय से वर्णन किया है–

ऐसो को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥[186]

वे दयाशील राम किसी से वैर नहीं रखते। यहाँ तक कि रावणादि राक्षसों का वध भी उन्होंने शत्रुतावश नहीं अपितु लोकोद्धार के लिये किया था।

वस्तुतः राम का समग्र जीवन पुरुषार्थमय था। उनके चरित में आदर्श शिष्य, आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पिता, आदर्श स्वामी, आदर्श राजा, आदर्श धर्मनीतिज्ञ, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श समाजनीतिज्ञ, आदर्श सत्यपरायणी, आदर्श त्यागी, आदर्श वीर, आदर्श क्षमावान्, आदर्श दानी आदि सम्पूर्ण

आदर्शों के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने जीवन को कर्त्तव्य माना; और पुत्र, शिष्य, भाई, स्वामी, पति, मित्र, राजा आदि के रूप में आजीवन उसका समुचित निर्वाह किया।

निष्कर्षतः तुलसी के राम मर्यादारक्षक, सर्वसद्गुण-सम्पन्न, परम आदर्श, मानव-शिरोमणि होने के साथ ही सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वमहिमा में स्थित महामानव हैं और साथ ही वे सच्चिदप्रेमानन्दघन, अवतारी, अचिन्त्यमहिम चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् हैं।

वे श्री भगवान् ही भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर लोकानुरंजन के लिए दशरथतनय रघुवंशमणि श्रीरामचन्द्र रूप में पृथिवी पर प्रकट हुए हैं। अवतार रूप में वे भक्तों को सुख देने वाली कल्याणमयी लीलाएँ अवश्य करते हैं परन्तु लीला के साथ एकात्म नहीं होते।

राम ही जीवों के हृदय में विराजमान अन्तर्मायी ब्रह्म हैं। वे सच्चिदानन्द हैं, उनके स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वे नित्य और शाश्वत हैं। वे ही सृष्टि के कर्त्ता, भोक्ता और संहारकर्त्ता हैं। राम ही निर्गुण ब्रह्म हैं, राम ही सगुण ब्रह्म हैं। उनके ये दोनों ही स्वरूप सत्य हैं, पारमार्थिक हैं।

वस्तुतः सगुण आधार के बिना भक्ति का आह्लाद मुखर नहीं हो सकता इसलिए तुलसी ने उस अनवद्य, अखण्ड, अगोचर, सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, विश्वात्मा, परमात्मा, परात्पर परब्रह्म राम का अपने आराध्य दशरथसुत श्रीरामचन्द्र से तादात्म्य किया है। उन्होंने कौसल्यानन्दन श्रीरामचन्द्र में महाविष्णुत्व ही स्थापना करके राम के ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। डॉ॰ उदयभानुसिंह के शब्दों में "वाल्मीकि ने राम का चित्रण महामानव के रूप में किया था। तुलसी ने उनके ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। पुराणों में भगवान् राम के अवतार-चरित्र का बहुधा निरूपण किया गया था। तुलसी ने उन्हें मानव-सहज प्रवृत्तियों के आश्रय रूप में अंकित करके काव्यानुरूप जीवन्त पात्र बना दिया। इस प्रकार तुलसी के राम में मानव का ईश्वरीकरण और ईश्वर का मानवीकरण साथ-साथ है।"[187]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि युगीन धार्मिक एवं सामाजिक अस्थिरता के सुधार का उद्देश्य दृष्टि में रखकर भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने जिस सगुण रामोपासना का मार्ग प्रशस्त किया उसने न केवल दिग्भ्रमित हुई तात्कालिक जनता को भक्ति का सुगम मार्ग दिखाया वरन् भ्रष्ट होती सामाजिक व्यवस्था के समक्ष मर्यादापुरुषोत्तम राम का आदर्श रूप प्रस्तुत कर जन-सामान्य को उच्च मनोभाव ग्रहण करने हेतु प्रोत्साहित भी किया।

रघुवंशमणि दशरथतनय कौशल्यानन्दन श्रीरामचन्द्र तुलसी के परम आराध्य हैं। वे लोकरक्षक, सर्व सद्गुणसम्पन्न, परम आदर्श, मानव-शिरोमणि होने के साथ ही स्वमहिमा में स्थित महामानव हैं और साथ ही वे सच्चिदप्रेमानन्दघन, अवतारी, अचिन्त्यमहिम, चिदानन्दविग्रह एवं जीवों के हृदय में विराजमान अन्तर्यामी परब्रह्म हैं। वे ही सृष्टि के कर्त्ता, भोक्ता और संहारकर्त्ता हैं। इस प्रकार तुलसी के राम निर्गुण ब्रह्म भी हैं और सगुण ब्रह्म भी हैं। उनके ये दोनों ही स्वरूप सत्य हैं, पारमार्थिक हैं। वस्तुतः उस अनवद्य, अखण्ड, अगोचर, सर्व-प्रकाशक, सर्वव्यापक, विश्वात्मा, परमात्मा, परात्पर निर्गुण परब्रह्म को सगुण आधार दिए बिना भक्ति का आह्लाद मुखर भी तो

नहीं हो सकता था, अतः तुलसी ने उस निर्गुण ब्रह्म का तादात्म्य अपने आराध्य दाशरथि राम से करके श्रीरामचन्द्र में महाविष्णुत्व की स्थापना की है। इस प्रकार तुलसी के राम में मानव का ईश्वरीकरण और ईश्वर का मानवीकरण हुआ है।

सारांशतः तुलसी ने परब्रह्म राम के साकार रूप की कल्पना दशरथसुत श्रीरामचन्द्र के रूप में की है। इनके राम अद्भुत रूपवान, शक्तिसम्पन्न एवं परम सामर्थ्यशाली हैं। वे परम दयालु, शरणागतरक्षक, भक्तवत्सल, भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर लोकानुरंजन के लिए पृथ्वी पर श्रीराम रूप में प्रकट हुए हैं।

2.3.06. कबीर के राम और तुलसी के राम में वैषम्य

सगुण एवं निर्गुण दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। सगुण एवं निर्गुण उपासना एक ही गन्तव्य तक पहुँचने के दो भिन्न मार्ग हैं। सगुणोपासना में साधक के सामने एक आकार होता है अतः वहाँ साधना की सरलता है जबकि निर्गुणोपासना ज्ञानाधारित है। ज्ञान को सदैव स्थायी बनाए रखना सरल नहीं होता अतः वहाँ जटिलता है। वस्तुतः सगुण निर्गुण तक पहुँचने का एक साधन है। पहले एक आकार के माध्यम से साधक में ईश्वर के प्रति प्रेम और आस्था का प्रादुर्भाव हो और तदनन्तर ज्ञान के माध्यम से साकार को निराकार का ही एक रूप समझते हुए निराकार ब्रह्म की ओर उन्मुख हुआ जाए। यही भक्तितत्त्व का मूल भाव है।

कबीर और तुलसी दोनों की अनुभूति में अनेक मूलभूत समानताएँ हैं। 'राम' नाम कबीर और तुलसी दोनों को प्रिय है किन्तु कबीर ने जहाँ निर्गुण निराकार परब्रह्म को अपना आराध्य माना, वहीं तुलसी ने राम के सगुण साकार अवतारी रूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। 'राम' नाम का आश्रय कबीर भी लेते हैं और तुलसी भी, लेकिन दोनों के राम एक न होकर भिन्न हैं। कबीर और तुलसी के राम में मूलभूत समानताओं के बावजूद तत्त्वतः अनेक अन्तर हैं; यथा –

01. कबीर और तुलसी के राम में सबसे महत्त्वपूर्ण असमानता उनके स्वरूप में है। कबीर के राम रूप और आकार से रहित है जबकि तुलसी के राम सगुण-साकार है।
02. कबीर के राम कभी अवतार ग्रहण नहीं करते, वे अजन्मा और अलख हैं जबकि तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं, वे निर्गुण-निराकार होते हुए भी भक्तों के उद्धारार्थ और दुष्टों के दलनार्थ मनुष्य रूप में अवतार ग्रहण करते हैं।
03. कबीर के राम निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अन्तर्यामी और गुणातीत हैं जबकि तुलसी के राम एक साथ सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, बहिर्यामी-अन्तर्यामी, गुणाश्रय-गुणातीत हैं।
04. कबीर के राम अनादि और अनन्त हैं जबकि तुलसी के राम परब्रह्म होने के साथ ही मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनका मानवीय आचरण एवं व्यवहार भी एक प्रकार की लीला है।
05. कबीर के राम सत्, रज, तम त्रिगुणों से गुणातीत हैं जबकि तुलसी के राम शील, शक्ति एवं सौन्दर्य आदि गुणों के आकर हैं। वे शक्ति के अपार सागर और शील की अक्षय निधि हैं।

06. कबीर के राम दाशरथि राम से सर्वथा भिन्न हैं जबकि तुलसी के आराध्य राम दशरथतनय होने के साथ ही परब्रह्म हैं।
07. कबीर के राम अरूप हैं, वे रूप-आकार से परे हैं जबकि तुलसी के राम सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं जो अपने अप्रतिम सौन्दर्य से करोड़ों कामदेवों को भी लज्जित कर देते हैं।
08. कबीर के राम समस्त प्राणियों के हृदय में ही स्थित हैं जबकि तुलसी के राम मनुष्य रूप में अवतरित होकर बाह्य जगत् में मनुष्य जैसा आचरण करते हैं।
09. कबीर के राम द्वन्द्वातीत और स्थायी हैं जबकि तुलसी के राम दाम्पत्य-प्रेम, राज्य-संचालन, माता-पिता-गुरु की आज्ञा-पालन, आनन्द-शोकपूर्ण स्थिति, सुख-दुःख आदि सांसारिक क्रिया-कलापों में मनुष्य जैसा आचरण करते हैं।
10. कबीर के राम अन्तर्यामी हैं जबकि तुलसी के राम अन्तर्यामी से अधिक बहिर्यामी हैं।
11. कबीर के राम अनिर्वचनीय हैं, वे केवल अनुभूति का विषय हैं जबकि तुलसी के राम अनिर्वचनीय होते हुए भी अनन्त गुण-सम्पन्न और विविध लीला करने वाले हैं, भक्तजन उनके गुणानुवाद किया करते हैं।
12. कबीर के राम ज्ञान के माध्यम से ही प्राप्य हैं, बुद्धिगम्य होने से अल्प बुद्धि वालों के लिए उनकी प्राप्ति कठिन है जबकि तुलसी के राम सहज प्रेम और श्रद्धा के माध्यम से प्राप्य हैं।
13. कबीर के राम परोक्ष सत्ता हैं जबकि तुलसी के राम अवतार का आलम्बन ग्रहण करते हैं।
14. कबीर के राम की उपासना में इन्द्रियाँ बाधक हैं क्योंकि इन पर नियन्त्रण करना कठिन है जबकि तुलसी के राम की उपासना में वही इन्द्रियाँ ईश-प्राप्ति का माध्यम बन जाती हैं। अपनी समस्त इन्द्रियाँ प्रभु को अर्पित कर भक्त निश्चिन्त हो जाता है। कर्ण ईश्वर के गुणों का श्रवण करते हैं, नेत्र उनकी माधुरी मूरत का रसपान करते हैं, मुख ईश्वर के विविध गुणों का बखान करता है, जिह्वा राम-नाम रटती है, शरीर के विभिन्न अंग प्रभु-समर्पित हो प्रभु-प्रिय कर्मों में निरत रहते हैं। पैर दीन-दुखियों की सहायतार्थ दौड़ पड़ते हैं तो हाथ बेसहारों का सहारा बनते हैं।
15. कबीर के राम आत्म-चिन्तन, नाम-स्मरण, योग-ध्यान, साधना और विरहजन्य प्रेम से प्राप्य हैं जबकि तुलसी के राम निश्छल प्रेम के साथ ही समर्पित भाव की पूजा-उपासना से प्राप्य हैं।
16. कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं जबकि तुलसी ने मूर्तिपूजा को स्वीकार किया है।
17. कबीर के राम वेदपाठ और शास्त्रसम्मत बातों से परे हैं जबकि तुलसी के राम पूजा, यज्ञ, विधि-विधान, वेदपाठ और शास्त्रसम्मत बातों से सम्बद्ध हैं।
18. कबीर के राम की उपासना में पुष्प, हार, धूप, दीप, प्रसाद, अर्चन, व्रत, तीर्थ का कोई महत्त्व नहीं है जबकि तुलसी के राम की उपासना में बाह्य विधि-विधानों को स्वीकार किया गया है।
19. गुसाँई-गुलाम, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, गुरु-शिष्य आदि सम्बन्धों के साथ ही कबीर उस ब्रह्म राम से दाम्पत्य सम्बन्ध भी जोड़ते हैं जबकि तुलसी स्वयं को राम का सेवक घोषित करते हैं और दास्य भाव से उनकी भक्ति में निरन्तर लीन रहते हैं।

2.3.07. कबीर के राम और तुलसी के राम में साम्य

विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों द्वारा ईश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रतिपादित करने और विभिन्न उपासना पद्धतियों द्वारा उसके प्रति आस्था व्यक्त करने पर भी सभी धर्मावलम्बी उस ईश्वर के ऐक्य के प्रति एकमत हैं। निर्गुणवादी सन्तकवियों और सगुणोपासक भक्तकवियों के उपास्य में स्वरूपगत भेद होने पर भी दोनों का लक्ष्य एक ही है। निर्गुणवादी सन्त कबीर और सगुणोपासक भक्त तुलसी के आराध्य में नामगत साम्य होने के साथ ही अन्य अनेक समानताएँ हैं। इन समानताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

01. कबीर के राम एवं तुलसी के राम परब्रह्म हैं। वे राम सहज प्रेम द्वारा प्राप्य हैं। कोई भी सच्चा विरही उन्हें प्राप्त करने का अधिकार रखता है।
02. कबीर एवं तुलसी दोनों ने 'राम' नाम की महिमा का बखान किया है। जीवन के परिष्कार और पुनर्जन्म से मुक्ति के लिए 'राम' नाम स्मरण आवश्यक है।
03. कबीर के राम एवं तुलसी के इस सत्यस्वरूपी राम की कोई सीमा नहीं है। जगत् में जो कुछ भी सत्य है, रमणीय है, कल्याणकारी है, वह राम ही है। धरती की धूल से सुमेरु पर्वत तक; जलचर, थलचर, नभचर से अण्डज, पिण्डज, जंगम, स्थावर तक सर्वत्र वह राम ही रमण कर रहा है।
04. कबीर के राम एवं तुलसी के राम अनुपम हैं, उनकी कोई उपमा नहीं है। उनका स्वरूप विलक्षण है क्योंकि वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों से परे है, तीनों लोकों में उसके समान कोई नहीं है।
05. कबीर एवं तुलसी का ब्रह्म राम ही समस्त सृष्टि का कर्त्ता-धर्ता है। उसी ने सत्, रज, तम, तीनों गुणों से इस मायिक प्रपंच की रचना की है।
06. कबीर के राम एवं तुलसी के राम ही जीव के जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का उच्छेद करने वाले हैं। वही यम-पाश से मुक्त करने वाले हैं, जगत् की अन्य कोई शक्ति मनुष्य को यम-यातनाओं से मुक्त नहीं कर सकती। एकमात्र राम का ही आश्रय पाकर मनुष्य समस्त भय आदि से मुक्त हो जाता है।
07. कबीर के राम एवं तुलसी के राम का स्वरूप मानातीत, अगाध, अप्रमेय, वचन-अगोचर, बुद्धि से परे, अपार, अविगत और अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार श्रुति 'नेति नेति' के द्वारा ब्रह्म का निरूपण करती है कबीर एवं तुलसी भी उसी प्रकार राम की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं।
08. कबीर के राम एवं तुलसी के राम अशरीरी परमात्मा हैं जो सर्वव्याप्त है एवं जो कुछ दृश्यअदृश्य, सत्-असत् विश्व तथा असंख्य ब्रह्माण्ड हैं उन सबमें एक साथ एक समान रम रहा है। सर्वत्र रमण करने के कारण ही उनका नाम 'राम' है। चेतन-अचेतन प्राणि-पदार्थ मात्र में वे परब्रह्म राम रम रहे हैं।
09. कबीर के राम एवं तुलसी के राम सदा रहने वाले, अखण्ड ज्ञानस्वरूप परमानन्दसिन्धु हैं। वे सदा उदित रहने वाले सूर्य हैं। उनमें मोह या अज्ञान-अन्धकारमयी रात्रि का लेश मात्र भी नहीं है। वे सहज प्रकाश रूप हैं।
10. कबीर एवं तुलसी के परमब्रह्म परमात्मा परमविशुद्ध ब्रह्म राम ही मूलतत्त्व या परमतत्त्व हैं। समस्त जीव और सम्पूर्ण जगत् उन्हीं से आविर्भूत हैं। वे जीव और जगत् के परम प्रकाशक हैं।

11. कबीर एवं तुलसी के परब्रह्म राम ही 'परम सत्य' हैं क्योंकि उनके स्वरूप का परिवर्तन या नाश नहीं होता। इसी अर्थ में वे नित्य एवं शाश्वत भी हैं। वे ब्रह्म राम चिन्मय हैं।
12. कबीर एवं तुलसी के विश्वविलोचन परब्रह्म राम सर्वज्ञ हैं, वे संसार रूपी दृश्य के द्रष्टा हैं। वे सबके मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु 'सबरदरसी' तो हैं ही; वे समदर्शी भी हैं अर्थात् उनके लिए न कोई प्रिय है, न अप्रिय। उनकी न किसी से शत्रुता है और न किसी से मित्रता।
13. कबीर एवं तुलसी के निर्लिप्तभावी वे परब्रह्म राम सम्पूर्ण विश्व के शासक हैं। वे परम शक्तिमान् राम जड़-चेतन प्राणि-पदार्थों के संरक्षक तो हैं ही; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कर्म, काल, देवी-देवता, दानव-मानव आदि भी उन्हीं की माया के वशीभूत हैं। इस प्रकार वे सर्वनियामक एवं सर्वनियन्ता हैं। वे परम सामर्थ्यशाली प्रभु निजेच्छा से क्षणमात्र में चेतन को जड़ और जड़ को चेतन करने में समक्ष हैं।
14. कबीर एवं तुलसी के परब्रह्म राम जगत् के स्थितिसंयमकर्त्ता भी हैं और जगद्रूप भी हैं क्योंकि उन्हीं से यह जगत् उद्भूत हुआ है और उन्हीं में स्थित भी है। वस्तुतः वे विश्व के कर्त्ता, पालक और संहारक तीनों ही हैं।
15. कबीर एवं तुलसी के राम सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान थे, वर्तमान में भी जो कुछ भासित हो रहा है, वह राम-रूप ही है और सृष्टि के संहार के पश्चात् भी जो कुछ शेष रह जाएगा वह केवल राम ही होंगे। इस प्रकार सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र वे परब्रह्म राम ही व्याप्त रहते हैं।
16. कबीर एवं तुलसी के जगद्वन्द्य जगदीश परमेश्वर राम की उपासना में ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी लवलीन रहते हैं क्योंकि हरि को 'हरिता', विधि को 'विधिता' और शिव को 'शिवता' देने वाले ये परम प्रभु राम ही हैं। अनन्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव के मूल अंशी राम हैं, उन्हीं के अंश से नाना त्रिदेवों का उदय होता है। राम त्रिदेवों से परे ही नहीं, उनके नियामक भी हैं। केवल एक राम में सृष्टि-रचना का जो नैपुण्य है, सृष्टि-पालन की जो क्षमता है एवं सृष्टि-संहार की जो शक्ति है, वह कोटि-कोटि सम्मिलित ब्रह्मा, विष्णु, महेश में ही हो सकती है।
17. कबीर एवं तुलसी के परमात्मा राम के भ्रूविलास के संकेत पर ही माया अपना प्रचण्ड व्यापार रचाती है। केवल माया ही नहीं; जीव, प्रकृति, गुण, काल, कर्म, महत्तत्त्वादि सभी के अधिष्ठाता परब्रह्म राम ही हैं।
18. कबीर एवं तुलसी के अमोघ शक्ति-सम्पन्न परब्रह्म राम के नाम, रूप और गुण अनन्त हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है, जिसका पार कोई नहीं पा सकता। पृथ्वी के कण तो कोई गिन सकता है किन्तु राम के गुण नहीं गिने जा सकते। उनके विषय में जितना कहा जाए वह थोड़ा है। सभी सज्जन अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उन 'अतर्क्य' प्रभु राम का गुणानुवाद गाते हैं।
19. कबीर एवं तुलसी के राम परमकृपालु, भक्तचिन्तामणि और पतितजनतारन हैं। करुणासिन्धु प्रभु राम के समान 'प्रेमकनौड़ा' तो त्रिभुवन और तीन काल में भी कोई नहीं है। वे अपने भक्त के अवगुणों पर दृष्टि न देकर गुण की ओर ही देखते हैं। वे परम सामर्थ्यशाली प्रभु सेवक की सेवकाई के वशीभूत होकर स्वयं ही उसके ऋणी बन जाते हैं। उन्हें अपने भक्त से और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, वे तो केवल सहज प्रीति चाहते हैं। राम सहज शरणागत-वत्सल हैं।

20. कबीर एवं तुलसी के राम समदर्शी हैं, धनी-निर्धन, पुण्यात्मा-शरणागत घोरातिघोर पापी का भी वे परम-कल्याण करते हैं।
21. कबीर और तुलसी दोनों ही जीव के जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के उच्छेदन, आत्मोद्धार और आवागमन से मुक्ति के लिए 'राम' नाम को सबसे ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं।
22. कबीर और तुलसी दोनों ने राम-प्राप्ति में गुरु के मार्गदर्शन को महत्त्वपूर्ण माना है।
23. कबीर और तुलसी दोनों ने चित्त-शुद्धि एवं अहंकार-शून्यता को राम-प्राप्ति हेतु आवश्यक माना है।
24. कबीर और तुलसी दोनों के राम जाति-धर्म और वर्ग से परे हैं। जो भी राम से प्रेम करता है वह राम का हो जाता है और वे राम भी उसके हो जाते हैं।

2.3.08. पाठ-सार

मध्यकालीन सन्त कबीरदास और भक्त तुलसीदास युगीन परिस्थितियों के वैभिन्न्य के बावजूद समय और समाज से सम्बद्धता के बिन्दु पर सामाजिक आदर्शों और जीवन-मूल्यों के संकट को पूरी प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित के लिए प्रतिश्रुत नज़र आते हैं। सामाजिक आदर्शों और मानवीय जीवन-मूल्यों से गहरी सम्बद्धता के कारण उनकी भक्ति और काव्य में तत्युगीन यथार्थ की गहरी पहचान परिलक्षित होती है। कबीर और तुलसी की भक्ति में राम के परम पावन नाम और उदात्त चरित्र के माध्यम से असत्य के आकर्षण से मुक्त होने तथा सत्य के साथ अनुभूति के स्तर पर सम्पृक्तत होने का भाव विद्यमान हैं। यही वजह है कि दोनों की भक्ति में एक विशिष्ट प्रकार का बोध, संज्ञान और समझ है। व्यापक रूप में कबीर और तुलसी के 'राम' का मंतव्य अलग-अलग न होकर एक ही है जिससे तादात्म्य होना जीवन की क्षुद्रता और लघुता से मुक्त होकर विराट् से सम्पृक्त होने की एक भावात्मक प्रक्रिया है। वस्तुतः कबीर और तुलसी की रामोपासना के मूल में भक्ति ही है जो धर्म, समाज और मानवीय सार्थकता की एक नवीन और सरल व्याख्या प्रस्तुत करती है। कबीर और तुलसी ने राम-नाम-स्मरण को आत्म-कल्याण का एकमात्र उपाय एवं मानव देह का परम लक्ष्य सिद्ध किया है। वह परब्रह्म ही सारपूर्ण, स्थायी, नित्य तथा शाश्वत है। वह परब्रह्म राम ही समस्त दुःखों का नाश करने वाला तथा मुक्तिदाता है इसलिए प्राणियों को अन्य समस्त प्रपंचों को त्याग कर ब्रह्मप्राप्ति का प्रयास करना चाहिए जो केवल नाम-स्मरण से सम्भव है।

2.3.09. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ. 86 – 87
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 116
3. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 75 – 76
4. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, पृ. 181
5. वही, परिशिष्ट, पृ. 206
6. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 181
7. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – श्यामसुन्दरदास, कथनी बिन करणी कौ अंग, साखी 2

8. वही, पद 123
9. वही, सुमिरण कौ अंग, साखी 3
10. वही, साखी 23
11. वही, पद 402
12. वही, पद 367
13. कबीर, सम्पादक – डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक (निर्गुण सम्प्रदाय और कबीर, डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) पृ. 22
14. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, बारहपदी रमैंणी, पृ. 184 – 185
15. वही, पद 58
16. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 126 – 127
17. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, पद 220
18. वही, पीव पिछाँणन कौ अंग, साखी 4
19. वही, जर्णां कौ अंग, साखी 1
20. वही, पद 50
21. वही, पद 169
22. वही, पद 47
23. वही, बारहपदी रमैंणी, पृ. 183
24. वही, बड़ी अष्टपदी रमैंणी, पृ. 175
25. वही, बारहपदी रमैंणी, पृ. 185
26. वही, पद 179
27. वही, पद 186
28. वही, पद 366
29. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 132
30. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, पद 58
31. वही, पद 55
32. वही, पद 56
33. वही, रमैणी, पृ. 186
34. वही, पद 6
35. वही, परचा कौ अंग, साखी 3
36. वही, पद 135
37. वही, दुपदी रमैंणी, पृ. 180 – 181
38. वही, पद 167
39. वही, पद 149

40. वही, पद 337
41. वही, पद 200
42. वही, पद 115
43. वही, सहज कौ अंग, साखी 4
44. वही, पद 200
45. वही, पद 316
46. वही, पद 164
47. वही, बड़ी अष्टपदी रमैंणी, पृ. 174
48. वही, साषीभूत कौ अंग, साखी 1
49. वही, पद 119
50. वही, राम 128
51. वही, पद 134
52. वही, पद 113
53. वही, पद 261
54. वही, पद 357
55. वही, पद 111
56. वही, पद 259
57. वही, पद 117
58. वही, पद 1
59. वही, पद 3
60. वही, पद 340
61. वही, पद 341
62. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 136 – 137
63. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ. 221
64. तुलसी-दर्शन-मीमांसा, उदयभानुसिंह, पृ. 36
65. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; कवितावली, उत्तराकाण्ड, छन्द 84
66. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 98/8
67. वही, दोहा 98
68. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 136
69. पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पादक – डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, 1 / 11 – 12
70. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, पृ. 199 – 200
71. पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पादक – डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, 16 / 3

72. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, पृ. 210
73. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक – डॉ॰ नगेन्द्र (सगुण भक्तिकाव्य, डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक), पृ. 198 – 199
74. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 137
75. राम-साहित्य का स्वरूप और तुलसीदास, साहित्यालंकार सत्यदेव चतुर्वेदी, पृ. 175
76. गीतगोविन्द, जयदेव, गीत 11, पद 1
77. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक (हित चौरासी, पद 7) पृ. 243
78. तुलसी-दर्शन-मीमांसा, उदयभानुसिंह, पृ. 40
79. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, पृ. 210
80. तुलसीदास और उनका युग, राजपति दीक्षित, पृ. 25
81. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, 97 (क)
82. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 554
83. वही, दोहा 555
84. वही, दोहा 556
85. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, 98 / 1
86. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 553
87. वही, कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द 183
88. वही, छन्द 85
89. वही, छन्द 105
90. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 125-126
91. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 135
92. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 559
93. वही, विनयपत्रिका, पद 139
94. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 99 / 1
95. वही, 101 / 4
96. वही, 102 / 5
97. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द 179
98. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 101 / 10

99. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द 179
100. वही, विनयपत्रिका, पद 139
101. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 98 / 2
102. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्रशुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 558
103. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, पृ. 216
104. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द 25
105. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 131 – 132
106. लोकवादी तुलसीदास, विश्वनाथ त्रिपाठी (भूमिका), पृ. 9
107. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 20 / 8
108. वही, 20
109. वही, 22 / 8
110. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 152
111. वही, दोहा 80
112. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 104 / 5
113. वही, 104 / 6 – 8
114. वही, उत्तरकाण्ड, 45
115. वही, उत्तरकाण्ड, 41 / 1 – 2
116. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 133
117. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सम्पादक – विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, (तुलसी के राम, डॉ॰ उदयभानुसिंह), पृ. 146
118. तुलसी-दर्शन, डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ. 125
119. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 72 / 3 – 7
120. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 199
121. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 7 (ग)
122. वही, 116 / 5
123. वही, 117 / 6 – 7
124. वही, 186 / छन्द 3
125. वही, 120 / 6

126. वही, उत्तरकाण्ड, 34
127. वही, 34 / 2
128. वही, बालकाण्ड, 53 / 3
129. वही, किष्किन्धाकाण्ड, 3 / 8
130. वही, बालकाण्ड, श्लोक 6
131. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; दोहावली, दोहा 128
132. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, 7 / 4
133. वही, बालकाण्ड, 144 / 6
134. वही, उत्तरकाण्ड, 92 / 5 – 6
135. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; हनुमानबाहुक, पद 44
136. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 121 / 3
137. वही, 118 / 4
138. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; वैराग्य-संदीपिनी 4
139. तुलसी-दर्शन-मीमांसा, उदयभानुसिंह, पृ. 49
140. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 23 / 1
141. वही, 116 / 1 – 2
142. वही, किष्किन्धाकण्ड, 17 / 2
143. तुलसी-दर्शन, डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ. 131
144. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सम्पादक – विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, (तुलसी के राम, डॉ॰ उदयभानुसिंह), पृ. 150
145. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 192 / छन्द 1 – 4
146. वही, उत्तरकाण्ड, 92 / 6
147. वही, बालकाण्ड, 144 / 6
148. वही, लंकाकाण्ड, 14, 15 (क)
149. वही, बालकाण्ड, 185 / 2,5
150. वही, अयोध्याकाण्ड, 127 / 5; बालकाण्ड, 192
151. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सम्पादक – विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, (तुलसी के राम, डॉ॰ उदयभानुसिंह), पृ. 151
152. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 192 / छन्द 1
153. वही, अयोध्याकाण्ड, 77 / 6

154. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 13 / 3 – 5
155. वही, 144 / 5 – 6
156. वही, 149
157. वही, 150 / 1 – 2
158. वही, 151 / 152, 1 – 2
159. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 198
160. वही, 121 / 6 – 122 / 2
161. वही, 113 / 8
162. वही, उत्तरकाण्ड, 72 (क)
163. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, 44 / 8
164. वही, लंकाकाण्ड, 94 / 1 – 2
165. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; गीतावली, लंकाकाण्ड, पद 6
166. वही, सुन्दरकाण्ड, पद 45
167. वही, कवितावली, उत्तरकाण्ड, सवैया 8
168. वही, सवैया 10
169. वही, सवैया 38
170. वही, दोहावली, दोहा 50
171. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, 254 / 1 – 8
172. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, 257 / 8; तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; विनयपत्रिका, पद 43
173. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 220
174. वही, 146 – 148 / 1
175. वही, 241 / 5 – 242 / 8
176. वही, उत्तरकाण्ड, 76 / 4 – 77 / 10
177. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; गीतावली, अरण्यकाण्ड, पद 5
178. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 12 / छन्द 1, 2
179. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्द 12
180. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 52 / 2 – 4
181. वही, बालकाण्ड, 140 / 5 – 6
182. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, 28 / 4

183. वही, 10 / 5 – 7
184. वही, बालकाण्ड, 231 / 6
185. वही, उत्तरकाण्ड, 45 / 7 – 8
186. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, सम्पादक – रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास; विनयपत्रिका, पद 162
187. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सम्पादक – विजयेन्द्र स्नातक, रामजी मिश्र, (तुलसी के राम, डॉ॰ उदयभानुसिंह), पृ. 166

2.3.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. चतुर्वेदी, आचार्य परशुराम (सम्पादक), उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद.
2. सिंह, डॉ॰ वासुदेव (सम्पादक), कबीर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद.
3. स्नातक, विजयेन्द्र (सम्पादक), कबीर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली.
4. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली.
5. दास, डॉ॰ श्यामसुन्दर (सम्पादक), कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
6. शर्मा, डॉ॰ सरनाम सिंह, कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, भारतीय शोध-संस्थान, गाँधी शिक्षण-समिति, गुलाबपुरा.
7. शुक्ला, डॉ॰ सरला, जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
8. शुक्ल, रामचन्द्र, भगवानदीन व ब्रजरत्नदास (सम्पादक), तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, डायमण्ड पॉकेट बुक्स प्रा. लि., नयी दिल्ली.
9. मिश्र, डॉ॰ बलदेवप्रसाद, तुलसी-दर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.
10. सिंह, उदयभानु, तुलसी-दर्शन-मीमांसा, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
11. दीक्षित, डॉ॰ राजपति, तुलसीदास और उनका युग, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस.
12. अग्रवाल, डॉ॰ वासुदेवशरण, पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी.
13. स्नातक, डॉ॰ विजयेन्द्र, व मिश्र, डॉ॰ रामजी, मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ (सम्पादक), भूमिका प्रकाशन, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली.
14. स्नातक, डॉ॰ विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
15. पोद्दार, हनुप्रसाद (टीकाकार), रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर.
16. चतुर्वेदी, साहित्यालंकार सत्यदेव, राम-साहित्य का स्वरूप और तुलसीदास, हिन्दी साहित्य-सृजन-परिषद्, जौनपुर.
17. त्रिपाठी, डॉ॰ विश्वनाथ, लोकवादी तुलसीदास, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

18. बड़थ्वाल, डॉ॰ पीताम्बरदत्त, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, अवध पब्लिशिंग हाउस, पान दरीबा, लखनऊ.
19. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
20. वर्मा, डॉ॰ रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रकाशक – रामनारायण लाल, इलाहाबाद.
21. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा.
22. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
23. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.

2.3.11. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राम के निर्गुण रूप को स्वीकार करने के मूल में कबीर का कौन-सा दृष्टिकोण निहित है ?
2. कबीर पंथ और सूफ़ीमत के प्रचारकों की ओर संकेत करते हुए तुलसीदास ने क्या कहा है ?
3. तुलसीदास के समय में शासकों द्वारा शोषित और दुर्भिक्ष की ज्वाला से परिपीड़ित प्रजा की आर्थिक दुर्दशा का उल्लेख कीजिए।
4. कबीर के राम और तुलसी के राम में असमानताएँ बताइए।
5. कबीर के राम और तुलसी के राम में साम्य स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कबीर के राम और तुलसी के राम में भेद स्पष्ट करते हुए उनके द्वारा निरूपित राम का स्वरूप विश्लेषित कीजिए।
2. "तुलसी के राम में परब्रह्म एवं पुरुषोत्तम का समन्वित रूप विद्यमान है।" उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "दशरथसुत तिहूँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।" में द्वितीय चरण का अर्थ है –

(क) राम नाम का मर्म समझ में आने लगता है।
(ख) राम नाम का मर्म एक आना (पूर्व प्रचलित भारतीय मुद्रा का एक रूप) है।
(ग) राम नाम का मर्म कुछ अन्य ही है।
(घ) उपर्युक्त सभी

2. तुलसी के राम हैं –

(क) सगुण, साकार, व्यक्त, बहिर्यामी, गुणाश्रय

(ख) निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अन्तर्यामी, गुणातीत

(ग) उपर्युक्त दोनों

(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना किस रूप में मानी गई है –

(क) पुरुष-रूप

(ख) स्त्री-रूप

(ग) सखा-रूप

(घ) शिशु-रूप

4. कबीर ने अपने उपास्य 'राम' को किन-किन नामों से सम्बोधित किया है –

(क) अल्लाह, करीम, खुदा, रहमान

(ख) केशव, माधव, जगदीश, हरि

(ग) गोविन्द, नरहरि, गोकुल नायक, बीठुला

(घ) उपर्युक्त सभी

5. राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन किसने किया है ?

(क) कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, सन्त दरिया

(ख) तुलसीदास, मीराँबाई, रहीम, केशवदास, पद्माकर

(ग) महात्मा गाँधी, विनोबा भावे

(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 4 : 'मानस' का महाकाव्यत्व, 'मानस' में सौन्दर्यतत्त्व, 'मानस' का वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देश्य कथन
2.4.1. प्रस्तावना
2.4.2. 'मानस' का महाकाव्यत्व
  2.4.2.1. महाकाव्यत्व की अवधारणा
  2.4.2.2. तुलसीदास की काव्य-चेतना
  2.4.2.3. 'मानस' में महाकाव्यत्व
2.4.3. 'मानस' में सौन्दर्यतत्त्व
  2.4.3.1. काव्य-रस
  2.4.3.2. चरित्र-चित्रण
  2.4.3.3. 'मानस' में उक्ति-वैचित्र्य
  2.4.3.4. 'मानस' में विविध वर्णन
  2.4.3.5. नारी-चित्रण
  2.4.3.6. भाषिक-विधान
2.4.4. 'मानस' का वैशिष्ट्य
  2.4.4.1. मानव-मुक्ति की प्रस्तावना व सामान्य के प्रति निष्ठा
  2.4.4.2. जीवन-मूल्य के रूप में लोकमंगल की स्थापना
  2.4.4.3. लोकधर्म एवं लोकभाषा की प्रतिष्ठा
2.4.5. पाठ-सार
2.4.6. शब्दावली
2.4.7. बोध प्रश्न
2.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.4.0. उद्देश्य कथन

गोस्वामी तुलसीदास भारत के लोकप्रिय एवं समादृित कवि हैं। उनकी कालजयी कृति 'रामचरितमानस' मानवीय रचनाशीलता और मूल्य चेतना का अप्रतिम दस्तावेज है । प्रस्तुत इकाई 'रामचरित मानस' के महाकाव्यत्व, सौन्दर्यतत्त्व और वैशिष्ट्य पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. महाकाव्य की अवधारणा के सन्दर्भ में 'रामचरित मानस' के महाकाव्यत्व को समझ सकेंगे।
ii. तुलसी की सौन्दर्य-चेतना के आलोक में 'मानस' में सौन्दर्यतत्त्व का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. 'रामचरित मानस' के वैशिष्ट्य से अवगत हो सकेंगे।

2.4.1. प्रस्तावना

'रामचरितमानस' गोस्वामी तुलसीदास का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। विश्व साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों में इसकी गणना की जाती है। अपने कालजयी ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने साहित्य, समाज और जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। वस्तुतः मानसकार ने अपने इस ग्रन्थ के माध्यम से भारतीय जनता की कलात्मक अनुभूतियों का एक मनोरम चित्र खींचा है। धार्मिकता, दार्शनिकता एवं नैतिक्ता का समन्वय इस ग्रन्थ का अपना वैशिष्ट्य है। किसी रचना की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस हद तक अपने समय की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। 'मानस' में तुलसीदास का युगबोध तो प्रकट होता ही है साथ ही सांस्कृतिक चेतना के बढ़ते विविध आयामों की भावुकतापूर्ण अभिव्यंजना कर वे स्वयं को तथा भारतीय जनमानस को आशान्वित करते हैं। तुलसी के रचनात्मक महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं – "तुलसीदास का महत्त्व बताने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार की उक्तियों का सहारा लिया है। नाभादास ने इन्हें कलिकाल का वाल्मीकि कहा था, स्मिथ ने उन्हें मुग़लकाल का सबसे बड़ा व्यक्ति माना था, ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद का सबसे बड़ा लोकनायक कहा था और यह तो बहुत लोगों ने बहुत बार कहा है कि उनकी रामचरितमानस भारत की बाइबिल है। इन सारी उक्तियों का सार यही है कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।"

2.4.2. 'मानस' का महाकाव्यत्व

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तक्काव्य, दोनों प्रकार के काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। दोनों ही काव्यरूपों के प्रणयन में उन्होंने विशेषज्ञता प्राप्त कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। 'रामचरितमानस' के रूप में उन्होंने एक उच्च कोटि का महाकाव्य रचा है जिसमें सम्पूर्ण रामकथा का अभूतपूर्व व विशिष्ट आयोजन है। तुलसीदास अपने समय के सामंजस्य विरोधी परिवेश में समन्वय को जीवनमूल्य और काव्यमूल्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रामचरितमानस' को समन्वय की विराट् चेष्टा कहा है। उनकी मुक्तक रचनाओं में 'रामललानहछू', 'वैराग्यसंदीपनी', 'बरवै रामायण', 'पार्वतीमंगल', 'जानकीमंगल', 'रामाज्ञाप्रश्न', 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली', 'विनयपत्रिका' आदि उल्लेखनीय हैं।

2.4.2.1. महाकाव्यत्व की अवधारणा

महाकाव्य में किसी समाज विशेष का विस्तार और गहराई के साथ चित्रण होता है। इसके अन्तर्गत युगचेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। उदात्तता, सौन्दर्य और समृद्धि के साथ ही महाकाव्य तत्युगीन जनजीवन और संस्कृति को उसकी समस्त जटिलताओं, अन्तर्विरोधों और उलझी हुई समस्याओं के साथ प्रस्तुत करता है। सामान्य अर्थों में महाकाव्य में एक सानुबन्ध कथा होती है और सम्पूर्ण घटनाक्रम कार्य-करण सम्बन्ध से

परस्पर पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह करते हुए जुड़ा रहता है । महाकाव्य की अवधारणा को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. महाकाव्य में सर्गबद्धता होती है।
ii. महाकाव्य का नायक कोई देवता या श्रेष्ठ क्षत्रिय कुलोत्पन्न धीरोदात्त व्यक्ति होता है।
iii. शृंगार, वीर और शान्त रसों में से एक रस अंगी बनकर आया हो तो शेष रस अंग बनकर गौण रूप से प्रयुक्त होते हैं।
iv. इसमें नाटक की मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण पाँचों सन्धियाँ होती हैं।
v. महाकाव्यों की कथा इतिहासाधारित होती है और कदाचित् कोई अन्य कथा हो तो वह सज्जनाश्रित होती है।
vi. महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया जाता है जिसमें किसी के प्रति नमस्कार, आशीर्वचन अथवा किसी वस्तु का निर्देश होता है।
vii. महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा की जाती है।
viii. महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया जाता है। सर्ग के अन्तर में छन्द-परिवर्तन किया जा सकता है। हालाँकि, कोई सर्ग ऐसा भी हो सकता है जिसमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया जाए। महाकाव्य में प्रायः आठ से अधिक सर्ग होते हैं जो न अधिक बड़े और न ही अधिक छोटे होते हैं। साथ ही प्रत्येक सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की कथा की सूचना होती है।
ix. महाकाव्य में प्रकरणवश सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोषकाल, अन्धकार, दिन, रात, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, पुर, अध्वर, स्वगमन, मंच आदि का वर्णन होता है।
x. प्रत्येक सर्ग में नायक का निर्देश होता है तथा सर्ग का नाम उसके अन्तर्गत वर्णित कथा के आधार पर ही होता है।

2.4.2.2. तुलसीदास की काव्य-चेतना

गोस्वामी तुलसीदास की कविता को आधुनिक दृष्टि से व्याख्यायित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल हिन्दी के पहले आलोचक हैं जिन्होंने तुलसीदास को कवि रूप में प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी कविता की एक हजार वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में तुलसीदास को एक श्रेष्ठतम कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तुलसीदास एक ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में भावजगत् तथा कर्मजगत् का पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। उनके अनुसार तुलसीदास की कविता कर्म सौन्दर्य की उच्चतर भूमि पर अवस्थित कविता है। प्रसिद्ध श्लोक का चरण है – "विद्या ददाति विनयम् ।" तुलसीदास एक प्रसंग में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहते हैं कि मेरे भीतर कविता लिखने की शक्ति एवं विवेक नहीं है –

कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥

तुलसीदास शास्त्रपारंगत मनीषी थे जिन्होंने वेद-वेदांगों का गहराई से अध्ययन किया था। काव्य-तत्त्वों से वे भली-भाँति परिचित थे। 'रामचरितमानस' में स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी काव्य-दृष्टि एवं काव्य-सिद्धान्तों का परिचय दिया है। 'मानस' के प्रारम्भ' में ही उन्होंने काव्य-तत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा है कि –

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥

* * *

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

* * *

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥

इस प्रकार तुलसीदास काव्य के तत्त्वों में अर्थ, अलंकार, छन्द, रीति, भाव, रस, दोष, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक तत्त्वों की चर्चा करते हैं। उन्होंने रस को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार करते हुए रीति और अलंकार के महत्त्व को रेखांकित किया है। जैसे पुष्प में पराग, मकरन्द और सुगन्ध की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार काव्य में अनेक प्रकार के अर्थ व्यंजित करने की क्षमता अन्तर्निहित होती है। 'नवरस' ही 'मानस' के जलचर हैं और ध्वनि ही 'मीन' है। इस प्रकार वे रस और ध्वनि के घनिष्ठ सम्बन्ध को भी स्वीकार करते हैं।

तुलसीदास की दृष्टि में उत्तम कविता वह है जो विद्वानों द्वारा प्रशंसित हो। जिस रचना को विद्वानों की संस्तुति प्राप्त नहीं होती, उसके कर्त्ता कवि का श्रम व्यर्थ हो जाता है। कविता की तुलना तुलसीदास ने गंगा से की है तथा काव्य का प्रमुख प्रयोजन 'लोकमंगल' स्वीकार किया है –

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

एक अन्य स्थान पर उन्होंने 'स्वान्तःसुखाय' को अपना काव्य-प्रयोजन स्वीकार करते हुए लिखा है –

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

'स्वान्तःसुखाय' के अतिरिक्त यश, सिद्धि, मुक्ति आदि कामना की अस्पष्ट ध्वनि उनकी काव्य-पंक्तियों में सुनी जा सकती है। 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' कहकर उन्होंने 'काव्य-प्रयोजन' को बहुजन हिताय सिद्ध किया है। पाश्चात्य कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की भाँति तुलसीदास भी कविता को स्वतःस्फूर्त नहीं मानते हैं। उनके अनुसार भाव और चिन्तन के योग से ही सुन्दर काव्य का सृजन होता है। उनका दृढ़ विश्वास है कि कवितारूपी

सुन्दर मोती का जन्म तभी होता है जब हृदयरूपी सागर में पड़ी बुद्धिरूपी सीप में श्रेष्ठ विचाररूपी जल की बूँदें स्वातिरूपी शारदा की कृपा से बरसती हैं –

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

तुलसीदास का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यापक एवं विस्तीर्ण है। वे शब्द और अर्थ के सन्तुलन पर बल देते हैं। साथ ही कविता में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, भाव, रस आदि का समावेश भी आवश्यक समझते हैं। उनकी कविता में काव्य-कला के सम्पूर्ण उपादानों का पूर्ण उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। उनका भाव-निरूपण सरस, अद्भुत एवं अद्वितीय है। शृंगार रस की मधुर अभिव्यक्ति देखिए –

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदर बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥

'मानस' तुलसीदास की महान् काव्य-प्रतिभा का द्योतक है। उन्होंने 'मानस' में कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान बहुत ही कुशलतापूर्वक की है। यहाँ उनका काव्य-कौशल अद्वितीय बन पड़ा है। जनकवाटिका में राम-सीता का प्रथम मिलन, राम-वनगमन, दशरथ-मरण, चित्रकूट-प्रसंग, भरत की आत्मग्लानि, राम-सुग्रीव मैत्री, लक्ष्मण-शक्ति आदि ऐसे ही अनेक भावपूर्ण स्थल 'मानस' में सहज ही अनुभूत हैं।

तुलसीदास शब्दार्थ सन्तुलन, आलंकारिता, चित्रात्मकता, प्रबन्ध परिकल्पना, दोष-परिहार, छन्द विनियोग, भाषा-सौष्ठव, गुण सन्निवेश आदि पर अधिक बल देते हैं। वे कम-से-कम शब्दों में अधिकाधिक अर्थ अभिव्यक्त करने वाली कविता को ही श्रेष्ठ काव्य स्वीकार करते हैं –

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥

तुलसीदास के अनुसार 'रमणीयता' और 'उदात्तता' काव्य के दो प्रमुख लक्षण हैं। 'मानस' के मंगलाचरण में उन्होंने कहा है –

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

उन्होंने ध्वनितत्त्व को प्रधान माना है। 'अर्थसंघ' को द्वितीय स्थान देकर भी वे ध्वन्यात्मक काव्य को महनीय मानते हैं। ध्वनिप्रधान होने के कारण ही उनकी एक-एक चौपाई के अनेकानेक अर्थ लगाए जाते हैं। तुलसीदास की कविता का मूल स्रोत मानव प्रेम एवं लोककल्याण है। वे कविता को निरुद्देश्य एवं मनोरंजन का साधन नहीं मानते हैं। उनकी काव्य-दृष्टि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का समन्वय करती है।

2.4.2.3. 'मानस' में महाकाव्यत्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध सौष्ठव के लिए तीन कसौटियाँ निर्धारित की हैं – (i) सम्बन्ध निर्वाह, (ii) कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान और (iii) दृश्यों की स्थानगत विशेषता। 'रामचरितमानस' में इन तीनों तत्त्वों का सफल निर्वाह दिखाई देता है।

'मानस' एक सर्गबद्ध काव्य है। कथा-विकास में सर्ग एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और एक-दूसरे का पूरक बनकर आते हैं। कथा कहीं भी विशृंखलित नहीं होती, आदि से अन्त तक अक्षुण्ण बनी रहती है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार ही 'मानस' में 'सर्ग' को 'काण्ड' नाम दिया गया है। 'रामचरित मानस' में राम के जन्म से लेकर राम के राज्यारोहण तक की कथा सात काण्डों में विभक्त है। वैसे तो महाकाव्य के लक्षणों में सर्गों की संख्या आठ से अधिक होने का उल्लेख किया गया है लेकिन 'मानस' में सात काण्ड (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड) होते हुए भी इसके महाकाव्यत्व में कोई कमी नहीं है क्योंकि ये सातों काण्ड ही सम्पूर्ण रामकथा को विशदता और रोचकता के साथ प्रस्तुत कर देते हैं। 'मानस' में सर्गों के आकार के नियम का कठोरता से पालन नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ 'बालकाण्ड' सबसे बड़ा सर्ग है जिसमें दोहों की कुल संख्या 361 है और प्रत्येक दो दोहों के बीच आठ से लेकर बारह चौपाइयाँ हैं। जबकि अयोध्याकाण्ड में दोहों की कुल संख्या 326 है और प्रत्येक दो दोहों के बीच तुलसीदास ने आठ-आठ चौपाइयों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'उत्तरकाण्ड' में कुल 130 दोहे हैं और प्रत्येक दो दोहों के मध्य आठ से बारह और कहीं-कहीं तो सोलह या अधिक चौपाइयाँ हैं। जबकि लंकाकाण्ड में दोहों की कुल संख्या120 है। इसी तरह सुन्दरकाण्ड में 60, अरण्यकाण्ड में 46 तथा किष्किन्धाकाण्ड में केवल 30 दोहे हैं। इस प्रकार 'मानस' में सर्गों का आकार सन्तुलित नहीं है। बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड मिलकर सम्पूर्ण ग्रन्थ का लगभग दो-तिहाई आकार घेर लेते हैं। बालकाण्ड तो किष्किन्धाकाण्ड का बारह गुणा है। यद्यपि, इस ग्रन्थ के सर्ग महाकाव्य के नियमों की अवहेलना करते हैं, तथापि सर्गों के आकार का अन्तर इसके महाकाव्यत्व में व्यवधान नहीं डालता। सर्ग की कथा को जितने आकार की आवश्यकता है, उससे अधिक या कम एक भी छन्द नहीं है।

अवधी भाषा में रचित 'मानस' दोहा-चौपाई छन्दों में निबद्ध रचना है। प्रत्येक काण्ड में प्रमुख रूप से दोहा और चौपाई छन्द ही हैं तथापि सोरठा, गीतिका आदि अन्य छन्दों का भी कुशलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। तुलसीदास से पूर्व मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' की रचना दोहा और चौपाई छन्द में ही की है लेकिन तुलसीदास का वैशिष्ट्य इस रूप में है कि 'मानस' में दोहा और चौपाई छन्द का शुद्ध शास्त्रीय प्रयोग हुआ है जो जायसी में अपेक्षाकृत नहीं मिलता।

महाकाव्य का नामकरण उसमें वर्णित विषय, नायक, उसके वंश, उसके जीवन की विशिष्ट घटना के आधार पर होता है। 'रामचरित मानस' का नामकरण तुलसीदास ने अपने आराध्य देव और महाकाव्य के नायक दशरथतनय रामचन्द्र के नाम के आधार पर किया है। इस काव्य में वर्णित कथा, विचार, प्रेरणा, भाव, सन्देश आदि सब कुछ 'राम' से ही सम्बन्धित हैं अतः भक्तजनों के रामचरित्ररूपी मानसरोवर में अवगाहन हेतु 'रामचरित

मानस' नाम सर्वथा उपयुक्त ही है। साथ ही सर्गों या काण्डों का नामकरण भी काण्ड में वर्णित कथानुरूप ही है। हालाँकि सर्गों के नामकरण में तुलसीदास ने मौलिकता का परिचय नहीं दिया है। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण के काण्डों के नामकरण को यथावत स्वीकार कर लिया है। इसे तुलसी का वाल्मीकि के प्रति श्रद्धा-प्राकट्य ही मानना उचित होगा कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर वाल्मीकि-कृत रामकथा की रूपरेखा को लाँघने का प्रयत्न नहीं किया तथापि ग्रन्थ की भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए ग्रन्थ के नाम में भेद आवश्यक था इसीलिए वहाँ अपेक्षित भिन्नता रखी गई है।

महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक, पौराणिक या लोकप्रसिद्ध सज्जन व्यक्ति की कथा होती है। इस कसौटी पर 'मानस' एक सफल महाकाव्य है। इसकी कथा इतिहासप्रसिद्ध, पुराणों में विख्यात और जन-जन के कण्ठहार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की जीवन-गाथा है। रामकथा भारत और भारतेतर राष्ट्रों में अनेक रचनाओं के सृजन की उत्स रही है। रामकथा का व्यापक आधार लेकर ही 'रामचरित मानस' की रचना की गई है।

'महाकाव्य' का नायक उच्चकुल में उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ धीरोदात्त व्यक्ति होना चाहिए। 'मानस' के नायक श्रीरामचन्द्र अयोध्यानरेश महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं जो क्षत्रिय कुलोत्पन्न और उदात्तचरित्र की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। उनका चरित्र धीरोदात्त नायक की समस्त विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। मानव रूप में चौदह कलाओं से युक्त ईश्वर के अवतार श्रीरामचन्द्र महाकाव्य के नायक होने की सभी अपेक्षाओं पर खरे उतरते हैं। उनका नायकत्व सम्पूर्ण महाकाव्य में व्याप्त है। उनके विराट् व्यक्तित्व का प्रभाव सम्पूर्ण ग्रन्थ में छाया हुआ है। 'मानस' के सभी काण्डों में श्रीरामचन्द्र की प्रभावपूर्ण उपस्थिति, अस्तित्व और निर्देशों का प्रकाश विद्यमान है।

महाकाव्यत्व की कसौटी पर 'रामचरित मानस' के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. लक्षणानुसार 'मानस' का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। मंगलाचरण में तीन बातों का निर्देश होता है – (i) वस्तुनिर्देश, (ii) आशीर्वाद एवं (iii) स्तुति। बालकाण्ड में अनेक देवी-देवताओं, तीर्थों, नदियों, गुरु, दशरथ, कौशल्या, शिव, पार्वती, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता और राम की स्तुति की गई है। तुलसीदास ने 'मानस' में "बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥" कहकर दुष्टों तक की प्रार्थना की है। उन्होंने 'मानस' के प्रत्येक काण्ड का प्रारम्भ अपने आराध्य भगवान् श्रीरामचन्द्र अथवा उनके आराध्य भगवान् शंकर की स्तुति से किया है।
ii. 'मानस' की कथा संवादशैली में प्रस्तुत की गई है। इस कथा के चार वक्ता और चार ही श्रोता हैं – शिव-पार्वती, काकभुशुण्डि-गरुड़, याज्ञवलक्य-भरद्वाज एवं तुलसीदास-भक्तजन। चेतना के विभिन्न स्तरों पर कथानक को एक साथ अभिव्यक्त करते हुए उसमें सम्बन्ध-निर्वाह कर पाना निश्चयतः कवि की विशिष्ट प्रतिभा का प्रमाण है। भले ही 'मानस' की कथा चार अलग-अलग वक्ताओं द्वारा कही गई है किन्तु उसमें कहीं भी कथाक्रम टूटने नहीं पाता है।

iii. 'मानस' में तुलसीदास ने महाकाव्य के अनुसार ही रसों की अभिव्यंजना की है। इसमें शृंगार, वीर और शान्तरस की त्रिवेणी बह रही है। हालाँकि, वीररस की प्रचुरता के कारण वीररस अंगी और अन्य रस अंग बनकर आए हैं।

iv. 'मानस' में लक्षणानुसार पाँचों सन्धियाँ उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करता है। उदाहरणार्थ, राम-जन्म के कारणों के साथ राम का आविर्भाव मुख सन्धि है। विवाह के अवसर पर धनुषयज्ञ में राजाओं और परशुराम की चुनौतियाँ, राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास प्रतिमुख सन्धि है। राक्षसों का उत्पात, सीताहरण आदि गर्भ सन्धि है। रावण को मारने का प्रयत्न और युद्ध विमर्श सन्धि है। रावण को मारकर सीता की प्राप्ति, अयोध्या आगमन, रामराज्य की स्थापना आदि निर्वहण सन्धि है।

v. 'मानस' में महाकाव्यानुरूप वन, पर्वत, नदी, नगर, काल आदि का विस्तृत, व्यापक एवं प्रभावी वर्णन मिलता है। इनमें दण्डकारण्य, कैलाश और ऋष्यमूक पर्वत, गंगा-यमुना-सरयू आदि नदियाँ, जनकपुरी-लंका आदि सम्पन्न नगरी, अशोकवाटिका, वर्षा और शरदादि ऋतुएँ, पाठशालाएँ व मुनियों के आश्रम, राजदरबार तथा कलियुग के माध्यम से मर्त्यलोक आदि का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

तुलसीदास प्रकाण्ड पण्डित थे। 'रामचरित मानस' महाकाव्य की रचना में उनकी अद्‌भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उन्होंने अत्यन्त विशाल फलक पर 'मानस' की भावयोजना की अभिकल्पना की, और उसी के अनुरूप उसे अत्यन्त कुशलतापूर्वक सजाया-सँवारा भी। कथ्य व संवेदना की दृष्टि से 'मानस' में उन्होंने 'रामकथा' के माध्यम से एक समूचे युग को रूपायित करने का प्रयास किया है। महाकाव्य के शत प्रतिशत लक्षणों की पूर्ति न करते हुए भी 'रामचरित मानस' एक सफल महाकाव्य कहलाने का अधिकारी है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के सभी लक्षणों पर खरी उतरने वाली यह उत्कृष्ट रचना है।

2.4.3. 'मानस' में सौन्दर्यतत्त्व

काव्य-कला व सौन्दर्य की दृष्टि से 'रामचरितमानस' विश्व की आदर्श कृतियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कथाप्रबन्ध का सर्गबद्ध होना, नायक का उच्चकुल सम्भूत तथा धीरोदात्त होना, शान्तरस का अंगीरूप होना, वर्णन की सुन्दरता, पुरुषार्थ चतुष्टय में से धर्मका लक्ष्य रूप में रहना आदि भारतीय काव्यलक्षणों का सुन्दर विकास 'रामचरितमानस' में देखने को मिलता है। इसी प्रकार कथा का अतीत से सम्बन्धित होना, अतिप्राकृत शक्तियों का कथा में भाग लेना, कथा के अन्त में आदर्शों की विजय होना आदि पाश्चात्य एपिक के लक्षणों की दृष्टि से भी 'रामचरितमानस' में सुन्दर व प्रभावी नियोजन मिलता है।

2.4.3.1. काव्य-रस

रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। 'मानस' में वीर, शान्त और शृंगार रस की प्रचुरता है और सभी नवरसों का आनन्दपूर्वक उत्कर्ष है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं –

वीर रस –

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥

* * *

हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥

* * *

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरउँ जाइ बरिआई॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे॥

शान्त रस

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

* * *

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

शृंगार रस

भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥

* * *

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

करुण रस

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥

* * *

तात पितहि तुम्ह प्रानपिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥

रौद्र रस

सुनहु भानुकुल पंकजभानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥

* * *

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥

हास्य रस

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा॥
माता पितहि उरिन भए नीकें। गुर रिनु रहा सोचु बड़ जीकें॥

* * *

टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहिं पाय पिराने॥
जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई॥

भयानक रस

धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥
गएँ भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥
कहिअ काह कहि जाइ न बाता। जम कर धार किधौं बरिआता॥
बरु बौराह बसहँ असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥

वीभत्स रस

मज्जहि भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥

अद्भुत रस

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥

2.4.3.2. चरित्र-चित्रण

'मानस' के चरित्र-विधान में तुलसी का अनुभवजन्य कौशल प्रकट होता है । राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, वशिष्ठ, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, मन्दोदरी तथा अन्य पात्रों का चरित्र उनकी मानसिक और बाह्य स्थिति के अनुरूप ही निर्मित किया गया है । 'मानस' में विभिन्न पात्रों का चरित्र-चित्रण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित होता है । मनुष्य के अन्तर्मन और मस्तिष्क में परिस्थितिजन्य भाव उत्पन्न होते हैं । तुलसीदास चरित्र-सृष्टि में इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं और बड़े सुन्दर ढंग से मनोभावों को अभिव्यक्त कराते हैं । इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "रस संचार मात्र के लिए किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है परन्तु किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरों उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है । 'रामचरितमानस' के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण; ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामीजी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है ।"

'मानस' के नायक रामचन्द्र अवतारी पुरुष हैं । उनका चरित्र उदात्त गुणों से परिपूर्ण है । वे अपने माता, पिता, गुरु, भ्राता, सहधर्मिणी, स्वजनों, परिजनों, मित्रों, बन्धु-बांधवों और प्रजा के प्रति यथायोग्य अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं । प्रजा-पालक दशरथ का चरित्र भी आदर्श राजा का चरित्र है जो अपने वचन-पालन के लिए पुत्र वियोग सहते हैं तथा सत्य-प्रतिज्ञा के लिए प्राण तक दे देते हैं । कैकेयी के चरित्र में विमाता के लक्षणों की सृष्टि की गई है । चूँकि वह भी मूलतः सद्पात्र है अतः बाद में उसे अपने किये पर आत्मग्लानि-ग्रस्त दिखाया गया है । भरत का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल है । 'मानस' में उनके समान दूसरा आदर्श नहीं है । भरत प्रेम, त्याग, कर्त्तव्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं । सीता का चरित्र एक आदर्श भारतीय नारी का चरित्र है । अन्य सच्चरित्रों में धर्मगुरु वशिष्ठ, गुरु विश्वामित्र तथा शुभचिन्तक मित्र सुग्रीव एवं जाम्बवान् प्रमुखहैं । हनुमान के चरित्र-निर्माण में तुलसी ने विशेष रुचि ली है । प्रभु राम के प्रति उनका समर्पण, सेवा, आज्ञापालन, तत्परता और अनन्यता उनके चरित्र को उदात्त बनाती है । तुलसीदास द्वारा ब्रह्मचारी, बुद्धिमान और पराक्रमी हनुमान का उदात्त चरित्र इतनी तन्मयता से विकसित किया गया है कि लोकाराध्य के रूप में वे राम से अधिक लोकप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हुए। विभीषण राम के अनन्य भक्त हैं । राक्षसराज रावण महाप्रतापी और अभिमानी है, वह अपने हितैषियों की बात भी नहीं मानता । वह वीर, पराक्रमी, युद्ध में अविचल, विद्वान और तपस्वी है । वह राम से शत्रुता करता है और अन्त में राम के हाथों मारा जाता है । महाकवि तुलसीदास की दृष्टि में रावण भी रामभक्त ही था । वह हठपूर्वक राम के हाथ से मरने के लिए उनसे बैर मोल लेता है । रावण सोचता है –

खर दूषन मोहि सम बलवंता । तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥

केवल सीता ही नहीं, मन्दोदरी भी आदर्श पत्नी है जो बार-बार रावण को समझाती रहती है कि कुमार्ग पर न चलें, राम से बैर न करें। इस प्रकार 'मानस' के सभी चरित्र सुविचारित हैं जिनका चरित्र कुछ-न-कुछ सन्देश प्रदान करता है। मर्यादा की स्थापना ही तुलसीदास का रचनात्मक प्रतिपाद्य है और चरित्र-चित्रण के द्वारा उन्होंने इस लक्ष्य को सफलीभूत किया है।

2.4.3.3. 'मानस' में उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य 'मानस' का विशिष्ट गुण है। इसके संवादों में रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यंग्यपूर्ण उक्तियाँ हैं। ज्ञानपूर्ण संवादों में रूपक और उत्प्रेक्षाएँ दिखाई देती हैं और जहाँ दो परस्पर विरोधी विचार के पात्र संवाद करते हैं, वहाँ व्यंग्य का प्रयोग हुआ है। 'मानस' में उत्प्रेक्षा और सांगरूपकों की बहुलता है। उदाहरणार्थ श्रीराम के प्रताप को सूर्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए तुलसी एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं –

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥

एक अन्य रूपक देखिए जहाँ सीता-विरह में दग्ध श्रीराम वन में भटकते समय सर्वत्र वसन्त को छाया हुआ देखकर लक्ष्मण से कहते हैं कि मुझे विरह से व्याकुल, बलहीन और बिलकुल अकेला जानकर कामदेव ने वन, भौंरों और पक्षियों को साथ लेकर मुझ पर धावा बोल दिया है –

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥

व्यंग्यपूर्ण उक्तियों की नियोजना में धनुषयज्ञ प्रसंग में लक्ष्मण की, गंगातट पर केवट की तथा रावण दरबार में अंगद की उक्तियाँ चमत्कारपूर्ण हैं –

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥

– (धनुष्यज्ञ प्रसंग)

* * *

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनि होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥

– (केवट प्रसंग)

2.4.3.4. 'मानस' में विविध वर्णन

'मानस' अभिव्यंजना प्रधान महाकाव्य है। उसमें विभिन्न प्रसंगों के वर्णन का बाहुल्य है। नगर-वर्णन, विवाह-वर्णन, नख-शिख वर्णन, प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, युद्ध-वर्णन, कलियुग-वर्णन आदि विविध वर्णनों से कथानक के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। तुलसीदास ने इन वर्णनों में सर्वत्र संयम रखा है तथा मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं किया है। उदाहरणार्थ जगज्जननी पार्वती और माता सीता का शृंगारिक चित्रण नहीं किया गया है। 'मानस' में वर्णित विभिन्न प्रसंगों के वैशिष्ट्य को निम्नलिखितबिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. 'मानस' में अयोध्या, जनकपुर और लंकापुरी तीन नगरियों का वर्णन मिलता है। बालकाण्ड में जनकपुर का, सुन्दरकाण्ड में लंकापुरी का और उत्तरकाण्ड में अयोध्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

ii. 'मानस' में दो स्थलों पर विवाह का वर्णन मिलता है। ये विवाह हैं – (i) शिव और पार्वती का विवाह और (ii) राम-सीता का विवाह। दोनों विवाहों में उत्तरभारत के आर्यों की विवाह-परम्परा के अनुरूप चित्रण किया गया है। घोड़ों और रथों पर बरात का आगमन, बरात का स्वागत, समाधियों का व्यवहार, शाखोचार, कन्यादान, गठबन्धन, भाँवर कर्म आदि का रोचक वर्णन 'मानस' में है।

iii. 'मानस' में स्त्रियों के सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन नहीं मिलता। तुलसीदास ने केवल श्रीराम के दिव्य सौन्दर्य का ही चित्रण किया है। बालकाण्ड में मनु और शतरूपा भगवान् के सौन्दर्य से अभिभूत हैं।

iv. 'मानस' में पाँच स्थलों पर प्रकृति का मनोरम चित्रण मिलता है। अयोध्याकाण्ड में कामदगिरि वर्णन, अरण्यकाण्ड में पंचवटी वर्णन, पम्पा वर्णन, किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन, लंका में सुबेल पर्वत पर चन्द्रमा का वर्णन नयनाभिराम है।

v. युद्धों का जीवन्त एवं लोमहर्षक वर्णन 'मानस' की अपूर्व विशेषता है। अरण्यकाण्ड में रामचन्द्र और खर-दूषण का संग्राम तथा लंकाकाण्ड में राम-रावण युद्ध अपेक्षाकृत अधिक विस्तारित है जहाँ राक्षसी माया का प्रदर्शन है तथा विविध अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग होते युद्ध का भयानक चित्रण हुआ है।

vi. 'मानस' के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि जी द्वारा कलियुग का विस्तार से किया गया है –

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥

2.4.3.5. नारी-चित्रण

'मानस' महाकाव्य में तुलसीदास ने मानव जीवन का व्यापक विश्लेषण किया है। इसमें कवि ने पुरुष वर्ग के साथ हे नारी चरित्र के भी विविध पहलुओं पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से प्रकाश डाला है। नारी के सद्-असद् दोनों रूपों की वास्तविक झाँकी 'मानस' में प्रदर्शित है। एक ओर पार्वती, कौशल्या, सीता, सुमित्रा, अनुसूया,

मन्दोदरी आदि महान् नारियों के आदर्श चरित्र हैं तो दूसरी ओर कैकेयी, मंथरा, ताड़का, शूर्पणखा आदि घृणास्पद पात्र भी हैं। शबरी और त्रिजटा भी उच्चतर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करती हैं।

2.4.3.6. भाषिक-विधान

'मानस' काव्य-कला के सभी मानदण्डों पर खरा उतरता है। इस ग्रन्थ की रचना शुद्ध साहित्यिक अवधी भाषा में की गई है साथ ही तत्सम शब्दों का भी आवश्यकतानुरूप समावेश हुआ है। प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में संस्कृत भाषा में स्तुत्मिंगलाचरण हैं। काण्ड के मध्य में भी आवश्यकतानुरूप कुछ स्थानों पर संस्कृत में छन्द रचना की गई है। 'मानस' की भाषा भाव-सम्प्रेषण में सक्षम है तथा वह प्रसंगानुकूल, पात्रानुकूल, परिशुद्ध, समासबहुल एवं व्याकरणसम्मत भी है। तुलसीदास ने प्रभावी बिम्ब-योजना के तहत 'मानस' को चित्रात्मक एवं लोकग्राही बनाने का सफल प्रयास किया है। पूरा का पूरा 'मानस' गेयता के गुण से ओतप्रोत है। दोहा और चौपाइयों को गाकर प्रस्तुत करने की अनेक शैलियाँ लोकमानस में प्रचलित हैं। इससे इस कृति का माधुर्य और भी बढ़ गया है। 'मानस' की भाषिक संरचना में मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता, स्वाभाविकता, उदात्तता एवं कलात्मकता विद्यमान है।

2.4.4. 'मानस' का वैशिष्ट्य

'रामचरितमानस' समन्वय के अन्वेषण बिन्दु की खोज के कारण मानव जीवन एवं व्यवहार की कविता है। यह अपने समय की राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का विरोध करते हुए एक वैकल्पिक व्यवस्था के स्वप्न की प्रस्तावना करता है। 'मानस' का वैशिष्ट्य विराट् सामाजिक भाव और विविधताओं में समन्वय की खोज में परिलक्षित होता है। मानव-मुक्ति, सामान्य के प्रति प्रेम, जीवन-मूल्य और लोकमंगल की स्थापना, लोकधर्म एवं लोकभाषा की प्रतिष्ठा आदि उद्देश्यों की पूर्ति में 'रामचरित मानस' सफल हुआ है। राम के बिना न जीवन में और न ही कविता में सुन्दरता आती है। 'मानस' की रचना-प्रक्रिया में 'रामोन्मुखता' गोस्वामी तुलसीदास का केन्द्रीय जीवन-मूल्य है। कवि का दृढ़ विश्वास है कि कविता और जीवन तभी सुन्दर हो पाते हैं, यदि वे राम से सम्बिन्धित हैं –

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोन न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥
जदपि कबित रस एकउ नाही। राम प्रताप प्रकट एहि माहीं॥

2.4.4.1. मानव-मुक्ति की प्रस्तावना व सामान्य के प्रति निष्ठा

'मानस' मानव-मुक्ति का काव्य है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ है जीने का समान अवसर। अधिकारों की समानता के बगैर मुक्ति एवं स्वतन्त्रता भ्रामक और छद्मपूर्ण है। भक्ति के अधिकार का सवाल 'मानस' में प्रमुख रूप से उठाया गया है। 'मानस' की भक्ति जनतान्त्रिक चेतना का निर्माण करती है। यह चेतना इतनी उदात्त है कि मनुष्य तो मनुष्य, जटायु, वानर, रीछ, राक्षस आदि समस्त प्राणियों की भक्ति-भावना का सम्मान करती है। वस्तुतः मानववाद की जो परिकल्पना और अपेक्षा आधुनिक सामाजिक चिन्तन में उभर रही है, वह चेतना बहुत पहले ही 'मानस' में देखी जा सकती है। मुक्तिबोध का मानना है कि मुक्ति व्यक्तिगत नहीं अपितु सामूहिक होती है। 'मानस' में सामूहिक मुक्ति की चेतना व्यापक रूप में विद्यमान है। मानव मुक्ति का काव्य होने के कारण ही चेतना की मुक्ति, अवसर की समानता, मानवीय जीवन में विराट् प्रकृति की सहभागिता और एकता का स्वर 'मानस' में परिलक्षित होता है।

अपने मानवतावादी चिन्तन के प्रभावस्वरूप तुलसीदास लोकजीवन की प्रतिष्ठा करते हुए मनुष्यमात्र की चिन्ता करते हैं। 'मानस' की वास्तविक ऊर्जा का स्रोत सामान्य जीवन ही है। वह भौगोलिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं का सम्मान करते हुए मनुष्यमात्र को समान धरातल पर लाने की चेतना का काव्य है।

2.4.4.2. जीवन-मूल्य के रूप में लोकमंगल की स्थापना

मनुष्य का कल्याण मानवतावाद का मूल लक्ष्य है। 'मानस' की समूची चेतना लोकमंगल की कामना करती है तथा उसके लिए संघर्ष का मार्ग भी अपनाती है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष अनिवार्य है। तुलसीदास इस वास्तविकता से परिचित हैं इसीलिए उनके सद्पात्र सत्य के लिए संघर्ष भी करते हैं। तुलसीदास के लिए लोकमंगल का अर्थ मर्यादा की स्थापना है। वे मर्यादित समाज (रामराज्य) की स्थापना द्वारा लोकमंगल की स्थापना करते हैं। उनके सच्चरित्र पात्र साधनहीन होने पर भी अपने आत्मबल के सहारे प्रतिमानवीय शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें परास्त करते हैं। 'मानस' में लोकमंगल की धारणा ठोस, तार्किक तथा राजनैतिक चेतना से अनुप्राणित है। लोकमंगल की परिस्थितियों का निर्माण 'मानस' की महत्त्वपूर्ण चुनौतियों में से एक है। वह लोकमंगल की स्थापना हेतु प्रतिबद्ध एक मानवतावादी महाकाव्य है।

2.4.4.3. लोकधर्म एवं लोकभाषा की प्रतिष्ठा

लोकधर्म का विस्तृत एवं व्यापक रूप 'मानस' में प्रतिष्ठित है जिसका विस्तार समूचे मानव समाज तक व्याप्त है। तुलसीदास द्रष्टा, चिन्तक और विचारक थे। अपने समय के समाज से उनकी असहमति ही उनकी रामराज्य की परिकल्पना के रूप में सामने आई है। तुलसी ने अपने समय की सामाजिक अव्यवस्था एवं अराजकता को विक्षुब्ध होकर देखा। वे सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सुधार के प्रबल आकांक्षी थे। ईश्वरीय विभूति के तीनों पक्षों – शील, शक्ति और सौन्दर्य पर ध्यान केन्द्रित कर चिन्तन करने पर उन्हें 'मानस' के नायक श्रीरामचन्द्र का ही चरित्र मिला जो समस्त सद्गुणों का संपुंजन था। 'मानस' का लोकधर्म किसी साँचे में ढला

हुआ लोकधर्म नहीं है। कवि ने उसे अपने विचारों, अनुभवों तथा नीतियों के तहत उभारा है। अपनी संवेदना तथा रचनात्मकता के सबसे उदात्त क्षणों में तुलसीदास 'मानस' के माध्यम से मानवीय प्रेम की, एक ईश्वर से प्रेम की, सच्चे प्रेम की बात करते हैं, लोक के कष्ट से द्रवित होते हैं और लोक की उस कष्ट से मुक्ति के लिए ही अपने आराध्य श्रीराम के समक्ष नतमस्तक होते हैं। भक्ति के धरातल पर संसार के समस्त कर्त्तव्यों को सम्पादित करते हुए और समस्त प्राणियों से प्रेम करते हुए सच्चे अन्तःकरण से वे आराध्य के प्रति अहैतुकी निःस्वार्थ भक्ति के समर्थक हैं।

तुलसी नया मनुष्य तथा समाज बनाने के लिए चिन्तातुर हैं। यह चिन्ता भाषा से भी जुड़ी हुई है। भाषा कई बार वर्चस्व, सत्ता तथा शासन का माध्यम बनती है। इसलिए कई बार वह आभिजात्यता की शर्त से भी जुड़ जाती है। मध्यकाल में संस्कृत ऐसी ही आभिजात्य-वर्ग की भाषा है। इस मायने में 'मानस' आभिजात्यता के दुर्निवार आग्रह को चुनौती देता है। इस ग्रन्थ की रचना शुद्ध साहित्यिक अवधी भाषा में हुई है जिसमें लोकसुगन्ध की व्याप्ति है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुरूप तत्सम शब्दों एवं श्लोकों में संस्कृत का प्रयोग भी हुआ है। कहना सही होगा कि 'मानस' की पात्रानुकूल और प्रसंगानुरूप भाषा लोकाभिव्यक्ति के निहितार्थ भाव-सम्प्रेषण में पूर्णरूपेण सक्षम है।

2.4.5. पाठ-सार

'रामचरितमानस' आदर्श एवं मर्यादित भारतीय सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक उपलब्धियों का एक दर्पण है। इसमें कवि ने विभिन्न पात्रों के माध्यम से अनुकरणीय आदर्श और अद्‌भुत चरित्रों की सृष्टि की है। 'मानस' सदृश पात्र-संयोजना अन्य पूर्ववर्ती रामकथा-काव्यों में दुर्लभ है। वही रचना महत्त्वपूर्ण होती है जो अपने समय के लिए तो जरूरी हो ही, आने वाले समय में भी उतनी ही प्रासंगिक हो। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में उदारता, क्षमा, त्याग, निर्वैरता, धैर्य और सहनशीलता आदि सामाजिक शिवत्व के गुण बड़े परिमाण में सृजित किए गए हैं। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण 'मानस' ने अपने समय के समाज को तो झकझोरा ही, वह वर्तमान समाज के लिए भी अर्थवान् है। वह भारतीय संस्कृति की अनमोल विरासत है जिसे कृतज्ञता के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए।

2.4.6. शब्दावली

कीरति	:	यश
भनिति	:	कविता
सर्ग	:	काण्ड
चाप	:	धनुष
अभिजात्य	:	कुलीन

2.4.7. बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आकार की दृष्टि से 'मानस' का सबसे बड़ा सर्ग है –

(क) बालकाण्ड
(ख) अयोध्याकाण्ड
(ग) सुन्दरकाण्ड
(घ) लंकाकाण्ड

2. आकार की दृष्टि से 'मानस' का सबसे छोटा सर्ग कौन-सा है ?

(क) सुन्दरकाण्ड
(ख) उत्तरकाण्ड
(ग) किष्किन्धाकाण्ड
(घ) लंकाकाण्ड

3. 'मानस' की कथा के प्रमुख वक्ता-श्रोता कितने माने गए हैं ?

(क) एक
(ख) चार
(ग) आठ
(घ) असंख्य

4. 'राम नाम बिनु सोह न सोऊ' किस सन्दर्भ में कहा गया है ?

(क) कविता
(ख) कृषि
(ग) युद्ध
(घ) विवाह

5. 'मानस' में अयोध्यानगरी का विस्तृत वर्णन किस काण्ड में मिलता है ?

(क) बालकाण्ड में
(ख) अयोध्याकाण्ड में
(ग) सुन्दरकाण्ड में
(घ) उत्तरकाण्ड में

टिप्पणी लिखिए –

1. 'मानस' की सर्गबद्धता।
2. 'मानस' का रस-विधान।
3. 'मानस' में उक्ति-वैचित्र्य।
4. 'मानस' में नारी-चित्रण।
5. 'मानस' का कलात्मक सौन्दर्य।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'मानस' के महाकाव्यत्व का उद्घाटन कीजिए।
2. 'मानस' का वैशिष्ट्य निरूपित कीजिए।

2.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. शुक्ल, रामचन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
02. तिवारी, रामजी, तुलसीदास, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
03. तिवारी, रामचन्द्र, तुलसीदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
04. दीक्षित, राजपति, तुलसीदास और उनका युग, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस
05. सिंह, वासुदेव, (सम्पादक) तुलसीदास, अभिव्यक्ति प्रकाशन, नयी दिल्ली
06. राय, लल्लन, तुलसीदास की साहित्य साधना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
07. सिंह, उदयभानु, तुलसीदास-काव्य-मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
08. शाही, वन्दना, तुलसीदास के साहित्य में लोक और शास्त्र, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी
09. फ़िलिप, वी.एन., मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
10. पोद्दार, हनुमान प्रसाद, रामचरितमानस (टीकाकार), गीताप्रेस, गोरखपुर
11. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : हिन्दी सगुणभक्ति-काव्य

इकाई – 5 : 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप, 'चित्रकूट सभा' का वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

2.5.0. उद्देश्य कथन
2.5.1. प्रस्तावना
2.5.2. 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप
  2.5.2.1. भक्ति का आलम्बन
  2.5.2.2. भक्ति की अवधारणा
  2.5.2.3. भक्ति का स्वरूप
2.5.3. 'चित्रकूट सभा' का वैशिष्ट्य
  2.5.3.1. चित्रकूट-प्रसंग
  2.5.3.2. 'चित्रकूट सभा' का आयोजन
  2.5.3.3. 'चित्रकूट सभा' का प्रतिपाद्य
2.5.4. पाठ-सार
2.5.5. बोध प्रश्न
2.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप और 'चित्रकूट सभा' के वैशिष्ट्य पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'अयोध्याकाण्ड' में वर्णित भक्ति के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
ii. राम-कथा में चित्रकूट-प्रसंग से अवगत हो सकेंगे।
iii. 'चित्रकूट सभा' के महत्त्वपूर्ण आयामों को समझते हुए 'चित्रकूट सभा' के वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।

2.5.1. प्रस्तावना

अपने कालजयी ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में तुलसीदास 'भक्ति' के माध्यम से शील, सौन्दर्य एवं कर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। तुलसी के यहाँ भक्ति मुक्ति का माध्यम नहीं है प्रत्युत वह एक जागतिक प्रयोजन है। वह अपने समय और अपनी आन्तरिक सीमाओं से जूझने की चेतना भी है और शक्ति भी है। रामराज्य के रूप में तुलसी एक वैकल्पिक संसार की कल्पना करते हैं तथा 'भक्ति' को शास्त्रीय अवधारणा से निकालकर मूल्य अवधारणा से सम्बद्ध करने का प्रयास करते हैं।

तुलसीदास की प्रसिद्धि मर्यादावादी रचनाकार के रूप में है। उनके आराध्य श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो प्रत्येक स्थिति में मर्यादा का निर्वाह करते हैं। रामकथा के अन्य सद्पात्र भी मर्यादित आचरण करते हैं और कभी अनैतिक कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। तुलसी की प्रबल मान्यता है कि लोकमर्यादा के पालन से ही समाज का कल्याण सम्भव है। भक्ति के लिए मर्यादित आचरण आवश्यक है। 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप विविधायामी है जहाँ धर्म की सांगोपांग व्याख्या के साथ ही भक्ति, लोकधर्म, मर्यादा-पालन और उदात्त वृत्तियों की आदर्श योजना प्रस्तुत हुई है।

तुलसी के मानस में 'चित्रकूट सभा' का भी अपना महत्त्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे आध्यात्मिक घटना कहा है। चित्रकूट की सभा में भारतीय संस्कृति अपने उदात्त रूप में सम्पूर्णता में प्रकट हुई है। 'चित्रकूट सभा' प्रसंग के माध्यम से तुलसी ने राजा का प्रजा के प्रति दायित्व, प्रजा का राजा के प्रति अथाह प्रेम और विश्वास, भाइयों का पारस्परिक प्रेम और त्याग, पुत्र का माताओं के प्रति श्रद्धाभाव, दोषी व्यक्ति को अपराध-बोध से मुक्त करना, पत्नी का पति के प्रति समर्पण और अनुगमन, पुत्रवधू का दायित्व-निर्वहन, ब्राह्मण और ऋषि वर्ग का आदर, अतिथि सेवा, मर्यादित आचरण, शालीन और गरिमापूर्ण वार्तालाप आदि अनेक आदर्शों द्वारा भारतीय जीवन-मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है।

2.5.2. 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप

उदारता, समन्वयशीलता और विवेक-चेतना 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' में वर्णित भक्ति के मूलाधार हैं। तुलसी की भक्ति शान्तमयी वैचारिक अनुभूति है। यह भेदभाव पर आधारित व्यवस्था को अभेद की तरफ ले जाने वाली प्रबल चेतना है। 'अयोध्याकाण्ड' में तुलसी ने भक्ति के जिस स्वरूप को स्वीकार किया है, वहाँ उनकी काव्य-चेतना में मानवीय अन्तर्वस्तु उपस्थित है। तुलसी की रामभक्ति अपनी विस्तृत फलक पर ज्ञानमार्ग से टकराती नहीं है अपितु उससे मिलती-जुलती है। उनकी भक्ति में न तो आडम्बर का आवरण है और न ही स्वार्थ की कोई जगह। उनकी भक्ति खुली है, सामाजिक है और भक्त के अन्तर्विवेक पर आधारित है। भक्ति की ऐसी समन्वयशीलता कबीर के यहाँ भी नहीं दिखती है। तुलसी की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ व्यापक चेतना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना तुलसी के ही विशाल मानस में सम्भव थी। तुलसी के राम तथा उनकी रामभक्ति का मूल आधार केवल भावना है, केवल प्रेम।"

2.5.2.1. भक्ति का आलम्बन

गोस्वामी तुलसीदास अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र को सामाजिक मर्यादा, मूल्यों और मानवीय नैतिकता से सम्बद्ध करते हैं और उनके प्रति भक्ति निवेदित करते हैं। वस्तुतः उनकी भक्ति का सन्दर्भ आध्यात्मिक नहीं है। वह तो सांसारिक परिस्थितियों से जूझते संघर्षशील व्यक्ति का आत्मनिवेदन है। यह भक्ति व्यक्ति को किसी दूसरे लोक में नहीं ले जाती बल्कि दूसरे लोक को बदलने और पुनर्गठित करने के विचार को प्रस्तावित करती है। तुलसी के

यहाँ भक्ति और संघर्ष के बीच गहरा रिश्ता है। उनकी भक्ति इस अराजक सामाजिक व्यवस्था में रहकर उसे आदर्श समाज में परिवर्तित के संघर्ष से सम्बन्धित है। 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का सन्दर्भ गहन है। वहाँ अपने स्वरूप में वह सकर्मक भक्ति है जिसमें कर्म की अवधारणा बहुत गहरी है। तुलसी की प्रबल धारणा है कि शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही ईश्वर हृदय में विचार कर फल देता है –

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥

– (अयोध्याकाण्ड)

कबीर और सूर की भक्ति में जो एकान्तिक तन्मयता है वह तुलसी के लिए अर्थहीन है। एकान्तिक तन्मयता के स्थान पर तुलसी परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए राम के प्रति अपनी भक्ति अर्पित करते हैं।

2.5.2.2. भक्ति की अवधारणा

तुलसी रामभक्ति-काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में राम के प्रति अनन्य भक्ति-भाव व्यक्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की भक्ति-भावना पर विचार करते हुए लिखा है – "गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है – उसकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं।" तुलसीदास अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त हैं। अपने इष्टदेव राम के प्रति तुलसी के मन में एकनिष्ठता, अनन्य प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास एवं गहरा भरोसा व्याप्त है। श्रद्धा और विश्वास उनकी भक्ति के मेरुदण्ड हैं। चातक को प्रेम और भक्ति का परम आदर्श मानते हुए तुलसी कहते हैं –

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

– (दोहावली)

तुलसी की भक्तिसाधना गुह्यसाधना नहीं है और न वह केवल उच्च वर्ण तक सीमित है। श्रेष्ठ-हीन, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष और सभी प्राणी उसके अधिकारी हैं। वह 'ईश्वर' केवल प्रेम को पहचानता है –

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जान निहारा॥

तुलसी ज्ञान और भक्ति में बुनियादी बैर नहीं स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति के विविध आयामों का विशद् निरूपण किया है। सामान्यतः ज्ञान को भक्ति के विरोध में देखने की परम्परा

रही है लेकिन तुलसी स्पष्ट करते हैं कि भक्ति और ज्ञान में कुछ भी भेद नहीं है। दोनों ही संसार से उत्पन्न क्लेशों को हर लेते हैं –

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

भक्ति के चरम पर पहुँचने पर भी तुलसी ने भक्ति के लोकपक्ष का कभी त्याग नहीं किया। इस सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "लोक संग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। ... यही कारण है कि इनकी भक्तिरस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं।"

तुलसी के आराध्य श्रीराम परमार्थस्वरूप परम ब्रह्म हैं। वे अविगत, अलख, अनादि, अनुपम, समस्त विकारों से रहित और भेदशून्य हैं। वेद 'नेति-नेति' कहकर उनका निरूपण करते हैं। 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥

तथा

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

ज्ञान और भक्ति दोनों मनुष्य को सरल एवं सहज बनाते हैं, आडम्बरों से मुक्त करते हैं। मानवीय भावबोध को जाग्रत करते हैं। तुलसी के लिए भक्ति का गन्तव्य केवल 'भक्ति' है और इस भक्ति को वे सम्पूर्ण तन्मयता के साथ उपलब्ध कराना चाहते हैं। भक्ति की संलग्नता को रूपायित करने के लिए तुलसी लौकिक प्रसंगों काउल्लेख करते हैं –

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

'गीता' में कृष्ण ने योग को ब्रह्म के रूप में रूपान्तरित किया है। भक्ति-दर्शन के सम्बन्ध में तुलसी भारतीय परम्परा के भक्ति-चिन्तन को स्वीकार करते हैं। तुलसी की दृष्टि में भक्ति का मूल प्रयोजन मनुष्य के सम्बन्धों एवं व्यवहारों का विस्तार है। भक्ति की प्रक्रिया और निष्पत्ति दोनों ही मनुष्य के ज्ञान को सम्भव बनाते हैं। तुलसी के यहाँ भक्ति निजी या वैचारिक प्रबुद्धता का आधार नहीं है। उनके सामाजिक दर्शन व भक्ति में बहुत गहरा सम्बन्ध है। तुलसी की भक्ति विषयक अवधारणा को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. तुलसी वैष्णव भक्त हैं इसलिए उनकी भक्तिभावना में वैष्णव भक्ति-संस्कारों का प्रभाव देखा जा सकता है।

ii. तुलसी भक्ति के लिए नामस्मरण और नामस्मरण के लिए सत्संग की पारस्परिकता को प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि में भक्ति का उदय स्वभावतः सत्संग का केन्द्र खोज लेता है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्री रामजी की कृपा के बिना वह सत्संग सहज में मिलता नहीं। सत्संगति आनन्द और कल्याण की जड़ है। सत्संग की सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है और सब साधन तो फूल हैं –

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

iii. तुलसी की भक्ति अपनी मूल प्रकृति में जीवन और व्यवस्था की अपर्याप्तताओं की पहचान और उसे दूर करने की साधना का पर्याय है।

iv. 'निर्मल ज्ञान' और 'विवेक' तुलसी की भक्ति के सैद्धान्तिक आधार हैं। ज्ञान की निर्मलता के बिना भक्ति मिथ्या हो जाती है।

v. तुलसी की भक्ति की सम्पूर्ण प्रवृत्ति सामाजिक है। उनके उपास्यदेव श्रीरामचन्द्र अधर्म और अनौचित्य से संघर्ष करते हुए वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों के प्रतिमान विकसित करते हैं। साथ ही उनकी भक्ति अपने आराध्य को व्यक्ति के सामाजिक सरोकारों से विशेषीकृत करने में निहित है।

vi. तुलसी के आलम्बन आन्तरिक साधना से नहीं अपितु आचरण की प्रामाणिकता और वृहत्तर जीवन में मानवीय भूमिका व व्यवहार से प्रसन्न होते हैं।

vii. तुलसी की भक्ति रहस्यवाद के प्रतिरोध में है। वह सभी प्रकार के अमूर्तवाद का विरोध करती है।

2.5.2.3. भक्ति का स्वरूप

तुलसी के उपास्यदेव राम सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। तुलसी अपने आराध्य के अप्रतिम रूप लावण्य पर मुग्ध हैं। तुलसी के हृदय में श्रीरामचन्द्र अपनी सहधर्मिणी जगज्जननी सीता जी के साथ विराजित रहते हैं। अपने हाथों में अमोघ बाण और सुन्दर धनुष लिए नीलकमल के समान श्यामवर्णी सुकुमार अंगों वाले श्रीरामचन्द्र अपने वाम भाग में विराजमान सीता जी के साथ सुशोभित हो रहे हैं। तुलसी रघुवंश के स्वामी श्रीरामचन्द्र को नमस्कार करते हैं –

नीलाम्बुजश्यामलकोमलांगं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥

– (अयोध्याकाण्ड)

शुचितासम्पन्न दिव्य प्रभु को अपने हृदय में अवस्थित करने के लिए हृदय-स्थान का भी उतना ही पवित्र होना आवश्यक है। तुलसी ने गुरु निर्देशित आचरण का पालन करके अपने मन और हृदय की कलुषताओं को नष्ट कर दिया है। भक्त जिस भाव से और जिस रूप में भगवान् को भजता है, भगवान् उसी रीति से उसके हृदय में प्रकट

होते हैं। तुलसी ने गुरु के चरण कमलों की रज से अपने मन रूपी दर्पण को साफ करके श्रीरघुनाथ के उस निर्मल यश का वर्णन किया है जो चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को देने वाला है –

श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥

– (अयोध्याकाण्ड)

'अयोध्याकाण्ड' में तुलसी ने केवट-प्रसंग के माध्यम से 'रामभक्ति' का माहात्म्य प्रकट किया है। शुद्ध सच्चिदानन्दकन्दस्वरूप सूर्यकुल के ध्वजारूप भगवान् श्रीरामचन्द्र मनुष्यों के सदृश ऐसे चरित्र करते हैं जो संसाररूपी समुद्र के पार उतरने के लिए पुल के सदृश हैं –

सुध्द सचिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥

तुलसी के आराध्य श्रीरामचन्द्र भक्तवत्सल हैं। एक बार जिनका नाम स्मरण करते ही मनुष्य अपार भवसागर के पार उतर जाते हैं और जिन्होंने जगत् को तीन पग से भी छोटा कर दिया था, वही कृपालु श्रीरामचन्द्र जी मानुषी-लीला करते हुए आज गंगा पार करने के लिए केवट से आग्रह कर रहे हैं–

जासु नाम सुमरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥

तुलसी की भक्ति दास्यभाव की भक्ति है। देवगुरु बृहस्पति भगवान् श्रीराम की भक्ति का गुणगान करते हुए देवराज इन्द्र को उपदेश देते हैं कि प्रभु श्रीराम को अपना सेवक परम प्रिय है और सेवक के साथ वैर करने से बड़ा भारी वैर मानते हैं। प्रभु श्रीराम अपने भक्त के दुःख से दुःखी होते हैं और 'भक्त' की सेवा को सुख मानते हैं। उनके इष्टदेव प्रभु श्रीराम हमेशा से अपने सेवकों की रुचि और हित की चिन्ता करते आए हैं। वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी हैं –

मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥

* * *

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥

पूरे 'मानस' में 'नवधा भक्ति' का पूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। 'अयोध्याकाण्ड' में इसका विशद् वर्णन मिलता है। नवधा भक्ति के अन्तर्गत भक्ति के नौ रूप – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आते हैं। ईश्वर की लीला, कथा, महत्त्व, शक्ति, स्रोत इत्यादि को परम श्रद्धा सहित अतृप्त मन से निरन्तर सुनना श्रवण भक्ति है। ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम आदि का आनन्द एवं उत्साह के साथ कीर्तन

करना कीर्तन भक्ति है। निरन्तर अनन्य भाव से परमेश्वर का स्मरण करना, उनके माहात्म्य और शक्ति का स्मरण कर उस पर मुग्ध होना स्मरण भक्ति है। ईश्वर के चरणों का आश्रय लेना और उन्हीं को अपना सर्वस्य समझना पादसेवन भक्ति है। मन, वचन और कर्म द्वारा पवित्र सामग्री से ईश्वर के चरणों का पूजन करना अर्चन भक्ति है। भगवान् की मूर्ति को अथवा भगवान् के अंश रूप में व्याप्त भक्तजन, आचार्य, ब्राह्मण, गुरुजन, माता-पिता आदि को परम आदर-सत्कार के साथ पवित्र भाव से नमस्कार करना या उनकी सेवा करना वन्दन भक्ति है। ईश्वर को स्वामी और अपने को दास समझकर परम श्रद्धा के साथ सेवा करना दास्य भक्ति है। ईश्वर को ही अपना परम मित्र समझकर अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर देना तथा सच्चे भाव से अपने पाप-पुण्य का निवेदन करना सख्य भक्ति है। अपने आपको भगवान् के चरणों में सदा के लिए समर्पित कर देना और कुछ भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना आत्मनिवेदन भक्ति है। यह भक्ति की सबसे उत्तम अवस्था मानी गई है। तुलसी ने अपने पात्रों के माध्यम से प्रसंगानुकूल नवधा भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया है। राम-शबरी प्रसंग में राम शबरी के समक्ष नवधा भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हैं –

नवधा भकति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

'राम नाम' की महिमा का प्रतिपादन तुलसी ने स्थान-स्थान पर किया है –

राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥

तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं जो समय-समय पर भक्तों और धर्म की रक्षार्थ तथा दुष्टों के दलनार्थ अवतार ग्रहण करते हैं। वे परम शक्तिशाली हैं, अत्यन्त शीलवान् हैं और करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सौन्दर्य-सम्पन्न हैं। वे अनादि, अविकारी परमब्रह्म सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं –

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहि जग जाल॥

'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति में निहित विनय की सात भूमिकाओं – दैन्य, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य एवं विचारणा का समावेश है। दैन्य नामक प्रथम भूमिका में भक्त अपने को तुच्छ एवं प्रभु को

महान् मानते हुए प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह अपने भक्त को शरण में अपना ले। जब भक्त अभिमान शून्य होकर अपने इष्टदेव के समीप जाने का सुनिश्चय करता है तो उसे मानमर्षता कहा जाता है। जीव को भय दिखाकर प्रभु की शरण में जाने के लिए प्रेरित करना भयदर्शना है। मन को डाँट-डपटकर सही मार्ग पर ले जाने का प्रयास जब भक्त करता है तो उसे भर्त्सना कहा जाता है। उदाहरणार्थ व्याकुल और दुःख-दीन हुए सुमन्त्र जी सोचते हैं–

अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥

श्रीरघुवर के बिना जीने को धिक्कार है। अन्ततः तो यह अधम शरीर नाशवान है। अभी श्रीरामचन्द्र के बिछुड़ते ही छूटकर इसने यश क्यों नहीं ले लिया–

सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥
रहिहि न अंतहुँ अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥

प्रभु के गुणों पर विश्वास करते हुए भक्त जहाँ अपने मन को आश्वस्त करता प्रतीत होता है, वहाँ आश्वासन नामक भूमिका है और जहाँ मन की कामनाओं की अभिव्यक्ति है वहाँ मनोराज्य नामक भूमिका है–

जनम मरन सब दु:ख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥

संसार के मायाजाल की जटिलता दिखाकर संसार से विरक्त होकर जब कोई भक्त भक्ति-भावना में लीन दिखाया जाता है तब वहाँ विचारणा नामक भूमिका होती है। 'अयोध्याकाण्ड' की निम्नलिखित चौपाइयों में इसी भूमिका को देखा जा सकता है –

पाप पुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

'अयोध्याकाण्ड' में अनेक प्रसंगों के माध्यम से भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। उन्होंने भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग की तुलना में सरल एवं सहज बताया है। उनकी भक्ति में उन एकादश आसक्तियों (रूपासक्ति, कान्तासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति, शरणागतवत्सलता, गुणमाहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति) को भी स्थान मिला है जिनका उल्लेख 'नारद भक्तिसूत्र' में किया गया है।

तुलसी की भक्तिपद्धति में शरणागत के छह प्रकार भी परिलक्षित होते हैं। यथा – अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व वरण, रक्षा का विश्वास, कारुण्य और आत्मनिक्षेप। 'अयोध्याकाण्ड' की निम्नलिखित पंक्तियों में तुलसी ने यह संकल्प व्यक्त किया है कि जो कोई भरत के चरित्र को नियम से आदरपूर्वक सुनेंगे, उनको अवश्य ही श्रीसीताराम के चरणों में प्रेम होगा और सांसारिक विषय रस से वैराग्य होगा–

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

भक्त तुलसीदास को प्रभु की भक्ति एवं सामर्थ्य पर अटल विश्वास है। वे जानते हैं कि प्रभु किसी भी सूरत में उनकी रक्षा करेंगे। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्रभु श्रीराम ने अपनी कृपा और भलाई से सदैव उनकी रक्षा की है, उनका भला किया है जिसके परिणामस्वरूप उनके दोष भी गुण के समान हो गए हैं तथा चारों ओर उनका यश फैल गया है। इसे 'रक्षा का विश्वास' कहा जाता है। 'अयोध्याकाण्ड' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

कृपाँ भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु च्हुँ ओर॥

इस प्रकार 'अयोध्याकाण्ड' में अनेक प्रसंगों के माध्यम से आध्यात्मिक दर्शन और भक्तिभावना का सुन्दर उद्घाटन किया गया है। 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति और दर्शन का स्वरूप वही है जो तुलसी के रामानुज सम्प्रदाय में मान्य रहा है। तुलसीदास ने 'अयोध्याकाण्ड' में एक तरह से भक्ति के माध्यम से श्रीरामचन्द्र का पुनराविष्कार किया है। तुलसी की भक्ति श्रीरामचन्द्र को फिर से खोजने का एक रचनात्मक प्रयास है। श्रीरामचन्द्र को खोजने का अर्थ एक अवतार को जानना ही नहीं है अपितु महान् मूल्यों को उद्घाटित करना भी है। 'अयोध्याकाण्ड' में धर्म, दर्शन और भक्ति के सुन्दर निदर्शन के साथ ही लोकव्यवहार, लोकमर्यादा, लोकरक्षा और लोक के आचार-विचार का समुचित निर्देश किया गया है।

2.5.3. 'चित्रकूट सभा' का वैशिष्ट्य

'चित्रकूट सभा' की वैचारिक संस्कृति के केन्द्र में राम हैं। राम हमारी वैचारिक संस्कृति की अखण्डता के केन्द्र में हैं। इस अखण्डता के साथ स्थानीयता की गहरी स्वीकृति दिखाई देती है। 'चित्रकूट सभा' के माध्यम से तुलसी ने कहीं-न-कहीं केन्द्र के समानान्तर 'परिधि' की महिमा को स्वीकार किया है। इस परिधि का स्वरूप राजनैतिक और पारिवारिक दोनों स्तरों पर व्याप्त है। तुलसी परिवार के अनुशासन में विश्वास रखने वाले रचनाकार हैं। वे सामाजिक-राजनैतिक अराजकता के कारणों को पारिवारिक संस्कारों के मूल में ढूँढने का सार्थक प्रयास करते हैं।

2.5.3.1. चित्रकूट-प्रसंग

'चित्रकूट प्रसंग' 'मानस' के मार्मिक प्रसंगों में से एक है जो 'अयोध्याकाण्ड' में नियोजित किया गया है। जिस समय श्रीराम को वनवास दिया गया, उस समय भरत और शत्रुघ्न अयोध्या में नहीं थे। कथानुसार महाराज दशरथ की मृत्यु के पश्चात् गुरु वशिष्ठ दूत भेजकर भरत को अयोध्या बुलवाते हैं। अयोध्या में आकर जब भरत को अपनी माता कैकेयी की करतूतों का पता चलता है तो वे आत्मग्लानि एवं दुःख के भाव से भर जाते हैं –

राम बिरोधी हृदय तें प्रकट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

भरत विचार करते हैं कि पिताजी स्वर्ग में हैं और श्रीराम वन में हैं। कैसी विडम्बना है कि केतु के समान केवल मैं ही इन सब अनर्थों का कारण हूँ। मुझे धिक्कार है। मैं बाँस के वन में आग सदृश उत्पन्न हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषों का प्रतिभागी बना –

पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

भरत को ऐसा महसूस हो रहा है कि अयोध्यावासी यह समझ रहे होंगे कि कैकेयी के इस कुकृत्य में भरत भी सम्मिलित हैं। आत्मग्लानि से वशीभूत होकर वे माता कौशल्या के समक्ष बार-बार दुहाई रहे हैं –

जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जों यहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जों जननी मत मोर॥
* * *
लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा॥
* * *
तजि श्रुतिपंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जों यहु जानौं भेऊ॥

भ्रातृप्रेम में विह्वल भरत श्रीराम को मनाने के लिए चित्रकूट गमन का विचार प्रस्तावित करते हैं। शोक समुद्र में डूबे हुए सबलोगों को भरत के इस विचार से बहुत बड़ा सहारा मिला –

अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥

2.5.3.2. 'चित्रकूट सभा' का आयोजन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चित्रकूट सभा' को एक आध्यात्मिक घटना कहा है। 'चित्रकूट सभा' में धर्म की उदात्त वृत्तियों की सुन्दर योजना की गई है। इस प्रसंग में भारतीय संस्कृति अपने उदात्त स्वरूप में सम्पूर्णता में प्रकट हुई है। तुलसी ने इस प्रसंग के माध्यम से राजा-प्रजा, भाई-भाई, पुत्र-माता, पति-पत्नी आदि विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। ज्ञानवानों का आदर, अतिथि-सत्कार,

मर्यादित आचरण, शालीन एवं गरिमापूर्ण वार्तालाप, नीति, स्नेह, शील, सदाचार, त्याग आदि भारतीय संस्कारों एवं मूल्यों को भी इस प्रसंग के माध्यम से रेखांकित किया गया है।

धर्मवान् राम का एक गुण उनका क्षमाशील होना भी है। वे सभी माताओं से प्रेमपूर्वक मिलते हैं किन्तु उनमें भी सबसे पहले कैकेयी से भेंट करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि कैकेयी पश्चात्ताप की अग्नि में जल रही हैं। अपने सरल स्वभाव तथा भक्ति से माता कैकेयी की बुद्धि को तर कर देते हैं। फिर उनके चरणों में गिरकर काल, कर्म और विधाता के सिर दोष मढ़कर उन्हें सान्त्वना देते हैं। इस प्रकार कैकेयी को अपराधबोध से मुक्त करते हैं। फिर श्रीरामचन्द्र सब माताओं से मिलते हैं उन्हें समझा-बुझाकर संतोष कराते हैं कि यह जगत् ईश्वर के अधीन है अतः किसी को भी दोष नहीं देना चाहिए –

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

भेटीं रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अंब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु॥

सीता पतिपरायणा स्त्री हैं। वे पूर्ण तन्मयता और समर्पण के साथ अपने पति का अनुगमन करती हैं और पुत्रवधू होने का दायित्व भी भली प्रकार निभाती हैं। अपनी पुत्री के शील-संस्कार देख उनके पिता जनक अत्यन्त हर्षित होते हैं। सभा में ब्राह्मण और ऋषि वर्ग के सम्मान की परम्परा को पुनर्प्रतिष्ठित किया गया है। वनवासी कौल-किरात उत्साहपूर्वक अतिथि-सत्कार करते हैं। 'चित्रकूट सभा' में सम्मिलित सभी सभासद अत्यन्त शालीन एवं गरिमापूर्ण ढंग से अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं। अयोध्या की प्रजा श्रीरामचन्द्र के प्रेम में उन्मत्त है। यदि राम अयोध्या नहीं लौट सकते तो प्रजा भी अयोध्या नहीं लौटना चाहती। वह अपने प्रिय श्रीरामचन्द्र के साथ चित्रकूट में ही चौदह वर्ष व्यतीत कर देगी किन्तु राम का वियोग उसे सह्य नहीं।

भरत सदृश भ्रातृभाव अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अयोध्या राज्य को अपने लिए स्वीकार करने से स्पष्ट मना कर दिया। वे कहते हैं कि यह राज्य श्रीरामचन्द्र का है और उन्हीं का रहेगा। भले ही पिताजी ने यह राज्य मुझे सौंपा हो परन्तु इसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता। श्रीरामचन्द्र ही अयोध्या के राजा हैं और उन्हें ही यह राज्य स्वीकार करना चाहिए। यदि किसी को वन जाना ही है तो मैं जाऊँगा, श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौटकर अपना राज-पाट संभालें। लोक में प्रायः देखा जाता है कि राज्य और सत्ता के लिए भाई-भाई आपस में संघर्ष करते हैं किन्तु तुलसी ने यहाँ त्याग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। न श्रीरामचन्द्र राज्य को स्वीकार कर रहे हैं और न ही भरत उसे स्वीकार कर रहे हैं। श्रीरामचन्द्र भरत को समझाते हुए कहते हैं कि हे तात ! मेरा और तुम्हारा परम पुरुषार्थ, सुयश, स्वार्थ, धर्म और परमार्थ इसी में है कि हम दोनों भाई पिताजी की आज्ञा का पालन करें। उनके व्रत की रक्षा से ही लोक और वेद दोनों का भला है –

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु॥
पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥

चित्रकूट में 'श्रीराम-भरत मिलाप' भ्रातृप्रेम, शील एवं सदाचार का अनुपम उदाहरण है। भ्रातृप्रेम में भावविह्वल हुए भरत श्रीरामचन्द्र को मनाने नंगे पैर जाते हैं। वे रथ पर बैठना स्वीकार नहीं करते और उनके पैरों में छाले पड़ गए हैं। सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होने पर भी वे उन्हें स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि जब मेरे प्रभु श्रीराम पैदल ही वन को गए हैं तो मुझे भी रथ में बैठने का कोई अधिकार नहीं है। भरत के चरणों में छाले वैसे चमकते हैं जैसे कमल की कील पर ओस की बूँदें चमकती हों –

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥
भरत पयादेहिं आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू॥

मार्ग में जब कोई व्यक्ति यह कह देता है कि हमने राम को वन में सकुशल देखा है, वह व्यक्ति उन्हें श्रीराम के समान ही प्रिय लगने लगता है –

जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लखन सम लेखे॥
एहि बिधि बूझत सबहिं सुबानी। सुनत राम बनवास कहानी॥

चित्रकूट में जब लक्ष्मण ने भरत को सेना सहित आते हुए देखा तो समझा कि ये श्रीराम पर आक्रमण करने आये हैं। उस अवसर पर लक्ष्मण का क्रोध, श्रीराम के प्रति उनके भक्तिभाव को प्रदर्शित करता है –

आज राम सेवक जसु लेउँ। भरतहिं समर सिखावन देउँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥

श्रीरामचन्द्र को भरत के शील एवं स्वभाव पर सन्देह नहीं है। लक्ष्मण के क्रोध को शान्त करते हुए वे कहते हैं – हे लक्ष्मण ! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्मा की सृष्टि में न तो कहीं सुना गया है न देखा ही गया है। अयोध्या के राज्य की तो बात ही क्या है; ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पद पाकर भी भरत को राज्य का मद नहीं हो सकता ! क्या कभी काँजी की बूँदों से क्षीरसमुद्र नष्ट हो सकता है, फट सकता है ? अन्धकार चाहे मध्याह्न के तरुण सूर्य को निगल जाए; आकाश चाहे बादलों में समाकर मिल जाए; चाहे गौ के खुर-जितने जल में अगस्त्य डूब जाएँ और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा, सहनशीलता को छोड़ दे; मच्छर की फूँक से चाहे सुमेरु उड़ जाए; परन्तु हे भाई ! भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता। हे लक्ष्मण ! मैं तुम्हारी शपथ और पिता की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि भरत के समान पवित्र और उत्तम भाई संसार में नहीं है। हे तात ! गुरुरूपी दूध और अवगुणरूपी जल को मिलाकर विधाता इस दृश्य-प्रपंच जगत् को रचता है, परन्तु भरत ने सूर्यवंशरूपी तालाब में हंसरूप जन्म लेकर गुण और दोष का विभाग कर दिया, दोनों को अलग-अलग कर दिया। गुणरूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुणरूपी जल को त्यागकर भरत ने अपने यश से जगत् में उजियाला कर दिया है। भरत के गुण, शील और स्वभाव को कहते-कहते रघुनाथ प्रेमसमुद्र में मग्न हो गए –

सुनहू लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुण बारी। निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

2.5.3.3. 'चित्रकूट सभा' का प्रतिपाद्य

'चित्रकूट सभा' में अनेक श्रेष्ठजन एक साथ उपस्थित थे। वहाँ आचरित धर्म के व्यापक एवं विस्तृत स्वरूप को देखकर सामान्यजन मोहित हो गए। 'चित्रकूट सभा' में राम, भरत, जनक, वशिष्ठ आदि द्वारा धर्म, नीति, भ्रातृप्रेम, स्नेह एवं त्याग का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सभा में उपस्थित सभासदों का प्रबल आग्रह है कि श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट चलें किन्तु श्रीराम इस प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देते हैं। तथापि वे वशिष्ठ, विश्वामित्र, महाराज जनक आदि धर्मज्ञों के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए बड़ी शालीनता से यह भी कहते हैं कि आप गुरुजन जो निश्चय करेंगे, वह सभी को स्वीकार होगा –

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥

इसी प्रकार के विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से 'चित्रकूट सभा' में भारतीय संस्कृति और परम्परा के उदात्त स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। 'चित्रकूट सभा' का प्रतिपाद्य निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

i. राजा और प्रजा का आदर्श सम्बन्ध यहाँ देखने को मिलता है। अयोध्या की प्रजा राम से इतना स्नेह करती है कि उन्हें मनाने के लिए भरत के साथ चित्रकूट तक आयी है –

नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥

ii. भरत के भ्रातृ-स्नेह की अद्भुत झलक 'चित्रकूट सभा' में वर्णित है। भरत के स्वाभाविक ही सच्चे और सरल वचनों को सुनकर माता कौशल्या कहती हैं – हे तात ! तुम तो मन, वचन और शरीर से

सदा ही राम के प्यारे हो। राम तुम्हारे प्राणों से भी बढ़कर प्राण (प्रिय) हैं और तुम भी रघुनाथ को प्राणों से भी अधिक प्यारे हो –

मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥

iii. ऋषि एवं गुरु के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट करने के भय से राम और भरत अपना मत व्यक्त करते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। उदाहरण देखिए –

तब मुनि बोले भरत सन सब संकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात॥

iv. श्रीराम का सभी माताओं, विशेषतः कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलना उनकी निश्छलता का प्रतीक है। वे सबसे पहले कैकेयी से मिलते हैं और फिर उनके चरणों में गिरकर काल, कर्म और विधाता के सिर दोष मढ़कर उन्हें सांत्वना देते हैं –

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

v. सीता के सदाचरण को देखकर जनक यह कहकर उनकी प्रशंसा करते हैं –

पुत्रि पबित्र किए कुल दोउ। सुजस धवल जगु कह सबु कोउ॥

vi. सीता का शील, संकोच एवं उनकी पतिपरायणता उनकी उदात्तता की परिचायक है। माता के पास बैठी सीता को जब देर हो जाती है तो वे असमंजस में पड़कर सोचती हैं –

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥
लखि रुख रानि जनायउ राउ। हृदयँ सराहत सीलु सुभाउ॥

vii. सीता अपनी सासु माताओं की सेवा करके वधू-धर्म का निर्वाह करती हैं।

viii. चित्रकूट प्रसंग में 'त्याग' का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। अयोध्या के राज्य को न भरत स्वीकार करते हैं और न श्रीराम उसे लेने को तैयार हैं।

ix. सभा में यह निर्णय होता है कि श्रीराम ही अयोध्या के राजा होंगे। उनकी अनुपस्थिति में भरत श्रीराम के प्रतिनिधि के रूप में अयोध्या की व्यवस्था देखेंगे। भरत श्रीराम की चरणपादुका माँगकर उन्हें आदरपूर्वक अपने सिर पर धारण कर लेते हैं –

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

चरणपादुका मिल जाने से भरत परम आनन्दित हैं। करुणानिधान राम के दोनों खड़ाऊँ प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिए मानों दो पहरेदार हैं। भरत के प्रेमरूपी रत्न के लिए मानों डिब्बा है और जीव के साधन के लिए मानों राम-नाम के दो अक्षर हैं। रघुकुल की रक्षा के लिए दो किवाड़ हैं। कुशल श्रेष्ठ कर्म करने के लिए दो हाथ की भाँति सहायक हैं। और सेवारूपी श्रेष्ठ धर्म के सुझाने के लिए निर्मल नेत्र हैं। भरत इस अवलम्ब के मिल जाने से परम आनन्दित हैं। उन्हें ऐसा ही सुख हुआ, जैसा सीताराम के रहने से होता।

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें ॥

अयोध्या आकर भरत चरणपादुका को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर श्रीरामचन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्य का संचालन करते हैं। भरत नंदिग्राम में तपस्वी के वेश में रहकर स्वयं भी वही कष्ट उठाते हैं जो श्रीराम वन प्रवास में रहकर भोग रहे हैं। वे प्रतिदिन प्रभु श्रीराम की चरणपादुकाओं का पूजन करते हैं और पादुकाओं की आज्ञा से ही राजकाज के समस्त कार्यों का निर्वहन करते हैं –

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

2.5.4. पाठ-सार

भक्ति सभी के लिए सरल व सुलभ है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति के कई रूप और कई भेद बताए हैं। जैसे – अनपायनी भक्ति, प्रेम-भक्ति, अविरल भक्ति, विमल भक्ति, परम विशुद्ध भक्ति, सत्य-प्रेम, गूढ़ प्रेम, सहज स्नेह भक्ति, नवधा भक्ति इत्यादि। 'अयोध्याकाण्ड' की भक्ति सर्वग्राह्यता के सिद्धान्त पर आधारित है। तुलसी अपनी भक्ति में कभी मोक्ष की बात नहीं करते। ज्ञानियों की भक्ति अभेद्य भक्ति है जबकि तुलसी की भक्ति भेदभक्ति है। भेदभक्ति में भक्त सेवक की भाँति प्रभु के चरणों की निरन्तर सेवा करना चाहता है। उनसे एकत्व नहीं चाहता, उनमें लीन नहीं होना चाहता प्रत्युत वैकुण्ठ में, साकेत लोक में उनका सामीप्य चाहता है। तुलसी सालोक्य, सामीप्य, सायुध्य आदि रूपों में भक्ति की महिमा प्रतिष्ठित करते हैं। तुलसी के ब्रह्म पारलौकिक उतना नहीं है जितना कि लौकिक हैं। इसी लोक में उनका रूप व्याप्त है। उन्हें साधने का अर्थ है इस लोक को साधना। ग्रियर्सन के अनुसार "भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करना जानता हो।" तुलसी का 'मानस' समन्वय की विराट चेष्टा है। अपनी युग की आवश्यकताओं के अनुरूप तुलसी ने समन्वय का प्रयास किया है। उन्होंने द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण, विद्या-अविद्या, माया-जीव का भेद-अभेद, कर्म-ज्ञान-भक्ति, ब्राह्मण-शूद्र, शैव-शाक्त-वैष्णव समाज-संस्कृति संगम के साथ-साथ भावपक्ष और कलापक्ष का भी समन्वय किया है।

'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति का स्वरूप समन्वयवादी एवं मंगलकारी है। 'चित्रकूट प्रसंग' में मानवजीवन का पूरा आदर्श समाया हुआ है जहाँ रचनाकार ने एक ओर अत्यन्त विशाल फलक पर भाव-योजना की अभिकल्पना की है, वहीं उसे अत्यन्त निपुणता के साथ सजाया-सँवारा भी है। 'चित्रकूट प्रसंग' में भक्तितत्त्व तो है ही, साथ ही पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान भी सम्पूर्णता में निहित है।

2.5.5. बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. तुलसी की भक्ति का स्वरूप है –

(क) दास्य भक्ति
(ख) सख्य भक्ति
(ग) माधुर्य भक्ति
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. तुलसी के अनुसार भक्ति-प्राप्ति के लिए आवश्यक है –

(क) ज्ञान
(ख) ध्यान
(ग) सत्संग
(घ) उपर्युक्त सभी

3. तुलसी की भक्ति में शरणागति के कितने प्रकार उपलब्ध होते हैं?

(क) चार
(ख) पाँच
(ग) छह
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. 'चित्रकूट सभा' का नियोजन 'मानस' के किस काण्ड में हुआ है?

(क) बालकाण्ड
(ख) अयोध्याकाण्ड
(ग) सुन्दरकाण्ड
(घ) लंकाकाण्ड

5. 'चित्रकूट सभा' का कथानक है –

(क) राजा-प्रजा का सम्बन्ध

(ख) सदाचार एवं त्याग

(ग) धर्म और संस्कार

(घ) उपर्युक्त सभी

टिप्पणी लिखिए –

1. नवधा भक्ति।
2. 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति की अवधारणा।
3. 'चित्रकूट सभा' का प्रसंग।
4. 'चित्रकूट सभा' का आयोजन।
5. तुलसी की भक्ति-पद्धति में 'शरणागति' की अभिव्यंजना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "तुलसी की भक्ति में धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति है।" 'अयोध्याकाण्ड' में भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।
2. तुलसी की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए 'चित्रकूट सभा' के वैशिष्ट्य को उद्घाटित कीजिए।

2.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. शुक्ल, रामचन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
02. तिवारी, रामजी, तुलसीदास, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
03. दीक्षित, राजपति, तुलसीदास और उनका युग, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस
04. सिंह, वासुदेव, (सम्पादक) तुलसीदास, अभिव्यक्ति प्रकाशन, नयी दिल्ली
05. राय, लल्लन, तुलसीदास की साहित्य साधना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
06. सिंह, उदयभानु, तुलसीदास-काव्य-मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
07. शाही, वन्दना, तुलसीदास के साहित्य में लोक और शास्त्र, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी
08. फ़िलिप, वी.एन., मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
09. पोद्दार, हनुमान प्रसाद, रामचरितमानस (टीकाकार), गीताप्रेस, गोरखपुर
10. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

❖❖❖

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 1 : केशव का आचार्यत्व, केशव का संवाद-सौष्ठव, केशव की हृदयहीनता

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य कथन
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. केशव का आचार्यत्व
  3.1.2.1. काव्यदोष वर्णन
  3.1.2.2. कविभेद वर्णन
  3.1.2.3. कविरीति वर्णन
  3.1.2.4. अलंकार वर्णन
  3.1.2.5. रस विवेचन
  3.1.2.6. नायक-भेद वर्णन
  3.1.2.7. नायिका-भेद वर्णन
3.1.3. केशव का संवाद-सौष्ठव
  3.1.3.1. पात्रानुकूलता
  3.1.3.2. वाक्पटुता एवं संक्षिप्तता
  3.1.3.3. भाषायी प्रयोग
  3.1.3.4. राजनीति
  3.1.3.5. विनम्रता
  3.1.3.6. नाटकीयता
3.1.4. केशव की हृदयहीनता
3.1.5. पाठ-सार
3.1.6. बोध प्रश्न
3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रीतिकालीन काव्यधाराओं के अन्तर्गत रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यधारा को समझ सकेंगे।
ii. रीतिकालीन कवियों में केशवदास का महत्त्व जान सकेंगे।
iii. केशवदास के आचार्यत्व से परिचित हो सकेंगे।
iv. केशवदास के संवाद-सौष्ठव का वैशिष्ट्य समझ सकेंगे।
v. आलोचकों द्वारा विवेचित केशवदास की हृदयहीनता के पक्ष पर विचार कर सकेंगे।

3.1.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में वि.सं. 1700 से वि.सं. 1900 अर्थात् सन् 1643 ई. से सन् 1843 ई. तक का कालखण्ड कवियों की रचनाओं में 'रीतितत्त्व' की प्रधानता के कारण 'रीतिकाल' के नाम से जाना जाता है। यही रीतितत्त्व इसके नामकरण का भी मुख्य आधार था। रीतिकाल के अतिरिक्त इसके लिए अलंकृतकाल, शृंगारकाल, कलाकाल, उत्तर मध्यकाल जैसे विविध नामों को भी विद्वानों ने प्रयुक्त किया है। 'रीति सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य वामन ने रीति को व्याख्यायित करते हुए 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' अर्थात् एक विशेष प्रकार की रचना को रीति कहा जिसमें वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति के अन्तर्गत ओज, प्रसाद और माधुर्य जैसे काव्यगुणों की चर्चा की। परन्तु रीतिकाल के अन्तर्गत रीति का सम्बन्ध काव्यांग-निरूपण से है जिसमें कवियों ने काव्य के विविध अंगों को लाक्षणिक शैली में निरूपित किया है। इसी लाक्षणिकता के कारण कवियों की रचनाओं को लक्षण-ग्रन्थ भी कहा गया। रीतिकाल में रचनाओं की दृष्टि से कवियों ने मुख्यतः तीन तरह के काव्य रचे – (i) रीतिबद्ध, (ii) रीतिसिद्ध तथा (iii) रीतिमुक्त।

रीतिबद्ध काव्य-परम्परा में वे कवि आते हैं जिन्होंने काव्यांगों का उचित निर्वाह करते हुए उदाहरणों के लाक्षणिक प्रयोग के साथ रीति-ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों का मुख्य उद्देश्य अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन था। इनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम आदि रीतिकवियों का उल्लेख किया जाता है।

रीतिसिद्ध काव्य का सम्बन्ध उन कवियों से है जिन्हें रीतितत्त्व की यथेष्ठ जानकारी तो थी लेकिन इन्होंने रीतिग्रन्थ नहीं लिखे। यद्यपि अपनी रचनाओं में उन्होंने रीति का निर्वाह अवश्य ही किया है। रीतितत्त्व में प्रवीणता के कारण इन्हें रीतिसिद्ध कवि कहा गया। बिहारी रीतिसिद्ध काव्यधारा के सबसे सशक्त कवि हैं। इन्होंने रीति ग्रन्थ नहीं लिखे। इनकी एकमात्र रचना 'सतसई' में काव्यांगों के सभी तत्त्व विद्यमान हैं इसीलिए बिहारी के सम्बन्ध में 'गागर में सागर' भरने की बात कही जाती है।

रीतिमुक्त काव्य का सम्बन्ध उन रीति कवियों से है जिन्होंने रीति के बन्धनों से मुक्त होकर काव्य-सृजन किया। इन्होंने रीतितत्त्व की जानकारियों का उपयोग न तो अपनी रचनाओं में किया और न ही इन्होंने कोई रीति अथवा लक्षण-ग्रन्थ लिखे। किसी विशेष धारा से आबद्ध न होते हुए इन कवियों ने हृदय की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। रीति की इसी मुक्ति के कारण इन कवियों को रीतिमुक्त कवि कहा गया। घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि रीतिमुक्त काव्यधारा से सम्बद्ध कवि हैं।

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य तीन प्रकार की धाराओं में प्रवाहित होता रहा। रीतिकालीन कवियों में केशवदास का नाम सर्वोपरि है। यद्यपि रीति परम्परा के स्रोत केशवदास से पहले भी विद्यमान थे तथापि केशवदास की रचनाओं में सबसे पहले काव्यांगों का काव्यशास्त्रीय निर्वहन हुआ। रीतिकाव्य के शास्त्रीय विवेचन में पाण्डित्य की अपेक्षा की जाती थी जिसे केशव-पूर्व कवि पूर्ण नहीं कर पाए। हिन्दी साहित्य में संस्कृत के आचार्यों उद्भट, भामह और दण्डी के काव्यादर्शों का व्यापक विश्लेषण केशवदास ने अपने काव्य में किया इसीलिए

केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक तथा प्रथम आचार्य माना जाता है। केशवदास के पाण्डित्य, उनके आचार्यत्व तथा रीतिकाल में उनके महत्त्व को प्रायः सभी आलोचकों ने एक मत से स्वीकार किया है। प्रस्तुत पाठ में हम केशवदास की काव्यकला, उनके काव्य के भावपक्ष के साथ उनके आचार्यत्व के विषय में अध्ययन करेंगे।

3.1.2. केशव का आचार्यत्व

हिन्दी साहित्य में यूँ तो केशवदास के पहले काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों को लेकर अलग-अलग कार्य हुए किन्तु काव्यशास्त्र के सभी अंगों को मिलाकर उनका सांगोपांग निरूपण आचार्य केशवदास द्वारा ही हुआ। उनके आचार्यत्व को लेकर उनके तीन रीतिग्रन्थ प्रसिद्ध हैं – (i) कविप्रिया, (ii) रसिकप्रिया और (iii) छन्दमाला। 'कविप्रिया' अलंकारों से, 'रसिकप्रिया' रस से और 'छन्दमाला' छन्द से सम्बन्धित रचना है। केशवदास को आचार्यत्व प्रदान करने में 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' का विशेष योगदान है।

'कविप्रिया' ग्रन्थ में सोलह प्रभाव हैं। इसके पहले प्रभाव का प्रारम्भ केशवदास ने गणेश वन्दना से करते हुए आगे नृपवंश का वर्णन किया है। दूसरे प्रभाव में केशवदास ने अपने वंश का उल्लेख किया है। तीसरे प्रभाव में काव्यदोष तथा गण-अगण का वर्णन कवि ने किया है और यहीं से मुख्यतः ग्रन्थ की शुरुआत होती है। इसी शृंखला में क्रमशः कवि ने कविभेद, कविरीति, कविप्रसिद्धि का वर्णन किया है। पाँचवें प्रभाव में अलंकार भेद, छठे से लेकर आठवें प्रभाव तक विभिन्न वर्ण्य-विषयों का उल्लेख है तो वहीं नौवें से लेकर चौदहवें प्रभाव तक विविध अलंकारों का उल्लेख हुआ है। पन्द्रहवें प्रभाव में नायिका के नख-शिख वर्णन के साथ विभिन्न उपमाओं का निरूपण किया गया है। साथ ही यमक और उसके भेदों का वर्णन भी इस प्रभाव में हुआ है। अन्तिम सोलहवें प्रभाव में केशवदास ने चित्रकाव्य और उसके भेद का उल्लेख किया है। कुल मिलाकर देखें तो 'कविप्रिया' में अन्य काव्यांगों की अपेक्षा कवि ने अलंकारों पर विशेष ध्यान दिया है।

'रसिकप्रिया' ग्रन्थ में भी सोलह प्रभाव हैं। इसमें केशवदास ने विभिन्न रसों एवं नायिकाभेद का विषद् वर्णन किया है। प्रथम प्रकाश में मंगलाचरण से प्रारम्भ करते हुए रस निष्पत्ति का विवेचन किया गया है। इसके बाद क्रमशः नायकभेद उपरान्त नायिकाभेद, नायक-नायिकाओं की चेष्टाओं, भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, शृंगार भेद, मान के भेद, मान लोचन के उपायों, सखियों के भेद, उनके कार्यों का वर्णन करते हुए चौदहवें प्रकाश में शेष आठ रसों का विश्लेषण किया गया है। पन्द्रहवें प्रकाश में भिन्न-भिन्न वृत्तियों के उल्लेख के साथ अन्तिम सोलहवें प्रकाश में काव्यदोष का वर्णन किया गया है है। संक्षेप में कवि ने यहाँ विभिन्न रसों की विवेचना अवश्य की है किन्तु विभिन्न वर्णनों में शृंगार निरूपण को ही अधिक प्रधानता मिली है। वास्तव में केशवदास ने इस ग्रन्थ में रस-रीति के माध्यम से मूल रूप से नायक-नायिकाभेद को प्रस्तुत किया है। इसे नायक-नायिकाभेद पर आधारित ग्रन्थ भी कहा जा सकता है।

दो भागों वाली रचना 'छन्दमाला' में केशवदास ने भाषा-कवियों को शिक्षा देने की दृष्टि से पहले भाग में 77 वर्णवृत्त तथा दूसरे भाग में 26 मात्राओं वाले वर्णिक छन्दों के लक्षण उदाहरण सहित प्रस्तुत किए हैं। इसके

साथ ही इसमें रस-अलंकार दोष और उनकी वृत्ति का व्यापक विवेचन प्रस्तुत करने के लिए भानुदत्त की रसमंजरी, रसतरंगिणी, अलंकार शेखर, काव्यादर्श, उज्ज्वल नीलमणि, शृंगार तिलक जैसे ग्रन्थों को आधार बनाकर अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया। इस प्रकार यह रचना छन्दों पर आधारित रही।

केशवदास की रचनाओं के अनुरूप उनके आचार्यत्व का विवेचन करने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर अध्ययन किया जा सकता है – काव्यदोष वर्णन, कविभेद वर्णन, कविरीति वर्णन, अलंकार वर्णन, रस विवेचन, नायक-भेद वर्णन, नायिका-भेद वर्णन।

3.1.2.1. काव्यदोष वर्णन

काव्य में दोष को लेकर केशवदास बेहद गम्भीर रहे हैं। उनकी मान्यता थी कि किंचित दोष के कारण भी सम्पूर्ण काव्य दूषित हो सकता है । जैसे गंगाजल में मदिरा की अल्पतम मात्रा का समावेश भी उसे अपवित्र कर देता है। केशवदास ने पाँच प्रकार के काव्यदोषों की चर्चा की है। अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। काव्य के मूल प्रतिपाद्य अथवा उद्देश्यों के विपरीत वर्णन करने से काव्य में अन्ध दोष उत्पन्न होता है। शब्द विरोधी वर्णन से बधिर तो छन्द भंग वाला वर्णन काव्य में पंगु दोष उत्पन्न करता है। अलंकारहीनता काव्य में नग्न दोष उत्पन्न करती है तो अर्थहीन काव्य मृत होता है। इसका समुचित वर्णन उन्होंने कविप्रिया के तृतीय प्रभाव में किया है। वे लिखते हैं –

अन्ध बधिर अरु पंगु तजि, नग्न मृतक मतिशुद्ध
अन्ध विरोधी पंथ को, बधिर सु शब्द विरुद्ध।
छन्द विरोधी पंगु गनि, नग्न जु भूषण हीन
मृतक कहावै अर्थ बिनु, केशव सुनहु प्रवीन॥

- कविप्रिया, तृतीय प्रभाव, छठा छन्द

3.1.2.2. कविभेद वर्णन

कविप्रिया के चौथे प्रभाव में केशवदास ने कविभेद का वर्णन करते हुए कवियों की तीन कोटियाँ बतायी हैं – (i) उत्तम, (ii) माध्यम और (iii) अधम। इसी के अनुरूप उनकी बौद्धिकता भी होती है। कविभेद को स्पष्ट करते हुए केशवदास ने उत्तम कवि भक्तकवियों अर्थात् ईश्वर का गुणगान करनेवाले कवियों को माना है जबकि सामान्य मनुष्य का चरित्र-चित्रण करने वाले कवि मध्यम कवि की कोटि में आते हैं वहीं सतत परनिन्दा करने वाले कवि अधम कवियों की श्रेणी में आते हैं। वे कहते हैं –

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रसलीन,
मध्यम मानत मानुपनि, दोपनि अधम प्रबीन।

– कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव

3.1.2.3. कविरीति वर्णन

कविरीति वर्णन करते हुए केशवदास ने सत्य का असत्य वर्णन, असत्य का सत्य वर्णन तथा कुछ बातों को काल्पनिक नियमानुसार साम्प्रदायिक तरीके से वर्णित करना इन तीन बातों का मुख्यतः उल्लेख किया है। कविरीति वर्णन करने में केशवदास ने 'अलंकारशेखर' का सहारा लिया है क्योंकि केशवदास ने जिन बातों का उल्लेख कविरीति वर्णन में किया उनके उदाहरण 'अलंकारशेखर' में बहुतायत मात्रा में प्राप्त होते हैं। केशवदास कहते हैं –

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि,
एकनि बरनै नियमकै, कबिमत त्रिबिध बखानि।

– कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द 4

सत्य का असत्य वर्णन करने का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं –

केशवदास प्रकाश बहु चन्दन के फल फूल,
कृष्ण पक्ष की जोन्ह ज्यों शुक्ल पक्ष तमतूल।

– कविप्रिया, चतुर्थ प्रभाव, छन्द 5

3.1.2.4. अलंकार वर्णन

केशव के काव्य में उनकी अलंकारप्रियता को देखा जा सकता है। प्रायः इसी कारण उन्हें अलंकारवादी कवि भी कहा जाता रहा है। अलंकर वर्णनों में केशव ने भामह और दण्डी की परम्परा का अनुसरण किया है। केशव ने अलंकारों के दो भेद बताए हैं– (i) सामान्य और (ii) विशिष्ट। सामान्य अलंकारों को उन्होंने चार भागों में वर्गीकृत किया – i. वर्णालंकार, ii. वणर्यालंकार, iii. भूमिश्री-वर्णन, iv. राज्यश्री-वर्णन।

वर्णालंकार के अन्तर्गत 'कविप्रिया' के पाँचवें प्रभाव में केशवदास ने रंग ज्ञान की जानकारी दी है। इसके माध्यम से केशवदास ने कवियों को विभिन्न वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होने वाले रंगों की शिक्षा दी है। यानी किस वस्तु के वर्णन में किस रंग का प्रयोग करना चाहिए। वे जरा के लिए श्वेत, कुवलय के लिए नीले, बाल रवि के लिए अरुण, पाप के लिए काले, वीर रस के लिए पीले और कपोत के लिए धूम्र वर्ण का वर्णन उचित मानते हैं –

सेत पीत कारे अरुण, धूमर नीले वर्ण,
मिश्रित केशवदास कहि, सात भांत शुभकर्ण।

– कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव

वणर्यालंकार का वर्णन छठे प्रभाव में मिलता है। वणर्य उसे कहते हैं जहाँ किसी आकृति का गुण लेकर कोई बात अथवा उक्ति कही जाए। यहाँ केशवदास ने कवियों को इस बात की शिक्षा दी है कि किन वस्तुओं को किस आकार में वर्णित करना चाहिए।

भूमिश्री का वर्णन सातवें प्रभाव में है जिसमें केशवदास ने यह बताया है कि कवियों को किसी प्राकृतिक वस्तु का वर्णन करते समय उनके वर्णन में कौन-सी विशेषताओं का वर्णन करना चाहिए। केशवदास भूतल के प्राकृतिक दृश्यों के कविता में वर्णन को ही भूमि-भूषण कहते हैं। भूमि-भूषण का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं –

देश, नगर, बन, बाग़, गिरि, आश्रम सरिता ताल,
रवि, शशि, सागर, भूमि के, भूषण ऋतु सबकाल।

– कविप्रिया, सातवाँ प्रभाव

राज्यश्री का वर्णन आठवें प्रभाव में किया गया है। जहाँ केशवदास ने कवियों को राज्मन्त्र्यादि के वर्णन की शिक्षा दी है। इस प्रभाव में वे राजा, रानी, मंत्री, मंत्रीगण, हय (अश्व), गज (हाथी) आदि का वर्णन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा 'अलंकारशेखर' का आधार लेकर केशव ने काव्य की दृष्टि से वर्ण्य वस्तुओं के चार भाग कर दिए हैं। इसके उपरान्त नौवें से लेकर चौदहवें प्रभाव तक विशिष्टालंकार का वर्णन मिलता है जिसमें कवि ने प्रचलित अलंकारों का उल्लेख किया है। यहाँ केशवदास ने कुल सैंतीस अलंकारों पर विचार किया है जिसके लिए कवि ने रुय्यक, दण्डी, भामह और उद्भट जैसे आचार्यों का आधार लिया है। उल्लेखनीय बात यह है कि केशव ने प्राचीन अलंकारों का यथावत अनुकरण ही नहीं किया अपितु उसमें गम्भीर शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ यथावश्यकता परिवर्तन भी किया है। इसके बाद पन्द्रहवें प्रभाव में नख-शिख वर्णन के माध्यम से उपमा का निरूपण और यमक के भेदों पर चर्चा की है तथा सोलहवें अध्याय में चित्रकाव्य के भेदों का उल्लेख कवि ने किया है।

3.1.2.5. रस विवेचन

'रसिकप्रिया' केशवदास को आचार्यत्व प्रदान करने वाला दूसरा ग्रन्थ है जिसमें केशवदास ने रस के विविध अंगों, उसकी वृत्तियों और काव्यदोषों का वर्णन किया है लेकिन यहाँ कवि ने शृंगार-निरूपण को प्रधानता दी है। शृंगार-निरूपण के माध्यम से कवि मूलतः नायक-नायिका भेद को वर्णित करना चाहता है। सोलह प्रकाश वाले इस ग्रन्थ में मंगलाचरण के बाद संयोग और वियोग शृंगार का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकाश में नायक-भेद की चर्चा की गई है। तीसरे प्रकाश में जाति, कर्म, अवस्था और मान के अनुरूप नायिकाओं के भेद की चर्चा है। चौथे प्रकाश में चार प्रकार के दर्शनों का उल्लेख हुआ है। पाँचवाँ प्रकाश नायक-नायिकाओं की विभिन्न चेष्टाओं का उल्लेख करता है। छठवें प्रकाश में रसनिष्पति के विभिन्न तत्त्वों की चर्चा की गई है। सातवें प्रकाश में फिर काल और गुणानुसार नायक-नायिका के भेद की चर्चा की गई है। आठवें प्रकाश में वियोग शृंगार के अन्तर्गत विभिन्न विरह दशाओं का वर्णन हुआ है तो नौवें प्रकाश में मान के भेदों की चर्चा कवि ने की है। दसवें प्रकाश में मानमोचन, ग्यारहवें में वियोग शृंगार के भेद, बारहवें में सखियों के भेद, तेरहवें में सखियों के कर्म, चौदहवें में अन्य आठ रसों का वर्णन, पन्द्रहवें में वृत्तियों का वर्णन तथा अन्तिम सोलहवें प्रकाश में काव्यदोषों का वर्णन केशवदास ने किया है।

केशव सभी रसों की अपनी सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें विशिष्ट अर्थ में ही काव्य की आत्मा मानते हैं। इसीलिए वे चित्रकाव्य को काव्य की कोटि में देखते हैं भले ही वह नीरस हो और अर्थहीन काव्य को वे मृतक भी कहते हैं। रसिकप्रिया के पहले प्रकाश में वे रसनिष्पत्ति का विवेचन आचार्य भरत के समान ही करते हुए दिखाई देते हैं। वे कहते हैं –

मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सुअनूप
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रस सुख रूप।

– रसिकप्रिया, प्रथम प्रकाश

अर्थात् रस वही है जो विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से स्थायी भाव के रूप में व्यक्त होता है।

3.1.2.6. नायक-भेद वर्णन

'रसिकप्रिया' में दूसरे प्रकाश से लेकर पाँचवें प्रकाश तक शृंगार रस के आलम्बन तत्त्व के अनुरूप नायक और नायिका भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। केशव ने यहाँ नायक-भेद के लक्षणों की चर्चा करते हुए नायक को मुख्यतः चार भेदों में वर्गीकृत किया है – (i) अनुकूल, (ii) दक्षिण, (iii) शठ और (iv) धृष्ट। केशव के अनुसार –

प्रीति करै निज नारि सों, पर नारी प्रतिकूल।
केशव मन बच कर्म करि, सो कहिये अनुकूल॥

– रसिकप्रिया

अर्थात् अनुकूल नायक उसे कहना चाहिए जो मन, वचन और कर्म से निज स्त्री से प्रेम करता हो और पर स्त्री के प्रति प्रतिकूल रहता हो। इसी प्रकार आगे वे अन्य नायक-भेद के लक्षण बताते हैं। दक्षिण नायक उसे कहा जाता है जो अपनी पूर्व पत्नी के प्रति भी अनुराग रखता है। शठ नायक उसे कहा जाता है जो मन में कपट रखकर मीठी-मीठी बातें करता है और धृष्ट नायक वह है जो किसी अपराध से नहीं डरता, अपने दोषों को स्वीकार नहीं करता और जिसे किसी प्रकार की लाज-चिन्ता नहीं रहती। इन चारों प्रकार के नायक भेद का वर्णन केशवदास ने दूसरे प्रकाश में किया है। केशव ने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह ही नायक को उदात्त तथा ललित गुणों से युक्त माना है। वे लिखते हैं –

अभिमानी त्यागी तरुण, लोककलान प्रवीन।
भव्य क्षमी सुन्दर धनी, शुचि रुचि सदा कुलीन॥

– रसिकप्रिया

3.1.2.7. नायिका-भेद वर्णन

केशवदास ने 'रसिकप्रिया' के तीसरे प्रकाश में नायिका भेद के लक्षण बताए हैं जिसका क्रम आगे भी जारी रहता है। यहाँ नायिकाभेद का वर्णन करते हुए केशवदास ने आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र', धनंजय के 'दशरूपक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', भानुदत्त के 'रसमंजरी', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का आधार लिया है। जाति, कर्म, अवस्था और प्रकृति के आधार पर केशवदास ने नायिका के चार भेद किए हैं।

जाति के आधार पर नायिका के मुख्यतः चार उपभेद किये गए हैं – (i) पद्मिनी, (ii) चित्रिणी, (iii) शंखिनी, (iv) हस्तिनी। पद्मिनी नायिका का लक्षण बताते हुए वे लिखते हैं –

सहज सुगन्ध स्वरूप शुभ, पुराय प्रेम सुखदान।
तनु तनु भोजन रोस रति, निद्रामान बखान॥
सलज सुबुद्धि उदार मृदु, हास वास शुचि अंग।
अम्ल आलोम अनंग भुव, पद्मिनि हाटक रंग॥

– रसिकप्रिया, तीसरा प्रकाश

इसी तरह चित्रिणी नायिका नृत्य, गीत, काव्यादि में रुचि लेने वाली होती है। वह स्थिर हृदया और चंचल नेत्रों वाली होती है। रोमरहित शरीर वाली ऐसी नायिका के मुख से सुगन्ध आती है। शंखिनी नायिका कपटी होती है। उसके अंग पर लाल रंग सुशोभित होता है। वह लज्जाहीन, निडर और अधीर होती है। हस्तिनी नायिका की अंगुलियाँ चरण, मुख, अधर, भृकुटी आदि स्थूल होती है। वह चंचल चित्त वाली, कटु वचन बोलने वाली और भूरे केशों वाली होती है।

कर्म के आधार पर केशवदास ने नायिका के तीन भेद बताये हैं – (i) स्वकीया, (ii) परकीया और (iii) सामान्या। इसके अनन्तर स्वकीया में तीन उपभेद किए हैं – i. मुग्धा, ii. मध्या एवं iii. प्रौढ़ा। फिर मुग्धा के पुनः चार उपभेद बताए हैं – (क) नववधू, (ख) नवयौवना, (ग) नवल अनंगा तथा (घ) लज्जाप्राइरति मुग्धा। मध्या के अन्तर्गत भी चार उपभेद किए हैं – (क) आरूढ़ यौवना, (ख) प्रगल्भ वाचना, (ग) प्रादुर्भूत मनोभवा एवं (घ) विचित्र सुरता। प्रौढ़ा के तीन उपभेद बताये हैं – (क) धीरा, (ख) अधीरा तथा (ग) धीरा अधीरा। इसके अतिरिक्त केशवदास आलाप, आलिंगन, नाखदान, रददान, चुम्बन, दृष्टिनिक्षेप, मर्दन और स्पर्श उद्दीपनों का वर्णन भी करते हैं ।

पाँचवें प्रकाश में दम्पति चेष्टाओं के साथ नायिकाओं की चेष्टा के लक्षण बताये गए हैं। छठे प्रकाश में भावों का निरूपण करने के बाद सातवें प्रकाश में केशव ने अवस्थानुरूप नायिकाओं के निम्नलिखित आठ भेदों का वर्णन किया है – (i) स्वाधीनपतिका, (ii) उत्कला, (iii) वासकसज्जा, (iv) अभिसन्धिता, (v) खण्डिता, (vi) प्रोषितपतिका, (vii) विप्रलम्भा और (viii) अभिसारिका।

प्रकृति के आधार पर केशवदास ने नायिकाओं के तीन भेद बताए हैं – (i) उत्तमा, (ii) मध्यमा और (iii) अधमा।

इस प्रकार केशव ने 'रसिकप्रिया' में नायिकाभेद का विस्तृत वर्णन कर रस विवेचन के अनुरूप शृंगार रस की व्याप्ति का प्रयास किया है। नायिका भेद के अन्तर्गत केशव ने कुल 308 प्रकार की नायिकाओं के लक्षण उल्लिखित किए हैं जिसमें सामान्या की चर्चा गौण है।

केशव के आचार्यत्व को लेकर कई विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। अनेक विद्वज्जनों ने इन्हें आचार्य स्वीकार किया है तो कुछ विद्वान् इनके आचार्यत्व को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। रस, अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि के विवेचन में केशवदास ने कई संस्कृत ग्रन्थों का आधार लिया है। अलंकार विवेचन की अपेक्षा उन्होंने रस विवेचना में प्रवीणता दिखाई है लेकिन इस कार्य में उन्हें पूर्णतः सफल नहीं कहा जा सकता क्योंकि केशव के कई लक्षणों के भाव अस्पष्ट एवं अधूरे से प्रतीत होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल के कवियों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है – "आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कविगण एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। ... हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते।"

इन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। काव्यांगों के विवेचन में इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का ही आधार लिया है। इस विवेचन के आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि केशवदास ने आचार्यत्व के लिए रीति-ग्रन्थों की रचना की लेकिन वे काव्यशास्त्र की श्रीवृद्धि नहीं कर पाए अतः यह कहा जा सकता है कि केशवदास अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह ही रीति कवि हैं। उनका आचार्यत्व उनकी विद्वता, उनके अनुसंधान के प्रति सम्मान है।

3.1.3. केशव का संवाद-सौष्ठव

केशवदास अपने संवाद-सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध हैं। संवाद योजना में कथोपकथन के माध्यम से रचनाओं में सजीवता आ जाती है। इन्हीं संवादों के माध्यम से श्रोता अथवा पाठक रचनाओं के पात्रों से एकरूप हो सकते हैं। नाटकों तथा काव्यों में पात्रों के साथ इसी संवाद योजना के कारण प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। केशवदास ने भी अपने काव्यों में संवादों का सफल प्रयोग किया है। "कहा जाता है कि जिस तरह के संवाद केशव ने लिखे हैं, उस तरह के संवाद किसी अन्य कवि ने नहीं लिखे, तुलसीदास ने भी नहीं।" केशव के संवाद तुलसी और सूरदास की श्रेणी के नहीं हैं। तुलसी ने 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का आधार लिया जबकि सूर का 'भ्रमरगीतसार' उद्धव-गोपी संवाद ही है। लेकिन यहाँ कवियों का उद्देश्य संवादों का प्रदर्शन नहीं था अपितु वे भावपक्ष को प्रधानता देते थे। केशव ने भी इन ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया किन्तु वाक्पटुता, व्यंग्य, हास-परिहास जैसे तत्त्वों की उद्भावना केशव की मौलिक देन है।

केशवदास-कृत 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंहदेव चरित', 'विज्ञानगीता' और 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' ग्रन्थों में संवादों का विपुल प्रयोग किया है। केशव के संवाद-सौष्ठव की प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं – "इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँवपेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है।" 'रामचन्द्रिका' में केशवदास ने प्रकृति एवं योग्यतानुकूल संवादों का प्रयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नलिखित संवाद महत्त्वपूर्ण हैं –

i. दशरथ-विश्वामित्र-वशिष्ठ संवाद
ii. रावण-बाणासुर संवाद
iii. राम-परशुराम संवाद
iv. परशुराम-वासुदेव संवाद
v. कैकेयी-भरत संवाद
vi. रावण-हनुमान संवाद
vii. रावण-अंगद संवाद
viii. सीता-रावण संवाद
ix. लवकुश-विभीषण संवाद

उपर्युक्त संवादों का वैशिष्ट्य निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है – (i) पात्रानुकूलता, (ii) वाक्पटुता एवं संक्षिप्तता, (iii) भाषायी प्रयोग, (iv) राजनीति, (v) विनम्रता, (vi) नाटकीयता।

3.1.3.1. पात्रानुकूलता

'रामचन्द्रिका' में केशव ने पात्रानुकूल संवादों का चयन किया है। ये पात्र अपने स्वभाव और स्थित्यानुरूप ही कथोपकथन करते हुए दिखाई देते हैं। रावण-बाणासुर संवाद में दोनों पात्रों के संवादों में योद्धाओं के गर्व, दर्प, वैभव और शौर्यभाव का रंग देखा जा सकता है। सीता स्वयंवर के समय धनुर्भंग के लिए आया रावण अभिमान के साथ सभागृह में यह कहते हुए प्रविष्ट होता है –

संभु कोदण्ड दै राजपुत्री कितै। टूक द्वै तीनि कै जाहु लंकाहि लै॥

बाणासुर रावण के इस कथन पर व्यंग्य करते हुए कहता है कि – हे रावण ! क्यों व्यर्थ की बात करता है, जो तेरी भुजाओं में बल है तो धनुर्भंग कर सीता का वरण कर ले –

जू पै जिय जोर तजौ सब सोर। सरासन तोरि लहौ सुख कोरि॥

एक अन्य प्रसंग में जब अंगद दूत के रूप में रावण की सभा में जाते हैं तो वहाँ रावण के द्वारपाल देवताओं को अपमानित करते हुए उन्हें डरा-धमका रहे हैं। रावण की सभा का वर्णन करते हुए प्रतिहारी कहता है –

पढ़ौ विरंचि मौन बेद जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही न यज्ञ भीर मंडि रे।
दिनेश जाय दूरि बैठि नारदादि संगही।
न बोलु चन्द मन्द बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥

– लंकाकाण्ड

प्रतिहार कह रहा है – "यह राजा रावण की सभा है। यह तुच्छ इन्द्र की सभा नहीं जहाँ चन्द्रादि जैसे मंदबुद्धियों को कुछ कहने की छूट हो। यहाँ तुझ जैसे मूर्खों का चुप रहना ही अच्छा है।" अंगद ने यहाँ किसी मर्यादा का भंग नहीं किया है। अंगद को भली-भाँति पता है कि वे एक दूत के रूप में प्रतापी राजा रावण के सम्मुख खड़े हैं। रावण यहाँ अपना प्रभाव तो बताता ही है साथ ही अंगद के पिता बाली के वध का प्रसंग छेड़कर अंगद के मन में राम के प्रति विरोध उत्पन्न करने के लिए एक कूटनीति चाल खेलने का प्रयास भी करता है –

जो सुत अपने बाप को, बैर न लेई प्रकाश।
तासों जीवत ही मर्‌यो, लोग कहैं तजि आस॥

इस पर अंगद का उत्तर है –

इनको बिलगु न मानिये, कहि केशव पल आधु।
पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु॥

इस प्रकार केशवदास ने द्वारपाल जैसे पात्रों के भावानुकूल संवादों की रचना कर उनके मनोभावों को सक्षम अभिव्यक्ति दी है।

3.1.3.2. वाक्पटुता एवं संक्षिप्तता

केशव की संवाद योजना में वाक्पटुता तथा संक्षिप्तता का कौशल विद्यमान है। रावण-अंगद संवाद प्रसंग में केशवदास का यह कौशल दिखाई देता है। ये संवाद छोटे होते हुए भी पात्रों की वाक्पटुता का परिचय देते हैं साथ ही उनके भावों को सशक्तता के साथ सजीव कर देते हैं। अंगद को रावण की सभा में ले जाए जाने पर रावण रावण और अंगद का संवाद देखिए –

कौन के सुत? बालि के वह कौन बालि न जानिये?
काँख चाँपि तुम्हैं जो सागर सात न्हात बखानिये॥
है कहाँ वह? बीर अंगद देव लोक बताइयो।
क्यों गयो? रघुनाथ बान विमान बैठि सिधाइयो॥

जब रावण बालि के नाम पर अपनी अनभिज्ञता जताता है तो अंगद अपना वाक्चातुर्य बताते हुए उसे बालि का परिचय भी दे देता है। इस तरह केशव के संवादों में संक्षिप्तता के साथ-साथ वाक्पटुता का भी पुट है। केशव ने अपने पात्रों से कम शब्दों में ही अधिक भावों को अभिव्यक्ति कराने का प्रयास किया है।

3.1.3.3. भाषायी प्रयोग

केशवदास संस्कृत के विज्ञ कवि थे। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रभाव उनके साहित्य पर परिलक्षित होता है। इसके साथ ही अवधी, बुन्देलखंडी, ब्रज, अरबी-फ़ारसी शब्दों को भी उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। ये शब्द-प्रयोग भाषा को दुरूह नहीं बनाते अपितु भाव-प्रेषण में सहायक ही होते हैं। केशव के संवादों के प्रस्तुतीकरण में सरल भाषा का प्रयोग होता है। भाषा की यह सरलता पात्रों में स्वाभाविकता तथा प्रसंगों में मार्मिकता पैदा करती है वहीं पाठकों के सहज भाव-ग्रहण में भी सहायक होती है। अंगद के मुख से केशव एक उपदेश दे रहे हैं –

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाउँ न ठाउँ कुठाउँ बिलैहैं।
तात न मात न पुत्र न मित्र न बित्त न तीय कहूँ सँग रैहैं॥
केशव काम के राम बिसारत, और निकाम रे काम न ऐहैं।
चेति रे चेति अजौं चित अंतर अंतक लोक अकेलोई जैहैं॥

भाषा को प्रभावी बनाने के लिए केशव ने अलंकार, सांकेतिक भाषा, मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है।

3.1.3.4. राजनीति

केशव अपने संवादों में राजनैतिक दाँव-पेच को भी अभिव्यक्त करते हैं। अंगद-रावण संवाद में यह दाँव-पेच उभरकर सामने आया है जहाँ रावण अंगद को राम के विरुद्ध भड़काने का प्रयास करता है परन्तु उसका यह प्रयास निष्फल हो जाता है। अंगद को लालच देने के लिए रावण नाना प्रकार का लालच दिखाकर उससे सहानुभूति जताने का प्रयास करता है –

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे।
आठहु आठ दिशा बलि दै, अपनो पदुलैं, पितु जालगि मारे॥
तोसे सपूतहि जाय कै बालि अपूतहि की पदवी पगु धारे।
अंगद संगलै मेरो सबै दल आजुहि क्यों न हते बपु मारे॥

3.1.3.5. विनम्रता

राम-जटायु प्रसंग में केशव ने विनम्र भाव का उपयोग किया है। रावण सीता को हरण कर ले जाता है और जटायु उसे रोकता है तो रावण उसके पंख काट देता है जिससे जटायु बलहीन होकर गिर पड़ता है और राम के आने पर अपनी असमर्थता जताता है। जटायु की बात सुनकर राम आभार व्यक्त करते हुए कहते हैं –

साधु जटायु सदा बड़ भागी। तो मन मो वपु सों अनुरागी॥
छूट्यो शरीर सुनि यह बानी। रामहिं तब जोती समानी॥

3.1.3.6. नाटकीयता

केशव ने कई संवादों को प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत किया है जिससे यह नाट्याभिनय के अनुरूप लगते हैं। "केशव के संवाद नाटकीय अभिनय के बहुत उपयुक्त जान पड़ते हैं। इसीलिए जहाँ-जहाँ रामलीला होती है वहाँ यद्यपि तुलसी की रामायण का आश्रय लिया जाता है परन्तु संवाद केशव के लिए जाते हैं।" अंगद-रावण संवाद, राम-परशुराम संवाद हनुमान-रावण संवाद आदि संवादों में प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग होने से इनमें नाटकीयता का गुण आ गया है जिससे ये प्रसंग और भी सजीव हो उठे हैं।

उक्त विशेषताओं के साथ-साथ केशव के संवादों में व्यंग्य, वक्रता, स्वाभाविकता जैसे गुण भी विद्यमान हैं। अपने मौलिक प्रयोगों में केशव तुलसीदास से भी आगे बढ़ गए हैं। केशव चूँकि दरबारी कवि थे अतः कहा जा सकता है कि केशव के संवादों में उनकी राजनैतिक स्थिति प्रभावी रही है लेकिन उनके पात्रों ने अपनी मर्यादाओं के पालन और अनुशासन से उनके इस गुण को छिपाये रखने का भरसक प्रयास किया है । उनके पात्रों में वाक्चातुर्य, व्यंग्य, वक्रता, राजनैतिक दाँवपेच आदि गुण उनके राजकवि होने का परिचय देते हैं। केशव ने जिस कौशल से संवादों की योजना की है वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। केशव के संवाद हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करते हैं और उन्हें शिखर स्थान प्रदान करते हैं।

3.1.4. केशव की हृदयहीनता

रीतिकाल के कवियों में विद्वता के प्रदर्शन की भावना विद्यमान थी। अपनी इसी विद्वता को ये कवि काव्यांगों के व्यापक प्रयोग के माध्यम से अभिव्यक्त करते रहे। केशव भी इन्हीं प्रयोगधर्मी कवियों में से एक थे। विविध काव्यांगों के विवेचन में केशवदास ने अलंकारों को विशेष स्थान दिया। बहुधा वे अलंकारों में ही सभी काव्यांगों को सन्निहित मानते हैं। ये अलंकारवादी आचार्य थे जो कविता और कामिनी के लिए अलंकारों को अत्यावश्यक मानते थे। वे कहते भी हैं –

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए इन्होंने अपनी रचनाओं में अलंकारों को लेकर चमत्कार दिखाये हैं। छन्दों में भी इन्होंने यही प्रयास किये। विद्वानों के अनुसार इनके संस्कृत ज्ञान, विद्वता के अत्यधिक प्रदर्शन और काव्यांग-चमत्कारों के कारण काव्य में क्लिष्टता समाविष्ट होती गई और इसी क्लिष्टता के गुण के कारण केशवदास को 'कठिन काव्य का प्रेत' भी कहा गया। इनकी अलंकारप्रियता ने भावों की सामान्य अभिव्यक्ति पर अतिक्रमण किया जिससे केशव के विषय में कहा जाने लगा कि इनके काव्य को समझने के लिए सहृदयता के साथ-साथ काव्यशास्त्र का पण्डित भी होना चाहिए। विद्वान् पण्डितों को भी केशव की कविताएँ दुरूह प्रतीत होती हैं। इसी दुरूहता के कारण केशवदास की रचनाएँ लोकप्रसिद्ध नहीं हो सकीं। छन्दों के मनमाने परिवर्तनों के कारण रस-परिपाक में भी बाधाएँ आने लगीं जिससे केशवदास की रचनाओं में रस-परिपाक का अभाव आ गया। केशवदास के इसी विद्वातातिरेक से उन पर हृदयहीनता का भी आरोप लगा। केशवदास के पाण्डित्य-प्रदर्शन से खिन्न होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं – "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे परन्तु इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें नहीं प्राप्त था। उनकी 'रामचन्द्रिका' अलग-अलग लिखे हुए प्रसंगों-सी जान पड़ती है।" केशवदास की हृदयहीनता का परिचय इन पंक्तियों में देखा जा सकता है जहाँ उन्होंने सूर्य को कापालिक के हाथों में स्थित रक्त से लबालब कपाल बता दिया है। यथा –

कै स्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।

केशव की रचनाओं में अलंकार तो हैं परन्तु उनमें भावों की सहजता और सरलता नहीं है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के चलते साधारण से साधारण प्रसंगों के वर्णन में भी उन्होंने क्लिष्ट भाषा प्रयुक्त की। कविभेद वर्णन की तरह ही उनके वर्णनों में अर्थ का भिन्न अर्थ सहज ही निकाला जा सकता है जिससे उनके हृदयहीनता के तथ्य प्रमाणित भी होते हैं।

3.1.5. पाठ-सार

केशवदास के आचार्यत्व के विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। एक मत उन्हें पारम्परिक शास्त्र का अनुगामी बताकर उनके आचार्यत्व को ख़ारिज करता है तो दूसरा मत उनकी नवीन उद्भावनाओं के आधार पर उन्हें आचार्य पद पर आसीन करता है। परन्तु समष्टि रूप से अध्ययन करने पर रीतिकाल में केशव के अतिरिक्त कोई भी कवि ऐसा नहीं मिलता जिनकी रचनाओं में केशवदास-सी मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हों। अन्य आचार्य कवि तो एक लीक से ही चले हैं। अपनी रचनाओं में केशवदास ने अपनी बहुज्ञता और पाण्डित्य का परिचय दिया है जिससे कई विद्वान् उनके आचार्यत्व को संदिग्ध भी मानते हैं। उनकी संवाद-योजना अनुपम है। सहज और सरल कथोपकथन के प्रयोग से संवाद सजीव हो उठे हैं जिससे पाठक स्वयं को पात्रों के निकट अनुभव करता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण केशव का काव्य दुरूह हो गया है और वहाँ भाव-सौन्दर्य भी नष्ट हुआ है। इसी से आलोचकों ने केशव को हृदयहीन कवि भी कह दिया है।

3.1.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. केशवदास किस वर्ग के कवि हैं ?

(क) रीतिबद्ध
(ख) रीतिसिद्ध
(ग) रीतिमुक्त
(घ) रीतीतर

2. रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय किस कवि को दिया जाता है ?

(क) बिहारी
(ख) भूषण
(ग) केशवदास
(घ) चिन्तामणि

3. 'कविप्रिया में कुल कितने प्रभाव हैं ?

(क) 10
(ख) 15
(ग) 16
(घ) 20

4. 'छन्दमाला' का सम्बन्ध है –

(क) छन्द से
(ख) अलंकार से
(ग) रस से
(घ) मुहावरों और कहावतों से

5. केशव को हृदयहीन किस आलोचक ने कहा ?

(क) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने
(ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने
(ग) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने
(घ) प्रो॰ नामवर सिंह ने

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकाल की प्रमुख काव्यधाराओं और सम्बन्धित कवियों का नामोल्लेख कीजिए।
2. रीतिबद्ध काव्यधारा का परिचय दीजिए।
3. 'रसिकप्रिया' का मूल प्रतिपाद्य आप किसे मानते हैं?
4. केशवदास वर्णित नायिका-भेद का सामान्य परिचय दीजिए।
5. केशव को आचार्यत्व प्रदान करने वाले ग्रन्थों का नामोल्लेख कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. केशवदास के आचार्यत्व की चर्चा कीजिए।
2. केशव की संवाद-योजना का वैशिष्ट्य सोदाहरण प्रतिपादित कीजिए।
3. केशव को हृदयहीन कवि क्यों कहा जाता है? प्रमाणसहित समझाइए।

3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. केशव की काव्य-कला
2. केशवदास : एक अध्ययन
3. केशवदास और उनका साहित्य
4. रामचन्द्रिका दिग्दर्शन
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
6. कविप्रिया सटीक

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 2 : 'रामचन्द्रिका' का महाकाव्यत्व

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य कथन
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. रामचन्द्रिका का कथाविस्तार
3.2.3. 'रामचन्द्रिका' का महाकाव्यत्व
3.2.3.1. प्रबन्धात्मकता की कमी
3.2.3.2. संवाद-आधिक्य
3.2.3.3. मार्मिक प्रसंगों का अभाव
3.2.3.4. दृश्य-विधानों की अनदेखी
3.2.3.5. बहुछन्दों का प्रयोग
3.2.4. पाठ-सार
3.2.5. बोध प्रश्न
3.2.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. केशवदास के रचना-कौशल से अवगत हो सकेंगे।
ii. केशवदास की प्रतिनिधि रचना 'रामचन्द्रिका' का कथाविस्तार जान सकेंगे।
iii. महाकाव्य के लक्षणों की पहचान कर सकेंगे।
iv. महाकाव्य की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' का अध्ययन-विवेचन कर सकेंगे।

3.2.1. प्रस्तावना

केशवदास की प्रसिद्ध रचनाओं में 'रामचन्द्रिका' का विशेष स्थान है। रामचन्द्रिका' की रचना कार्तिक सुदी 12 संवत् 1658 को सम्पन्न हुई। इसके रचनाकाल के विषय में स्वयं केशवदास ने लिखा है –

सोरह सै अट्ठावनै कार्तिक सुदी बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हों अवतार॥

रामकथा पर आधारित होने के बावजूद तुलसीदास की रामकथा और केशवदास की रामकथा में पर्याप्त अन्तर है। वस्तुतः रामचन्द्रिका का आधार तुलसीकृत रामचरितमानस न होकर वाल्मीकीय रामायण है। स्वयं

महर्षि वाल्मीकि ने केशवदास के स्वप्न में उपस्थित हो उन्हें इस ग्रन्थ की रचना हेतु प्रेरित किया। वाल्मीकि-कृत रामायण के प्रभाव के कारण केशव की रामकथा और तुलसी की रामकथा में दृष्टिकोण को लेकर विपुल भेद नजर आता है। तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व और कृतित्व का गुणगान किया है। रीतिकालीन कवियों की भाँति अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं था जबकि केशवदास ने रीतिकालीन कवियों की सामान्य प्रवृत्यानुसार रामचन्द्रिका में अपना कविगौरव दिखलाने का भरसक प्रयास किया है।

3.2.2. रामचन्द्रिका का कथाविस्तार

कथा-विस्तार के लिए केशवदास ने वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव का भी आश्रय लिया है। रामकथा की ही तरह सात काण्डों में विभक्त 'रामचन्द्रिका' को केशवदास ने उनतालीस प्रकाशों में व्याख्यायित किया है।

रामचन्द्रिका का प्रारम्भ गणेश-वन्दना और सरस्वती-वन्दना से होता है। अनन्तर केशवदास एक कवि के रूप में अपना और अपने वंश का परिचय देते हैं। कवि परिचय देते हुए वे लिखते हैं –

सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जग सिद्ध शुद्ध स्वभाव।
कृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पंडितराव॥
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशीनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारिकै जिन जानियो मत साध॥

कवियों का अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में इस तरह से निज वंश का परिचय देना एक परम्परा थी। रामचन्द्रिका के पूर्ववर्ती काव्यों में भी यह परम्परा परिलक्षित होती है। इसके बाद राजा दशरथ के चार पुत्रों के जन्म का परिचय देते हुए केशवदास अपनी मूल कथा की ओर आगे बढ़ते हैं। केशवदास ने यहाँ एक ही छन्द में अवध का परिचय दे दिया है और सीधे विश्वामित्र के आने के प्रसंग को उद्धृत किया है। यहाँ सरयू नदी, राजा दशरथ के वैभव और नगर-शोभा का वर्णन भी केशवदास ने किया है। यहीं पहले प्रकाश का समापन होता है।

दूसरे प्रकाश में राजा दशरथ की राजसभा का चित्रण हुआ है। विश्वामित्र राजा दशरथ की राजसभा में प्रवेश करते हैं जहाँ राजा दशरथ उन्हें अभिवादन करते हुए उनके वहाँ आने का प्रयोजन पूछते हैं जिस पर प्रत्युत्तर देते हुए विश्वामित्र उनसे यज्ञ-रक्षा हेतु राजकुमारों को साथ ले जाने की बात करते हैं और पारस्परिक वार्तालाप के उपरान्त राजा दशरथ, रामचन्द्र को विश्वामित्र के साथ भेजने की आज्ञा देते हैं तदुपरान्त विश्वामित्र राम और लक्ष्मण समेत यज्ञभूमि की ओर प्रयाण करते हैं।

तीसरे प्रकाश में विश्वामित्र के आश्रम का वर्णन किया गया है। जहाँ राम और लक्ष्मण को यज्ञ-रक्षण का कार्य सौंपा जाता है। यज्ञ में बाधा उत्पन्न करने के कारण राम द्वारा ताड़का-वध किए जाने का प्रसंग यहाँ उल्लिखित हुआ है। राजा जनक के धनुष यज्ञ के आयोजन का समाचार भी यहीं मिलता है।

चौथे प्रकाश में धनुष यज्ञस्थल के प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। जहाँ रावण और बाणासुर के यज्ञस्थल में आने के बाद दोनों के बीच धनुष तोड़ने को लेकर विवाद उत्पन्न हो जाता है। बाणासुर और रावण दोनों ही अपने-अपने प्रयोजन बताकर यज्ञस्थल छोड़कर चले जाते हैं।

पाँचवें प्रकाश में धनुष यज्ञ में उपस्थित अन्य राजाओं, राजकुमारों की धनुर्भंग कर पाने में असमर्थता के वर्णन के साथ-साथ राम और लक्ष्मण के मिथिला में प्रवेश का वर्णन हुआ है। यहाँ उनकी शोभादि का वर्णन करने के बाद विश्वामित्र द्वारा राजा जनक से राम और लक्ष्मण के परिचय कराने का उल्लेख है। तदुपरान्त विश्वामित्र की आज्ञा से राम द्वारा शिवधनुष को तोड़ देने का और सीता-स्वयंवर के अनुरूप रामचन्द्र को वरमाला पहनाने का वर्णन केशवदास ने किया है।

छठे प्रकाश में राजा जनक द्वारा राजा दशरथ को भेजे गए निमन्त्रण तथा राजा दशरथ के बरात सहित आने पर राम एवं अन्य भ्राताओं के विवाह के साथ-साथ तात्कालिक विविध संस्कारों तथ लोकाचारों से सम्बन्धित प्रसंगों का उल्लेख किया गया है।

सातवें प्रकाश में विवाहोपरान्त राजा दशरथ के बरात लेकर जाते समय परशुराम से हुई मुलाकात का वर्णन हुआ है। शिवधनुष के भंग होने से परशुराम अत्यन्त क्रुद्ध हैं। उनके क्रोध के प्रताप से राजा दशरथ की सेना भयभीत हो जाती है। राम के द्वारा शिवधनुष तोड़े जाने का समाचार सुनकर जब परशुराम का क्रोध और भी बढ़ जाता है और विवाद भीषण रूप धारण करने लगता है तो स्वयं भगवान् महादेव के बीच-बचाव से मामला शान्त होता है और बरात आगे प्रस्थान कर पाती है।

आठवें प्रकाश में अयोध्या में बरात आगमन की सूचनानुरूप वहाँ की गई सजावट से सुशोभित अयोध्या नगरी एवं वहाँ के हर्षित परिवेश का वर्णन कवि ने किया है।

नौवें प्रकाश में राम के वनवास का वर्णन हुआ है। राजा दशरथ भरत और शत्रुघ्न को ननिहाल भेज देते हैं और वशिष्ठजी से राम के राज्याभिषेक के विषय में परामर्श करते हैं। जिसकी सूचना मिलने पर कैकेयी राम को वनवास दिलवाने की प्रतिज्ञा करती हुई दिखलाई देती है। मंथरा प्रसंग का यहाँ उल्लेख नहीं है। तमाम अनुनय-विनय, खेद और दु :ख की अभिव्यक्तियों की घटनाओं के बाद राम वनवास के लिए प्रयाण कर जाते हैं। कालान्तर में पुत्र वियोग में राजा दशरथ की मृत्यु हो जाती है और समूची अयोध्या नगरी शोकसागर में डूब जाती है।

दसवें प्रकाश में भरत के अयोध्या में लौटने का उल्लेख है। अयोध्या लौटकर भरत अयोध्या नगरी को कान्तिहीन पाते हैं। महल में जाकर वे माता कैकेयी से अपने पिता तथा भ्राता राम के विषय में पूछते हैं जहाँ उन्हें राम के वनवास और पिता की मृत्यु का समाचार मिलता है। तदुपरान्त माता कौशल्या के पास जाकर वे अपने निर्दोष होने की बात कहते हैं। इसके बाद भरत का वन में राम से मिलना और उन्हें वापस अयोध्या आने का आग्रह करना, राम के मना करने पर गंगा के कहने पर राम की चरणपादुका लेकर लौटे भरत का नंदीग्राम में निवास करने के प्रसंग का उल्लेख किया गया है।

ग्यारहवें प्रकाश में राम के वनवास के दौरान ऋषि अत्रि और देवी अनुसूया से मिलने, अगस्त्य ऋषि के आश्रम पहुँचने और उनकी आज्ञानुसार पंचवटी के समीप पर्णकुटी बनाकर रहने के प्रसंग के साथ-साथ देवी सीता के वीणावादन करने और शूर्पणखा प्रसंग का उल्लेख है।

बारहवें प्रकाश में शूर्पणखा का विलाप करते हुए भाई खर और दूषण को राम से लड़ने के लिए प्रेरित करने, राम द्वारा उनका संहार करने, तदुपरान्त रावण की प्रेरणा से मारीच प्रसंग और सीता हरण प्रसंगादि वर्णित हैं।

तेरहवें प्रकाश में बालि-सुग्रीव युद्ध और बालि का संहार, अंगद को राजकुमार बनाने, देवी सीता की खोज का प्रयास करना जैसे प्रसंग उधृत हैं।

चौदहवें प्रकाश में हनुमान द्वारा वाटिका में अक्षयकुमार का संहार, रावण की आज्ञा से मेघनाद का हनुमान को विधिपाश में बाँधकर रावण सभा में प्रस्तुत करना और लंका दहन प्रसंग, राम को सीता दशा का समाचार सुनाकर उन्हें एक मास के भीतर लाने के लिए प्रेरित करना और फिर राम के लंकाभियान का वर्णन किया गया है।

पन्द्रहवें प्रकाश में रावण का अपने मंत्रियों के साथ परामर्श लेना, कुम्भकरण का रावण पर आक्षेप लेना, विभीषण की रावण को राम की शरण में जाने की सलाह देना जिस पर रावण का प्रतिकार करना और विभीषण का राम की शरण में चले जाने के प्रसंग हैं।

सोलहवें प्रकाश में रावण की सभा में रावण और अंगद का संवाद होता है। जब राम अंगद को अपना दूत बनाकर रावण के पास भेजते हैं।

सत्रहवें प्रकाश में अंगद रावण का मुकुट राम के पास ले आता है जिसे राम विभीषण के सिर पर रख देते हैं। तदुपरान्त लंका पर चढ़ाई की जाती है। लंका पहुँचने पर युद्ध होता है। मेघनाद द्वारा राम और लक्ष्मण को नागपाश में बाँधना, गरुड़ द्वारा उन्हें नागपाश से मुक्ति दिलाना, लक्ष्मण का मूर्च्छित हो जाना आदि प्रसंग वर्णित हुए हैं।

अट्ठारहवें प्रकाश में कुम्भकर्ण और मंदोदरी द्वारा रावण को समझाया जाना जिस पर रावण का उन्हें शत्रु कहना और अन्ततः कुम्भकर्ण और मेघनाद वध का वर्णन हुआ है।

उन्नीसवें प्रकाश में मेघनाद के वध के बाद चिन्ताग्रस्त रावण द्वारा राम को सन्धि प्रस्ताव भेजा जाता है तो मंदोदरी का रणभूमि में प्रवेश करने का प्रस्ताव, रावण का रणभूमि में जाने से पूर्व यज्ञ करना जिसे वानरों द्वारा विध्वंस कर देना और अन्ततः युद्धक्षेत्र में रावण का संहार हो जाने का वर्णन है।

बीसवें प्रकाश में राम हनुमान को लंका में सीता को अलंकृत करके लेकर आने के लिए कहते हैं। सीता आत्मशुद्धि की परीक्षार्थ अग्निपरीक्षा प्रसंग के उपरान्त राम सीता को पुष्पक विमान से अयोध्या ले आते हैं।

इक्कीसवें प्रकाश में पंचवटी नामक स्थान पर राम और ऋषि भरद्वाज का संवाद हुआ है। जहाँ ऋषि भरद्वाज उन्हें दान धर्म का उपदेश देते हैं। उधर हनुमान अयोध्या जाकर राम के आने का सन्देश भरत को देते हैं। समस्त अयोध्यावासी सीता-राम के स्वागत में अयोध्या नगरी को सजाने में जुट जाते हैं। राम के आगमन पर राम अपने भाइयों से मिलते हैं और वानरसेना का परिचय कराते हैं। तदुपरान्त भरत से मिलने वे नंदीग्राम जाते हैं।

बाइसवें प्रकाश में अयोध्यापुरी में राम के स्वागत एवं राम का अपनी माताओं से भेंट करने के प्रसंगों को वर्णित किया गया है।

तेइसवें प्रकाश में राम उदासीन होकर राज्याभिषेक का विरोध करते हैं।

चौबीसवें प्रकाश में राम ने राज्याभिषेक को लेकर अपनी अन्तर्व्यथाओं को अभिव्यक्त किया है जिसे सुनकर सभा में उपस्थित सभी लोग उनकी प्रशंसा करते हैं।

पच्चीसवें प्रकाश में वशिष्ठ राम नाम की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। राज्याभिषेक के लिए राम की स्वीकृति का वर्णन हुआ है।

छब्बीसवें प्रकाश में गुरु वशिष्ठ द्वारा राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ कर राम का राज्याभिषेक किए जाने का वर्णन है।

सत्ताइसवें प्रकाश में राम के राज्याभिषेक पर ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र, अग्निदेव, वायुदेव तथा ऋषियों के साथ-साथ अन्य देवताओं द्वारा की गई स्तुतियों का उल्लेख हुआ है।

अट्ठाइसवाँ प्रकाश रामराज को समर्पित है जहाँ उनके राज में प्रजा के सुख और आनन्दोल्लास का वर्णन हुआ है।

उनतीसवें प्रकाश में राम के चौगान खेल का वर्णन किया गया है। इस खेल के दौरान शाम हो जाने पर अयोध्या नगरी में दीपक जलाए जाने पर समस्त अयोध्या नगरी नक्षत्रों की-सी प्रतीत होती है। इसके साथ ही राम के राजमहल के सौन्दर्य का भी बड़ा ही मोहक वर्णनकवि ने यहाँ किया है।

तीसवें प्रकाश में राम के राजमहल की शोभा का वर्णन हुआ है। महल में नृत्य, संगीत, गायन आदि से राजमहल को सुशोभित करते हैं। राम की शय्या और प्रातःकाल उठने के बाद भाटों द्वारा उनके स्तुतिगान का वर्णन हुआ है। उपरान्त रामचन्द्रजी की दिनचर्या का वर्णन कवि ने यहाँ किया है।

इकतीसवें प्रकाश में रामचन्द्र के वाटिका विहार का वर्णन हुआ है। जहाँ केशवदास ने स्त्रियों के वर्णन में शृंगारिकता का प्रयोग करते हुए वर्णन को और भी आकर्षक बना दिया है।

बत्तीसवें प्रकाश में वाटिका में स्थित स्त्रियाँ राम से उस उपवन को दिखाने का आग्रह करती हैं जिसे राम लगवाते हैं। इस प्रकार इस प्रकाश में राम के लगाए उस उपवन की शोभा और सौन्दर्य का व्यापक वर्णन हुआ है।

तैतीसवें प्रकाश में राम की सभा में ब्रह्माजी के साथ हुए जन्म और मृत्यु के संवादों का वर्णन हुआ है।

चौतीसवें प्रकाश में राम की राजसभा का वर्णन हुआ है जहाँ एक कुत्ता अपना विलाप राम को सुनाता है और राम उसकी व्यथा सुनकर उसे न्याय प्रदान करते हैं। इस प्रकाश में कुत्ता रामचन्द्रजी को कहानियाँ भी सुनाता है। तदुपरान्त सभा में उपस्थित हुए मथुरा के ब्राह्मण लवणासुर का वध करने के लिए रामचन्द्रजी से निवेदन करते हैं। अतः उससे रक्षा करने का वचन देकर रामचन्द्रजी शत्रुघ्न को लवणासुर को मारने का आदेश देते हैं और शत्रुघ्न लवणासुर का वध कर देते हैं और प्रसन्न होकर समस्त देवता उनपर पुष्प वृष्टि करते हैं।

पैंतीसवें प्रकाश में राम के अश्वमेध यज्ञ कराने के विषय पर वशिष्ठजी से परामर्श लेते हैं। यहाँ वशिष्ठजी ने कहा कि अश्वमेध यज्ञ सपत्नीक किया जाता है अतः सीता की स्वर्णप्रतिमा बनाकर यज्ञ किया जावे। प्रस्तुत प्रकाश में केशवदास ने राम के अश्वमेध यज्ञ की घटनाओं को अभिव्यक्ति दी है।

छत्तीसवें प्रकाश में अश्वमेधी घोड़े के प्रसंग के दौरान कुश की ललकार से भागे हुए सैनिक अयोध्या आकर रामचन्द्र को घटना से अवगत कराते हैं तदुपरान्त लक्ष्मण को आदेश दिया जाता है कि वे जाकर अश्वमेधी घोड़े को खोज निकालें। तदुपरान्त लक्ष्मण का भारी सेनाओं को लेकर जाना, वहाँ लक्ष्मण और उनकी सेना से लव और कुश की मुठभेड़ होने से लक्ष्मण के घायल होकर गिर जाने और कुछ देर बाद राम की आज्ञा से भरत के युद्धक्षेत्र में जाने आदि की घटनाओं का उल्लेख है।

सैंतीसवें प्रकाश में भरत द्वारा ऋषिकुमारों से यज्ञादि की पूर्णाहुति के लिए विनती किए जाने के प्रसंग का चित्रण कवि ने किया है।

अड़तीसवें प्रकाश में राम भी अश्वमेधी घोड़े की घटना के अनुसार युद्ध भूमि में जाते हैं जिन्हें देखकर ऋषिकुमार उनसे लड़ने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इस प्रकाश में राम और उन ऋषिकुमारों के संवादों का परिचय कवि ने दिया है।

उनतालीसवें प्रकाश में सीता और भरतादि का संवाद उद्धृत किया गया है। यहीं पर राम का लव और कुश से परिचय तथा सीता से पुनर्मिलन होता है। जिसके बाद सभी लोग अयोध्या की ओर यज्ञस्थल पर पहुँचते हैं और राम का अश्वमेध यज्ञ पूर्ण होता है। इसके अन्त में कवि ने राम के चरित्र का आख्यान करते हुए ग्रन्थ का समापन किया।

इस प्रकार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में उनतालीस प्रकाशों में राम के चरित्र को व्याख्यायित किया है।

3.2.3. 'रामचन्द्रिका' का महाकाव्यत्व

काव्यरूपों के अन्तर्गत महाकाव्य प्रबन्धकाव्य की श्रेणी में आता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य के 'भावप्रधान' और 'विषयप्रधान' ये दो मुख्य भेद हैं। विषयप्रधान काव्यों में 'महाकाव्य' का प्रमुख स्थान है। इसमें कवि व्यक्तिगत सत्ता को त्यागकर समष्टिगत जीवन के साथ अपने जीवन का सामंजस्य देखता है। यहाँ कवि अपनी सत्ता लोकसत्ता में तथा अपनी वाणी जनवाणी में मिला देता है। अतः कवि किसी महान् व्यक्ति को नायक के रूप में लेकर पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित करता है और उसके आधार पर जीवन का सर्वांगीण चित्र अंकित करता है। रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व की व्याख्या करने से पूर्व महाकाव्य के लक्षणों को जान लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है क्योंकि महाकाव्य के यही लक्षण किसी भी रचना के महाकाव्यत्व का निर्धारण करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य की परिभाषा को लेकर विवेचन करने वाले आचार्य भामह थे। उनके 'काव्यालंकार' में महाकाव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में विश्लेषण हुआ है। आचार्य भामह के उपरान्त दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि विद्वान् आचार्यों ने महाकाव्य की व्याख्या की है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रबन्धनकाव्य अथवा महाकाव्य के लक्षणों का अध्ययन करने पर महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षणों का निरूपण हुआ है –

i. महाकाव्य सर्गबद्ध होने चाहिए, जिनमें सर्गों की संख्या कम से कम आठ होनी चाहिए।
ii. महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिकता से सम्बन्धित होता है, ऐतिहासिकता के अभाव में यह कथानक किसी सज्जन व्यक्ति से भी सम्बन्धित हो सकता है।
iii. महाकाव्य का नायक कोई अलौकिक देवता तथा धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय कुलोत्पन्न होता है साथ ही इसमें एक ही वंश के कई राजा भी नायकत्व ग्रहण कर सकते हैं।
iv. कथारम्भ मंगलाचरण, आशीर्वचन, सज्जन स्तुति, वस्तुनिर्देशादि से होता है।
v. छन्द की दृष्टि से प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए यद्यपि सर्गान्त में छन्द परिवर्तन किया जा सकता है तथापि कई सर्गों में विविध छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है।
vi. प्रत्येक सर्ग के अन्त में आने वाले सर्ग की कथासूचना होनी चाहिए।
vii. महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गों में से किसी एक की फलाश्रुति होनी चाहिए।
viii. महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण, लोकजीवन के विविध पक्षों, रीति-रिवाजों तथा संस्कारों, मनुष्य के विविध भावों, अनुभूतियों के साथ-साथ नायक के जीवन से सम्बद्ध विविध प्रसंगों का भी उल्लेख होना चाहिए।
ix. रस की दृष्टि से महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता होती है। शेष अन्य रस उसके सहायक होते हैं।
x. महाकाव्य का नामकरण भी रचनाकार, कथावस्तु, कथानायक अथवा सज्जन व्यक्ति के आधार पर तथा सर्गों के नाम उसकी घटनाओं के आधार पर होने चाहिए।
xi. महाकाव्य में नाटक की सभी सन्धियाँ अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति प्राप्त होती हों।

साहित्य में उपर्युक्त सभी लक्षण महाकाव्यत्व का निर्धारण करते हैं । उक्त लक्षणों के अनुरूप किसी भी महाकाव्य के लिए कम से कम आठ सर्गों की अनिवार्यता बताई गई है जबकि 'रामचरितमानस' की कथा केवल सात काण्डों में विभक्त है । इस सन्दर्भ में आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में स्पष्ट कर दिया है – "अनिवार्य सर्ग संख्या अथवा उक्त तत्त्वों के अभाव में भी आवश्यक लक्षणों अथवा तत्त्वों के पालन होने पर ऐसी कृतियों को महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।"

केशवदास संस्कृत के विद्वान् थे। अतः संस्कृताचार्यों के बताए लक्षणों का निर्वाह तो किया परन्तु प्रबन्धकाव्य काव्य की अपेक्षा उसमें मुक्तक काव्यगुणों के बहुलता दिखाई देती है। "महाकाव्य में सबसे बड़ी आवश्यकता होती है उसकी प्रबन्धात्मकता। रामचन्द्रिका में वर्णनों की विशदता के साथ कवित्व पर्याप्त मात्रा में है किन्तु उनका प्रबन्ध-निर्वाह काफी शिथिल है । उसके प्रबन्ध-शैथिल्य के कारण उसके महाकाव्य मानने में बाधा पड़ती है । उसमें मुक्तक की-सी साज-सम्हाल है किन्तु प्रबन्ध-काव्य का-सा तारतम्य नहीं है ।" उक्त कथन के आधार पर रामचन्द्रिका को पूर्णतः महाकाव्य नहीं कहा जा सकता । इस विषय में डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का प्रस्तुत कथन उल्लेखनीय है – "रामचन्द्रिका में महाकाव्य के सभी लक्षण पाए जाते हैं इसलिए वह महाकाव्य माना भी जा सकता है परन्तु बाहरी लक्षण ही सब कुछ नहीं होते हैं । यह लक्षण काव्य के बाह्यावरण मात्र की सूचना देते हैं जिसका महत्त्व इसी में है कि अन्तरात्मा के आवरण का काम करता है, उसके स्थित रहने के लिए आधार प्रस्तुत करना है। अन्तरात्मा से अलग उसका कोई मूल्य नहीं है । महाकाव्य को महान् होने से पहले काव्य होना चाहिए । यदि काव्य नहीं है तो उसकी महत्ता, उसका विस्तार कौड़ी के काम का भी नहीं हो सकता ।" अधिकतर विद्वानों ने रामचन्द्रिका को महाकाव्य की कसौटी पर कमजोर ही पाया । प्रबन्धात्मकता की कमी, संवाद, मार्मिक प्रसंगों का अभाव, दृश्यविधानों की अनदेखी आदि ऐसे अनेक कसौटियों पर 'रामचन्द्रिका' ग्रन्थ महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर पूर्णतः खरा नहीं उतर पाता ।

3.2.3.1. प्रबन्धात्मकता की कमी

केशवदास ने यद्यपि 'रामचन्द्रिका' की रचना प्रबन्धकाव्य के आधार पर ही की किन्तु रीतिकालीन प्रवृत्तियों के अनुरूप अलंकार एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण कवि अपने मूल उद्देश्य से दूर होते गए । प्रबन्धकाव्य के रचयिता को चाहिए कि वह कथा-प्रसंगों की एकसूत्रता को बनाए रखे । रामचन्द्रिका में कई प्रसंगों के छोड़ देने से कथाओं की संगता खण्डित होती दिखाई देती है। रामचन्द्र का वनवास, राजा दशरथ की मृत्यु जैसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ कवि ने इनके महत्त्व की अनदेखी की है। यहाँ कवि ने केवल अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुरूप प्रसंगों का विषद् वर्णन किया है तो कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं को कवि ने एक ही छन्द में प्रस्तुत कर अगले सर्ग की ओर प्रस्थान कर लिया है जिससे पाठकों के महाकाव्य के अध्ययन करते समय उसमें लयबद्धता अथवा निमग्नता नहीं आ पाती । कथाओं के अल्प परिचय से पात्रों को भी पूर्ण न्याय नहीं मिल पाता । रामचन्द्रजी के वनवास जाने के प्रसंग के दौरान राजा दशरथ की मृत्यु हो जाती है। केशवदास ने इस प्रसंग में रामचरितमानस की तरह मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में अधिक समय नहीं दिया जिससे दृश्य तुरन्त ही बदल जाता है और प्रतीत होता है, मानों पिता की मृत्यु के शोक और विलाप के बिना वे वन में पड़े हैं और कथा का प्रवाह भावों में परिवर्तन ला देता है।

केशवदास ने यहाँ राजा दशरथ की मृत्यु की केवल सूचना भर दी है और आगे राम-सीता के शोभा वर्णन में वे लग जाते हैं।

चूँकि रामचन्द्रिका में कवि ने राम के चरित्र का ही आख्यान किया है । अतः रामचन्द्रिका पढ़ते समय पाठकों के मस्तिष्क में तुलसीदास कृत रामचरितमानस की सम्पूर्ण घटनाएँ विद्यमान रहती हैं । इसी के आधार पर पाठक रामचन्द्रिका की तुलना भी करता जाता है। ऐसे में मूलतः पूर्व में पढ़े गए प्रसंग से कुछ भिन्न पढ़े जाने, कुछ छूट जाने, कुछ प्रसंगों का वर्णनातिरेक होने से मूल रस में भी व्यवधान आने लगता है। "मानस में राम-केवट संवाद तथा चित्रकूट के मार्ग में भरत को सेना सहित देखकर निषादराज की युद्ध की तैयारी का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक है। इसमें समाज हेतु मनोवैज्ञानिक ढंग से एक आदर्श व्यवस्था की योजना दृष्टिगोचर होती है । चित्रकूट में जनक का आगमन दिखाकर अयोध्या और मिथिला दोनों राजधानियों में राम और सीता वनगमन के कारण विक्षुब्ध परिस्थितियों की ओर से संकेत किया गया है । रामचन्द्रिका में उक्त तीनों घटनाओं का लोप कर दिया गया है । चित्रकूट में भरत द्वारा राम को अयोध्या लौट चलने का आग्रह निष्फल हो जाता है, वहाँ कवि भागीरथी से राम का ब्रह्म रूप व्यक्त करवाते हैं जो मानस से भिन्न है ।" इसी प्रकार जटायु प्रसंग, शबरी प्रसंग आदि कई प्रसंगों की रामचन्द्रिका में अनदेखी हुई है। कथाओं के आपसी तालमेल की कमी से प्रबन्धात्मकता को क्षति पहुँचती है।

3.2.3.2. संवाद-आधिक्य

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में पात्रों के संवादों का अत्यधिक प्रयोग किया है। यद्यपि संवाद महाकाव्य का आवश्यक गुण तो है परन्तु उसकी विपुलता प्रबन्धात्मकता के लिए बाधक सिद्ध होती है। केशव संवाद लेखन में सफल तो रहे हैं किन्तु संवादों के आधिक्य के साथ-साथ इनमें नाटकीयता तथा व्यंग्यात्मकता के भी आ जाने से इसके महाकाव्यत्व को क्षति पहुँची है।

3.2.3.3. मार्मिक प्रसंगों का अभाव

प्रबन्धकाव्य में मार्मिक प्रसंगों की प्रयुक्ति एक संवेदनशील और भावुक रचनाकार का परिचय देती है। वैसे भी केशव पर हृदयहीनता का आरोप तो लग ही चुका है । रामचरितमानस के साथ रामचन्द्रिका की तुलना करने पर पता चलता है कि केशवदास ने रामचन्द्रिका में मार्मिक प्रसंगों का कम ही उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने में चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं ।" रामचन्द्रिका का आधार जबकि रामचरित ही था परन्तु फिर भी केशवदास ने राम के जीवन के नितान्त संवेदनशील और भावुकता के क्षणों के साथ अन्याय किया है । यद्यपि यही मार्मिक प्रसंग तुलसीदास के रामचरितमानस में पूरी अर्थवत्ता के साथ उभरकर सामने आए हैं । बालकाण्ड में राम की बाललीलाओं का वर्णन नहीं मिलता, राम के निर्वासन के दौरान अयोध्यावासियों का शोक, राजा दशरथ का पुत्रमोह और प्रतिज्ञा-पालन का अन्तर्द्वन्द्व, पुत्र-वियोग में राजा

दशरथ मृत्यु प्रकरण, कैकेयी का वरदान, मंथरा का भड़काना, राम की वनवास यात्रा के मार्मिक प्रसंग, सीता वियोगादि ऐसे ही प्रसंग हैं जिनकी प्रयुक्ति रामचन्द्रिका में विलुप्त है। और कई ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ करुणात्मक प्रसंग उपदेशात्मकता की गोद में जा बैठे हैं जिससे प्रसंगों के मूल भव्यनाओं की प्रतीति नहीं होती। "सीता की खोज करते समय पथ में जटायु का समागम व उद्धार दोनों कवियों ने मार्मिक ढंग से किया है। शबरी प्रसंग में मानसकार अपना सुनहरा अवसर खोता नहीं है और नवधा भक्ति का उपदेश दे ही देता है जो रामचन्द्रिका में लुप्त है।" रामचन्द्रिका में कई प्रसंगों के वर्णन में कवि ने भावुकता की अभिव्यक्ति की बजाय अधिक व्यग्रता दिखाई है जिससे रसभंग की समस्या भी रचना में समाहित हो गई है।

3.2.3.4. दृश्य-विधानों की अनदेखी

रामचन्द्रिका में केशवदास ने कई ऐसे दृश्यों का वर्णन कर दिया है जो कथा प्रसंगों में असंगत और अजीब से लगते हैं अर्थात् इनका वर्णन करते हुए केशवदास ने स्थान के महत्त्व को अनदेखा कर दिया है। केशवदास ने तपोवन में विश्वामित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए वहाँ 'एला ललित लवंग पुंगीफल' का वर्णन किया है जो स्थान और प्रसंग से मेल नहीं खाते। वे कहते हैं –

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूरगन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र वन।

राजहंसों और मयूरों का एक साथ नाचना तर्कसंगत भी नहीं लगता। अतः कहा जा सकता है कि रामचरितमानस में प्रकृति का जितना सटीक, लुभावना और सुन्दर वर्णन तुलसीदास ने किया है, केशवदास इसमें चूक गए हैं।

3.2.3.5. बहुछन्दों का प्रयोग

महाकाव्य का लक्षण बताते हुए आचार्य दण्डी ने स्पष्ट किया है कि प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग होना चाहिए यद्यपि सर्गान्त में इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। इस दृष्टि से केशवदास ने रामचन्द्रिका में साहित्यशास्त्र के छन्द नियमों का पालन नहीं किया। इसका संकेत वे रामचन्द्रिका के आरम्भ में ही "रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द" कहकर दे देते हैं। रामचन्द्रिका में केशवदास ने मात्रिक छन्द के 24 रूप और वर्णिक छन्द के 58 रूपों का प्रयोग किया है। छन्द वैविध्य के कारण केशव की यह बहुछन्दी रचना साहित्य में अपना अलग महत्त्व रखती है।

केशवदास ने अपना पाण्डित्य और चमत्कार दिखाने के लिए रामचन्द्रिका में संस्कृत के ग्रन्थों का आधार लिया है जिससे रचना में महाकाव्य की दृष्टि से काफी दोष आ गए। प्रबन्धनिर्वाह, कथाक्रम की सटीक प्रस्तुति

करने में केशवदास उतने सफल नहीं हुए हैं। "मुक्तक काव्य में कवि पाठक का ध्यान किसी एक चुनी हुई घटना की ही ओर आकृष्ट करता है, शेष कथा की कल्पना पाठक या श्रोता स्वयं कर लेते हैं परन्तु प्रबन्धकाव्य के कवि को यह आवश्यक हो जाता है कि वह बीच की घटनाओं की लड़ी मिलाता चले और विशेष घटनाओं को महत्त्व भी दे।" कथाक्रमों का उचित निर्वहन न होने से पात्रों के चित्रण में भी सजीवता नहीं आ पायी। कई जगह ये कथासूत्र खण्डित हुए से जान पड़ते हैं। रामचन्द्रिका में केशवदास ने चरित्र-चित्रण पर तो ध्यान दिया ही नहीं। साथ ही, रामकथा का ऐसा वर्णन भी नहीं किया जिससे राम के जीवन का सर्वांगीण अध्ययन रामचन्द्रिका के माध्यम से हो सके। केशवदास ने इस रचना में अपने पाण्डित्य और काव्यशास्त्र के ज्ञान का सन्निवेश भारी मात्रा में कर दिया है। महाकाव्य के रूप में मात्र पारम्परिक रूढ़ियों का निर्वहन यहाँ किया गया है। अतः एक महाकाव्य के रूप में केशवदास की रामचन्द्रिका सदोष नजर आती है किन्तु एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ उनका वर्णनातिरेक उन्हें दोषी बनाता है न कि कोई काव्यशास्त्रीय कारण। केशवदास को यहाँ अपनी बहुज्ञता के कारण यह आरोप झेलना पड़ता है तथापि कहा जा सकता है कि रामचन्द्रिका की रचना प्रबन्ध काव्य के रूप में की गई है अतः अधिकांश विद्वान् केशवदास की इस रचना को महाकाव्य की ही कोटि में रखते हैं।

3.2.4. पाठ-सार

किसी भी प्रबन्धकाव्य के रचयिता को चाहिए कि अपनी रचना के कथानक के सटीक निर्वहन का विशेष ध्यान रखे। कथानकों के क्रमिक विकास के साथ-साथ कथासूत्र खण्डित न होने पाए। कथानक के सभी प्रसंग उचित रूप से शृंखलाबद्ध होने से उसकी लयता बाधित नहीं होती। एक महाकाव्य की दृष्टि से यद्यपि महाकाव्य के अधिकांश लक्षणों का निर्वाह केशवदास ने रामचन्द्रिका में अवश्य ही किया परन्तु कई ऐसे महत्त्वपूर्ण लक्षणों की अनदेखी भी कर दी जिससे इसके महाकाव्यत्व पर एक प्रश्नचिह्न भी खड़ा हो गया।

रचना में केशवदास ने कई प्रमुख स्थलों की मात्र सूचना भर देकर उन्हें टाल दिया है। इसके साथ ही प्रकृति-चित्रण की ओर कवि का ध्यान अधिक आकर्षित हो गया है। प्रकृति का अति चित्रण करने से मूल कथावस्तु जहाँ एक ओर शिथिल हो गई है वहीं दूसरी ओर उसका मूल कथा से अधिक सम्बन्ध भी नहीं है। इसके अतिरिक्त छन्द रूपों में जल्दी-जल्दी बदलाव आने से पाठक उसी को समझने में व्यस्त हो जाते हैं और फलतः मूल कथावस्तु एक ओर पड़ी रह जाती है।

अनुपयुक्त चरित्र-चित्रण, असन्तुलित कथा प्रसंग आदि महाकाव्य को दूषित करते दिखलाई जरूर देते हैं परन्तु प्रबन्धात्मकता पर आधारित यह रचना निश्चय ही महाकाव्य की श्रेणी में आती है। महाकाव्य के उपर्युक्त अधिकांश लक्षणों का पालन कवि ने यहाँ किया है। यहाँ कवि ने प्रबन्धकाव्य के लिए संस्कृत शास्त्रों का आधार लिया है। केशव के समय तक रामकथा का काफी विस्तार हो चुका था। राम के व्यक्तित्व और कृतित्व से बहुतांश लोग परिचित हो चुके थे। संभवतः इसीलिए केशवदास ने कई प्रसंगों की मात्र सूचना भर दी है। इसकी पृष्ठभूमि प्रबन्धात्मक है और इस प्रबन्धात्मकता के दोष के लिए उनकी बहुज्ञता कारणीभूत है। अतः केशव की रामचन्द्रिका को महाकाव्य कहना अधिक समीचीन होगा।

3.2.5. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. रामचन्द्रिका की रामकथा का आधार-ग्रन्थ है –

(क) रामचरितमानस
(ख) राधेश्याम रामायण
(ग) वाल्मीकीय रामायण
(घ) रघुवंशम्

2. रामचन्द्रिका में कुल कितने प्रकाश हैं ?

(क) 07
(ख) 37
(ग) 39
(घ) 41

3. रामचन्द्रिका का काव्य रूप है –

(क) महाकाव्य
(ख) खण्डकाव्य
(ग) मुक्तक
(घ) चम्पू

4. रामचन्द्रिका में वर्णिक छन्द के कितने रूपों का प्रयोग किया गया है ?

(क) 18
(ख) 38
(ग) 58
(घ) 68

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रामचरित मानस में वर्णित रामकथा के किन मार्मिक प्रसंगों की अवहेलना रामचन्द्रिका में हुई है ?
2. रामचन्द्रिका में उल्लिखित अश्वमेध यज्ञ प्रसंग का उल्लेख कीजिए।
3. रामचन्द्रिका के उन प्रसंगों का उल्लेख कीजिए जो रामचरित मानस से भिन्न हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महाकाव्य के लक्षणों को समझाइए।
2. रामचन्द्रिका का कथानक संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।
3. सिद्ध कीजिए कि रामचन्द्रिका में ग्रन्थकार ने मार्मिक प्रसंगों की अनदेखी की है।
4. "रामचन्द्रिका ग्रन्थ महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर पूर्णतः खरा नहीं उतर पाता।" युक्तियुक्त विवेचना कीजिए।

3.2.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. रामचन्द्रिका, पुरुषोत्तमदास भार्गव
2. रामचन्द्रिका दिग्दर्शन
3. राम-काव्य, गार्गी गुप्त
4. केशवदास : एक अध्ययन, रामरतन भटनागर
5. रामचरितमानस और रामचन्द्रिका : शिल्पविधान का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ॰ गीता सिंह
6. केशव : एक अध्ययन, प्रो॰ सरनामसिंह शर्मा
7. आचार्य केशवदास, कृष्णचन्द्र वर्मा
8. रामचन्द्रिका, सम्पादक – भगवानदीन
9. केशव की काव्यकला, कृष्णशंकर रसाल

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 3 : बिहारी : मुक्तक कवि की दृष्टि से

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य कथन
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. मुक्तक के भेद और बिहारी का मुक्तक काव्य
3.3.3. मुक्तक के गुण
  3.3.3.1. पूर्वापर निरपेक्षता
  3.3.3.2. मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख
  3.3.3.3. पदों में रसात्मकता
  3.3.3.4. चमत्कार-प्रदर्शन
  3.3.3.5. पदों में अर्थ गौरव की क्षमता
  3.3.3.6. समाहार शक्ति
  3.3.3.7. अलंकार विधान
3.3.4. बिहारी मुक्तक कवि की दृष्टि से
  3.3.4.1. बिहारी रसात्मक मुक्तकों में
    3.3.4.1.1. बिहारी के मुक्तकों में कृष्णकाव्य-परम्परा
    3.3.4.1.2. प्राकृत मुक्तक काव्य-परम्परा का आधार
    3.3.4.1.3. प्रकृति-चित्रण की परम्परा
  3.3.4.2. बिहारी धार्मिक-मुक्तकों में
  3.3.4.3. बिहारी सूक्ति-मुक्तकों में
  3.3.4.4. बिहारी प्रशस्ति-मुक्तकों में
3.3.5. पाठ-सार
3.3.6. बोध प्रश्न
3.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मुक्तक काव्य की अवधारणा, अर्थ और विविध रूपों को जान सकेंगे।
ii. मुक्तक काव्य के गुणों का अध्ययन कर सकेंगे।
iii. मुक्तक कवि के रूप में बिहारी के वैशिष्ट्य से अवगत हो सकेंगे।

iv. रसात्मक मुक्तकों कृष्णकाव्य-परम्परा, प्राकृत मुक्तक काव्य-परम्परा और प्रकृति-चित्रण की परम्परा में बिहारी की निपुणता से परिचित हो सकेंगे।

v. धार्मिक-मुक्तकों, सूक्ति-मुक्तकों, प्रशस्ति-मुक्तकों में बिहारी की काव्य-कला को समझ सकेंगे।

3.3.1. प्रस्तावना

साहित्यिक दृष्टि से काव्य के दो रूप होते हैं प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य में एक प्रकार का प्रवाह होता है जबकि मुक्तक काव्य में ऐसे प्रवाहात्मक प्रबन्ध का होना आवश्यक नहीं है परन्तु इसके लिए मुक्तककार को कई बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता है। मुक्तक काव्य उन काव्यों को कहा जाता है जो अपने रसास्वादन में स्वयं ही सामर्थ्य रखते हों और इसके साथ ही उससे निष्पन्न होने वाले अर्थों की अभिव्यक्ति भी स्वयं ही करते हों। 'अग्निपुराण' में मुक्तक को परिभाषित करते हुए कहा गया है – "मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम: सताम्।" अर्थात् चमत्कार की क्षमता रखने वाले एक ही श्लोक को मुक्तक कहते हैं।

मुक्तक उसे कहा जाता है जो अकेले ही सहृदय पाठकों के हृदय को चमत्कृत करने की क्षमता रखता हो। अपने स्वरूप के अनुसार मुक्तक का प्रत्येक छन्द अपनी विभिन्न आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं को अपने में ही समाहित किए रहता है। प्रबन्ध की तरह उसके छन्दों के पद परस्पर आश्रित नहीं रहते बल्कि प्रत्येक पद की अपनी स्वतन्त्र सत्ता होती है, जिसके भीतर ही उसके सारे चमत्कार तथा सभी उपादानों के साथ-साथ उसके अर्थ की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। मुक्तक शब्द के दो अर्थ और हैं – प्राप्त मोक्ष तथा आनन्दित। इसी मुक्त की संज्ञा मुक्तक है। यदि इन समस्त अर्थों की संगति बिठाई जाए तो मुक्तक का अर्थ होगा – "ऐसा पद्य जो परत निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेषताओं से युक्त हो, अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण जो आनन्द देने में समर्थ हो, जिसका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द-सहोदर रसचवण के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करने वाला हो।" संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी एक पद रचना में जब विषय का सर्वांग वर्णन कर दिया जाए और उसके अर्थ अथवा अन्य किसी भी अंग की अभिव्यक्ति के लिए जब किसी अन्य पद रचना की आवश्यकता न हो तो उसे मुक्तक काव्य कहते हैं।

3.3.2. मुक्तक के भेद और बिहारी का मुक्तक काव्य

साहित्य में मुक्तकों के चार प्रकार बताए जाते हैं – (i) रसात्मक मुक्तक, (ii) धार्मिक मुक्तक, (iii) प्रशस्ति मुक्तक और (iv) सूक्ति मुक्तक। रसात्मक मुक्तकों में रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय, भावशान्ति और भाव शबलता जैसे तत्त्वों का समावेश होता है। यहाँ भाव का सम्बन्ध मनुष्य और प्रकृति दोनों से ही सम्बद्ध होता है। धार्मिक मुक्तक का सम्बन्ध वेद, पुराण, स्तोत्र और देव विषयक भावों से होता है। प्रशस्ति मुक्तक अपने नामानुसार ही विभिन्न राजाओं और आश्रयदाताओं के महान् कृत्यों से सम्बद्ध होता है जिसमें उनकी

वीरता, सौन्दर्य, दानवीरता और उनके व्यवहारों का उल्लेख होता है। सूक्ति मुक्तक का सम्बन्धी विभिन्न चमत्कारों से है। इनमें उक्ति वैचित्र्य, कल्पनागम्यता, वर्णन विचित्रता, शब्द तथा अर्थजन्य चमत्कार देखे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक के दो उपभेद किए गए हैं – (i) पाठ्य मुक्तक और (ii) गीति मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में रचनाकार अपने अनुभवों में रस का सन्निवेश कर पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत कर सहृदय पाठकों को अपनी अनुभूतियों का रसपान कराता है जबकि गीति मुक्तक माध्यम में कवि या रचनाकार अपनी अनुभूतियों का प्रस्तुतीकरण संगीतात्मक तरीके से बड़ी ही मधुरता के साथ करता है जिससे उसकी ये अनुभूतियाँ एक गीत का स्वरूप धारण कर लेती हैं। बिहारी की एकमात्र रचना 'सतसई' इसी श्रेणी की रचना है। इस एकमात्र कृति से ही बिहारी साहित्य के कीर्ति स्तम्भ बन गए। उनकी सतसई के लिए कहा भी जाता है –

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥

कथन से ही स्पष्ट है कि बिहारी का मुक्तक काव्य छोटे पदों की रचना होकर भी व्यापक अर्थों को अपने में समाहित किए हुए है। बिहारी ने नीति, शृंगार, भगवद्भक्ति जैसे विषयों को चुनकर उनके निरूपण के लिए स्फुट पद रचनाएँ रचीं।

3.3.3. मुक्तक काव्य के गुण

बिहारी का एक मुक्तक कवि के रूप में अध्ययन करने से पूर्व मुक्तक काव्य के गुणों को समझना आवश्यक हो जाता है। किसी भी मुक्तक काव्य में पूर्वापर निरपेक्षता, मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख, पदों में रसात्मकता, चमत्कार-प्रदर्शन, पदों में अर्थ गौरव की क्षमता, समाहार शक्ति तथा अलंकार विधान जैसे गुण काव्य को मुक्तक काव्य का पद दिलाते हैं।

3.3.3.1. पूर्वापर निरपेक्षता

प्रत्येक मुक्तक अपनी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता रखता है अतः मुक्तक काव्य के रचयिता को आकार की दृष्टि से अत्यन्त सीमित क्षेत्र में असीमित भावों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। बिहारी के दोहों में यह गुण स्पष्टतः दिखाई देता है। उनका प्रत्येक दोहा पूर्वापर निरपेक्षता का परिचायक है। किसी भी प्रसंग के भावों की अभिव्यक्ति बिहारी अत्यन्त कम शब्दों में कर देते हैं। अर्थपूर्णता के कारण उन पदों को अधिक या अन्य पदों का सहारा नहीं लेना पड़ता किन्तु यह तभी सम्भव हो पाता है जब पाठक उन पदों को पढ़ते हुए उसका अर्थ समझने के लिए दृश्यों का सही आकलन करें।

3.3.3.2. मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख

मुक्तककार का मार्मिक प्रसंगों का चयन महत्त्वपूर्ण होता है। न्यूनतम शब्दों में पूर्ण अर्थ के साथ सामान्य जनजीवन और पाठकों की मनोवृत्ति के अनुरूप प्रसंगों का चयन ही मुक्तक काव्य के लिए वांछित होता है। इसके विपरीत अर्थवैविध्यता तथा भिन्न परिवेश भावों के सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। अतः मुक्तककार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह मार्मिक प्रसंगों का सटीक उल्लेख करे ताकि पाठकों का अर्थ-ग्रहण दूषित न होने पाए।

3.3.3.3. पदों में रसात्मकता

रसात्मकता किसी भी काव्य का आधार होती है। रसविहीन रचना काव्य की कोटि में नहीं आ सकती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।" शुक्ल जी जिस रसधारा की बात करते हैं निस्सन्देह मुक्तक में उसका प्रवाह कम ही मिलता है क्योंकि उसका वर्णनावकाश बेहद कम होता है जिससे मुक्तक से मिलने वाले रस का प्रभाव अधिक समय तक संचरित नहीं हो पाता। फिर भी अत्यल्प शब्दों और पदबन्धों में व्यापक बात कर जाना मुक्तककार का काव्य-कौशल ही तो है। बिहारी के दोहों में यह रसात्मकता प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है।

3.3.3.4. चमत्कार-प्रदर्शन

बिहारी रीतिकालीन कवि हैं। रीतिकालीन कवियों में ज्ञान और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के अनुरूप ही उनकी रचनाओं में भी चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति विद्यमान है। काव्य में यह चमत्कार यद्यपि काव्यशास्त्र के दस भेदों के अनुरूप ही हुआ करता है जिनमें शब्दगत, अर्थगत, आलंकारिक, रसात्मक, वृत्तिगत, प्रख्यात, अविचारित रमणीय, विचारित रमणीय, सूक्ति व्यापक और उपदेश व्यापक चमत्कार शामिल हैं। बिहारी की रचना में चमत्कार के इन दसों भेदों का निर्वाह देखा जा सकता है बल्कि यूँ कहें कि उनका हर दोहा किसी न किसी चमत्कार का उदाहरण है।

3.3.3.5. पदों में अर्थ गौरव की क्षमता

कम शब्दों में व्यापक अर्थ और भावों की अभिव्यंजना अर्थ गौरव कहलाता है। बिहारी के दोहों के लिए "सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर। देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥" उक्ति प्रचलित है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी के छोटे-छोटे दोहे अपने में विस्तृत अर्थभावों को समाहित किए हुए हैं।

3.3.3.6. समाहार शक्ति

अल्पावकाश में व्यापक अर्थों की अभिव्यंजना के लिए कवि को अपनी भाषा और शब्दावली के साथ साथ कल्पनाओं के सन्दर्भ में भी समाहार शक्ति को प्रस्तुत करना पड़ता है। बिहारी की कल्पना तथा भाषा की समाहार शक्ति भावों का उत्कर्ष करने वाली और उनमें गम्भीरता निहित करने वाली है । बिहारी की अपूर्व सफलता का एक कारण यह समाहार शक्ति भी है।

3.3.3.7. अलंकार विधान

अलंकारों की दृष्टि से भी बिहारी की सतसई एक सफल रचना है जिसमें अलंकारों के साथ-साथ काव्य-सौन्दर्य में वृद्धिकारक अन्य तत्त्व भी समाविष्ट हैं। भाषा, रस, अलंकार, अर्थव्यंजना, छन्द आदि सभी काव्यगुणों की प्रयुक्ति से सतसई एक उत्कृष्ट रचना के रूप में साहित्य में समादृत है। इसी आधार पर बिहारी एक सफल मुक्तक कवि माने जाते हैं। उनके दोहे मुक्तक की समस्त विशेषताओं से युक्त है।

3.3.4. बिहारी मुक्तक कवि की दृष्टि से

बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं । ये रीतिसिद्ध काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं । रीतिसिद्ध उन कवियों को कहा गया है जिनका काव्य काव्यशास्त्रीय ज्ञान से तो आबद्ध था किन्तु वे रीतिबद्ध कवियों की भाँति लक्षणों के फेर में नहीं पड़े। बिहारी को काव्यशास्त्र की सम्पूर्ण जानकारी थी । इनके मुक्तकों पर काव्यशास्त्रीय छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है । उनकी एकमात्र रचना 'सतसई' में बिहारी की बहुज्ञता, प्रकृति-चित्रण, शृंगारिक नख-शिख वर्णन, नीतिपरक उपदेशात्मकता जैसे अनेक गुण विद्यमान हैं।

3.3.4.1. बिहारी रसात्मक मुक्तकों में

बिहारी के रसात्मक मुक्तकों में तीन प्रकार की परम्पराओं का प्रयोग मिलता है – (i) कृष्ण काव्य-परम्परा, (ii) प्राकृत काव्य-परम्परा और (iii) प्रकृति-चित्रण की परम्परा । मुक्तक की कृष्ण काव्य-परम्परा में बिहारी ने कृष्ण और राधा का वर्णन साधारण नायक-नायिका के तौर पर किया है। साथ ही यहाँ कृष्ण के व्यक्तित्व-कृतित्व और विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति को लेकर पूर्ववर्ती परम्पराओं का आधार लिया गया है । इन परम्पराओं का सूत्रपात जयदेव और विद्यापति ने किया था। मुक्तक की दूसरी परम्परा में बिहारी ने प्राकृत काव्य-परम्परा को आधार बनाया है जिसमें कवि ने सामान्य लोकजीवन को मुख्यतः चित्रित किया है। इस परम्परा के अन्तर्गत कवि ने विशिष्ट स्थान, घटनाओं तथा लोकजीवन में व्याप्त विविध चेष्टाओं को वर्णित किया है । मुक्तक की तीसरी परम्परा के अन्तर्गत प्रकृति-चित्रण की परम्परा देखी जा सकती है जिसमें बिहारी ने षड्ऋतु-वर्णन के साथ-साथ प्रकृति के विविध उपादानों पर भी दृष्टिपात किया है।

3.3.4.1.1. बिहारी के मुक्तकों में कृष्णकाव्य-परम्परा

बिहारी ने परवर्ती कवियों की तरह राधा और कृष्ण का मनमाना महिमा-मण्डन नहीं किया बल्कि उनके मुक्तकों में यही राधा और कृष्ण एक साधारण नायक-नायिका के रूप में भी चित्रित हुए हैं। अर्थात् बिहारी ने कृष्णकाव्य का लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार से चित्रण किया है। इस सन्दर्भ में बिहारी पर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव देखा जा सकता है। उनका चरित्रांकन भी लोक मर्यादाओं के अनुरूप ही हुआ है। नायिका और गोपियों में सुन्दर और मनमोहक कृष्ण के दर्शन और आकर्षण के प्रति लोकमर्यादाओं की आबद्धता मिलती है। एक स्थान पर कृष्ण से आकृष्ट हुई नायिका कृष्ण को अपनी छत इस प्रकार निहारती है –

ठाढ़ी मन्दिर पै लखे मोहन दुति सुकुमारि।
तन थकैहूँ ना थके चख चित चतुर निहारि॥

नायक के सौन्दर्यातिरेक की स्थिति में नायिका के मन की छटपटाहट और व्याकुलता की स्थिति का कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं –

उर लीने अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं निकासी हुलसी सु तौ गौ हुल सी हिय लाइ॥

अर्थात् कृष्ण की बाँसुरी की धुन सुनकर व्याकुल नायिका द्वार पर आती है और कृष्ण का सौन्दर्य नायिका के हृदय पर तीक्ष्ण और नुकीले भाले की तरह चुभने लगता है। लोकमान्यता के अनुरूप नायिका की सखियाँ कई बार उसे कृष्ण से विमुख होने के लिए भी कहती हैं परन्तु किसी भी प्रकार के यशोपयश से परे जाकर नायिका नायक कृष्ण को अपने से दूर नहीं होने देती। सखियाँ नायिका के मन में स्वाभिमान और सम्मान के भावों को जगाने का प्रयास करती हैं परन्तु सारे प्रयास धरे के धरे रह जाते हैं। नायिका उन्हें इसलिए भी टाल देती है कि कहीं उसके मनमन्दिर में बैठे कृष्ण उन विरोधी उपदेशों को सुनकर नाराज न हो जाएँ। अपनी विवशता जाहिर करते हुए वह कहती है –

जसु अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात।
कहा करौ लालच भरे चपल नैन चली जात॥

नायक-नायिका के मिलन की स्थिति अर्थात् अभिसार प्रसंग का चित्रण भी कवि बड़ी ही कुशलता के साथ करते हैं। राधा-कृष्ण के मिलन के प्रसंग का वर्णन करते हुए बताते हैं कि एक बार राधा-कृष्ण परस्पर रूप धारण कर अभिसार का आनन्द ले रहे होते हैं तो वहाँ उनकी उस रतिक्रीड़ा में भी प्रेम रति का आनन्द मिलता है।

नायक-नायिका के हास-परिहास का वर्णन भी कवि ने किया है। एक बार नायिका राधा नायक कृष्ण की बाँसुरी छिपा लेती है और कृष्ण के माँगने पर अपनी अनभिज्ञता जाहिर कर देती है जिससे निराश नायक कृष्ण लौटने के लिए उद्यत ही होते हैं कि नायिका के चेहरे के हावभाव और भौंह पर एक स्मित हास्यभाव का संचार हो

जाता है जिससे कृष्ण आश्वस्त हो जाते हैं कि उनकी बाँसुरी नायिका ने ही छिपाई है। इस स्थिति की बिहारी ने इन पदों में अभिव्यक्त किया है –

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहन हँसे दैन कहै नटी जाइ॥

बिहारी ने नायक-नायिका वर्णन में सखियों और दूतियों के प्रयोग को भी वर्णित किया है । ये सखियाँ और दूतियाँ नायक-नायिका के बीच भाव-सम्प्रेषण का महत्त्वपूर्ण माध्यम होती हैं । नायक और नायिका के बीच स्वभावजन्य अनभिज्ञता की स्थिति में इन दूतियों का विशेष स्थान होता है, विशेषकर विरह की स्थिति में । एक स्थान पर नायक की दूती नायिका को नायक की स्थिति से परिचित करवाती हुई कहती है –

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान॥

ये दूतियाँ राधा को रिझाने के लिए कभी कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का भी बड़ा मनोहारी वर्णन कर देती हैं तो कभी राधा के कृष्णप्रेम में वशीभूत हो जाने के बाद उनके प्रेम को बनाए रखने तो कभी राधा के लिए कृष्ण के मन में यह भाव बनाए रखने के लिए एक-दूसरे की स्थिति और सौन्दर्य तथा वियोगजन्य पीड़ा को भी अभिव्यक्ति देती रहती हैं । बिहारी ने दूतियों की सभी वृत्तियों को अपने मुक्तकों में स्थान दिया है। दूतियों के कोई भी कार्य उनकी दृष्टि से अछूते नहीं रहने पाए हैं।

सखियों और दूतियों में अन्तर होता है। बिहारी ने अपने मुक्तकों में इस भेद को भावगोपन की स्थिति में अभिव्यक्त किया है । नायिका अपनी मनोदशा, वेदना और व्याकुलता के भावों को सभी के साथ नहीं बाँट सकती । नायक के साथ अपने अभिसार के दौरान देर हो जाने के कारण अपनी देरी का कारण वह छिपाती है । इसी तरह प्रिय के आगमन की उद्विग्नता को भी नायिका छिपाने का प्रयास करती रहती है परन्तु नायिका की अन्तरंग सखियाँ नायिका के भावों को समझ ही जाती हैं अर्थात् उन सखियों के आगे राधा के भावों की गोपनीयता टिक नहीं पाती । कृष्ण के आगमन से मन ही मन खिल उठी राधिका अपना आन्तरिक आनन्द व्यक्त तो नहीं करती परन्तु उसे देख कहती हैं –

पूछै क्यों रूखी परति सगिवागी गई सनेह।
मन मोहन छवि पर कटी कहै कट्यानी देह॥

ऐसा नहीं है कि प्रेम में नायक और नायिका का मिलन हर समय सम्भव हो । कभी-कभी प्रेमिका अपने प्रिय की बाट जोहती रह जाती है । फलतः इस विरह के अतिरेक के कारण नैराश्य ही उसके हाथ आता है । बिहारी ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए वियोगी मन की हालत का भी चित्रांकन किया है । प्रिय के मिलन न होने से वियोगिनी नायिका कभी क्रुद्ध होकर तो कभी प्राकृतिक उपादानों में अपनी अरुचि दिखाकर अपनी पीड़ा जताती

है। इस प्रकार हम पाते हैं कि बिहारी ने प्रेमकाव्य के किसी भी अंग को अछूता नहीं रहने दिया है। उनके वर्णनों में प्रेम के सभी भाव अभिव्यक्ति पाते हैं।

कृष्णकाव्य का वर्णन करते हुए बिहारी के मुक्तकों में कृष्ण का चरित्रांकन, उनके जीवन के कई महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख, उनकी विविध लीलाओं के साथ-साथ उनके लोकाभिमुख और लोकोत्तर महती कृतित्व का वर्णन भी किया गया है परन्तु बिहारी की मुक्तक प्रवृत्ति के अनुरूप यह लेखन अत्यल्प है तथा इनमें आकर्षण भी प्रतीत नहीं होता। चीर हरण, रास रचना, उद्धव प्रकरण के साथ-साथ कृष्ण के लोकोत्तर कार्यों में पूतना वध, गोवर्धन पर्वत उठाना, अघासुर का वध, रुक्मिणी का हरण, दावानल का पान कर जाने वाले प्रकरणों का उल्लेख किया है परन्तु ये वर्णन कृष्णकाव्य में शृंगार रस के वर्णन की दृष्टि से गौण कहे जा सकते हैं क्योंकि इन प्रसंगों में बिहारी का मन अधिक नहीं रमा है। वे उनके चरित्र में लौकिकता का सन्निवेश करना चाहते थे।

3.3.4.1.2. प्राकृत मुक्तक काव्य-परम्परा का आधार

मुक्तकों की परम्परा में बिहारी ने सामान्य लोकजीवन पर आधारित पद रचे। बिहारी राजाश्रयी कवि तो थे ही परन्तु प्रजा जीवन भी उनके दृष्टि-स्पर्श से दूर नहीं था। उन्होंने राजकीय जीवन के साथ-साथ सामान्य सामाजिक जीवन को भी चित्रित किया। प्राकृत परम्परा के इन दोहों में विशेष बात यह है कि इनमें वर्णित बिहारी का यह समाज सुखी सम्पन्न और हर दृष्टि से सन्तुष्ट समाज है। राजकीय जीवन की तरह ही वहाँ भी विलासिता का माहौल है। मद्यपान, प्रणय, दाम्पत्य जीवन के विविध पक्ष एवं भावों के साथ सामाजिक सम्पन्नता के परिवेश को उजागर करने वाला यह समाज निम्नवर्गीय समाज की पहुँच से दूर था। यहाँ जिन नायक-नायिकाओं का वर्णन किया गया है, वे अत्यन्त कोमल और सुकुमार से जान पड़ते हैं यद्यपि कुछ दोहों में ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति भी बिहारी ने की है।

बिहारी के यहाँ जिन प्रसंगों, घटनाओं का आश्रय लिया है उनमें कल्पनागम्यता देखी जा सकती है। यह कल्पनागम्यता प्राकृत काव्य-परम्परा का आधार थी। हास-परिहास, भावुकता के क्षण, संवेदनशीलता, उपदेशपरकता आदि कई प्रवृत्तियाँ इनमें समाई रहती हैं। इन प्रवृत्तियों को चन्द छन्दों में प्रस्तुत करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है परन्तु इन सभी प्रवृत्तियों को मुक्तक के दोहों में बिहारी ने बखूबी पिरो दिया है। बिहारी इस कार्य में कुशल हैं इसीलिए उनके दोहों को 'गागर में सागर भरने' की उपमा दी जाती है। प्रणय के कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ बिहारी ने एक चमत्कार की तरह भावों के विभिन्न चित्रों को उकेर दिया है। एक प्रसंग में नायक-नायिका एक भवन में परस्पर नेत्रों से ही वार्तालाप करके प्रणय की भिन्न-भिन्न भाव-भंगिमाओं से अपने भावों को अभिव्यक्त कर रहे हैं –

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात॥

इस दोहे में बिहारी ने नायिका के भिन्न-भिन्न और विस्तृत भावों को दो पंक्तियों में ही पूरी अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत कर दिया है।

रीति की दृष्टि से बिहारी के दोहों में वैदर्भी रीति और गौड़ी रीति की प्रधानता दिखाई देती है। इनमें भी अधिकतर दोहे वैदर्भी रीति के ही हैं परन्तु कई जगह गौड़ी रीति परम्परा के भी उदाहरण मिल जाते हैं। वैदर्भी रीति सरल और सापेक्ष चित्रण का प्रतिनिधित्व करती है तो गौड़ी रीति में राजाश्रयी की अत्युक्ति विद्यमान है। सतसई में कई ऐसे दोहे हैं जहाँ बिहारी ने भावातिरेक दिखाया है अथवा वर्णन में अत्युक्ति या अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है। नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग, संयोग-वियोगजन्य स्थिति, नायिका का नख-शिख वर्णन, शृंगार वर्णनादि में इन अतिशयोक्तियों को भी देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त रसानुभूति, संयोग-वियोग आदि प्रकरणों में भी बिहारी के मुक्तक सफल कहे जाते हैं।

3.3.4.1.3. प्रकृति-चित्रण की परम्परा

मुक्तक परम्परा में प्रकृति-चित्रण का महत्त्व होता है जिसमें षड्ऋतु तथा बारहमास का वर्णन किया जाता है। बिहारी ने कुछ ऋतुओं का आलम्बन रूप में जबकि कुछ ऋतुओं का उद्दीपन रूप में वर्णन किया है। वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए बिहारी प्रकृति के बदलते रूप और वातावरण का बड़ा ही मनोहारी चित्रण करते हैं। आम के पेड़ों का बौरा जाना, कोंपलें निकलना, उपवन में बहुरंगी फूलों का खिलना, टेसू के फूलों का उगकर उपवन की शोभा बढ़ाना और वियोगिनियों को प्रिय मिलन के लिए व्यथित करना, होली उत्सव के दृश्य आदि का बिहारी ने अपने मुक्तकों में बड़ा ही मनोरम दृश्य चित्रित किया है। वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है। ग्रीष्म की उष्णता का वर्णन बिहारी इस प्रकार करते हैं –

बैठी रही अति सघन वन पैठि सदन तन मांहि।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहती छाँह॥

अर्थात् जेठ की दुपहरी में उष्णता इतनी अधिक है कि छाँव भी मानों छाया की चाह कर रही हो। इसी प्रकार से और भी कई ऐसे मुक्तक मिलते हैं जहाँ बिहारी ने बदलती जलवायु का भी उल्लेख किया है। मसलन हवा का अचानक रुक जाना, अचानक बहने लगना, लू चलना, संध्याकाल में शीतल हवा की फुहारें आना आदि का वर्णन कवि ने अपने मुक्तकों में किया है।

ग्रीष्म के बाद वर्षा ऋतु पर कवि की लेखनी अधिक चली है। नायिका के मानमर्दन की विवशता को लेकर कवि कहते हैं –

कौन सुनै कासौं कहौ सुरति बिसारी नाइ।
बदाबदी ज्यों लेत हैं ऐ बदरा बदराइ॥

वर्षा ऋतु में श्याम घन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों वे नायिका के प्राणों को हरने का प्रयास कर रहे हों । वर्षा ऋतु वैसे भी उद्दीपक मानी जाती है। बिहारी कहते हैं कि नायिका चाहे कितना ही मान कर ले किन्तु वर्षा ऋतु के आते ही सारा मान ढहोमान हो जाता है। वर्षा ऋतु के आगे किसी का मान टिक भी नहीं सकता। वर्षा ऋतु के समय समस्त प्रकृति नया आवरण धारण करती है । यूँ तो प्रकृति में शीतलता होती है परन्तु यह शीतलता वियोगिनियों के मन को जलाती है। उन्हें विरह पीड़ा का दंश भुगतना पड़ता है। ऐसे में किसी भी नवोढ़ा का मान कैसे टिक सकता है।

ऋतु परिवर्तन के अनुरूप शरद ऋतु में श्याम घन हटने के बाद चन्द्रमा अपना अद्भुत प्रकाश धरती पर बिखेरता है। प्रायः सभी कवियों ने शरद ऋतु के वर्णन में मुख्यतः चन्द्रमा को वर्णित किया है। ऐसे ही बिहारी ने भी अपने मुक्तक दोहों में शरद ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया है–

घन घेरा छुटिगो हरषि चली चहूँ दिसी राह।
कियो सुचैनो आइ जगु सरद सूर नरनाह॥

इस प्रकार प्रस्तुत दोहा में जहाँ एक ओर ऋतु वर्णन है वहीं दूसरी ओर इसका सम्बन्ध तात्कालिक राज व्यवस्था से भी है। शरद ऋतु के बाद हेमन्त ऋतु का क्रम आता है। बिहारी हेमन्त ऋतु की विशेषता बताते हुए लिखते हैं –

कियौ सर्ब जग काम वसु जीते जीते अजेय।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर अगहनु गहन न देइ॥

अर्थात् हेमन्त ऋतु में फूलों की कमी हो जाती है और ये फूल कामदेव के बाण स्वरूप ही होते हैं परन्तु इस हेमन्त ऋतु ने सारे संसार को काम पाश में बाँध दिया है। अब कामदेव को इन फूलों रूपी बाणों को धारण करने की क्या आवश्यकता है। कामदेव के इस बाण को न धारण करने के कारण ही इस मास का नाम अगहन है। अगहन यानी ग्रहणरहित। बिहारी के अनुसार हेमन्त ऋतु यौवन सुख को भोगने की दृष्टि से अच्छा समय होता है जिसकी अभिव्यक्ति भी वे यहाँ करना चाहते हैं। हेमन्तु ऋतु के वर्णन में बिहारी ने प्रकृति के कई बदलावों के साथ-साथ विभिन्न जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों आदि की गतिविधियों को भी वर्णित किया है।

हेमन्त के बाद शिशिर ऋतु का भी वर्णन बिहारी ने अपने मुक्तकों में किया है। इस प्रकार बिहारी के मुक्तकों में षड्ऋतुओं का व्यापक और गहन वर्णन मिलता है। ऋतु-वर्णन के अलावा बिहारी के मुक्तकों में प्रकृति के अन्य रूपों का भी चित्रण हुआ है। रात्रि के समय के विविध प्रसंगों का वर्णन, दिन की गतिविधियों का वर्णन, बाग़-बगीचों का वर्णन, यमुना तट पर नायक-नायिका की भाव-भंगिमाओं के सौन्दर्य का वर्णन आदि प्रसंगों में भी कवि का मन खूब रमा है। प्रभातकालीन सौन्दर्य का आकर्षक और मनोहारी चित्रण करते हुए बिहारी कहते हैं –

नभ लाली चाली निशा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आए वन मालीन॥

3.3.4.2. बिहारी धार्मिक-मुक्तकों में

धार्मिक दृष्टि से रीतिकाल विशेषतः बिहारी का समय अनेक शाखाओं और सम्प्रदायों में विभक्त था। नाना प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय अपने शक्ति-प्रदर्शन में लगे हुए थे। सगुणोपासना और निर्गुणोपासना के बीच पारस्परिक विवाद, वैमनस्य तथा विरोध की स्थिति प्रबल थी अतः कहा जा सकता है कि बिहारी की रचनाओं का समय धार्मिक दृष्टि से विचलनकारी था किन्तु बिहारी ने इन परिस्थितियों में भी अपनी रचनाओं में समन्वय की भावना के प्रचार के साथ धार्मिक एकात्मता का पाठ भी पढ़ाया। उनके मुक्तकों में समन्वय और एकता के भावों को देखा जा सकता है। बिहारी की मान्यता थी कि सभी उस एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं, केवल उनकी पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। धार्मिक दृष्टि से जो विवाद किया जाता है वह विवाद अपनी-अपनी उपासना-पद्धतियों और मान्यताओं को लेकर है न कि परमात्मा के भेद के कारण। वे कहते हैं –

अपने अपने मत लगे वादी मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबको सेइवों एकै नन्द किशोर॥

इस प्रकार बिहारी के मुक्तकों में निर्गुण-सगुण भेद, उपासना-पद्धतियों को लेकर विभेद आदि की दृष्टि से समन्वय भावना का प्रदर्शन हुआ है। कृष्ण के अनन्य भक्त होकर भी इनके दोहों में राम और कृष्ण के एकाकार के अंश मिलते हैं।

बिहारी ने सांसारिक जीवन में रहकर परमात्मा के आगे सुख और मोक्ष की भी याचना की है। बिहारी ने कई मुक्तकों की रचना कर परमेश्वर से इस भवसागर से पार करने की प्रार्थना की है। बिहारी ने भक्ति को सर्वोपरि माना है और जन सामान्य को भी भक्ति का सन्देश दिया है। वे कहते हैं –

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ॥

भक्तिप्रद उपदेश के साथ-साथ बिहारी आलंकारिक प्रयोग भी करते चलते हैं। बिहारी के दोहों में भगवान् की स्तुति, प्रार्थना, विनय, उनके नामस्मरण का उपदेश किया गया है। कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी परोक्ष रूप से भी वे ईश्वर-स्तुति पर बल देते हैं। प्रभु के प्रति आस्था और विश्वास जताने के साथ ही बिहारी ने परब्रह्म के अलौकिक स्वरूप की भी वन्दना की है। इस प्रकार के दोहों में उनकी दार्शनिक दृष्टि परिलक्षित होती है। एक उदाहरण देखिए –

मोहनि-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सु चित्त-अन्तर, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ॥

बिहारी के दोहे उनके भक्त-हृदय, सामाजिक समन्वय तथा जातीय एकात्मकता के भाव के परिचायक हैं।

3.3.4.3. बिहारी सूक्ति-मुक्तकों में

बिहारी ने अनेक उपदेशात्मक सूक्तियों की भी रचना की है जिनमें सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषयों का समावेश है। बिहारी की इन सूक्तियों में सन्तकाव्य का प्रभाव देखा जा सकता है। इन सूक्तियों में बिहारी ने संन्यास अथवा वैराग्य, गुरु की महत्ता का प्रतिपादन, नामस्मरण, परमात्मा में विश्वास, जीवन के विविध रंग, बाह्याचार का विरोध, मानसिक निर्मलता, ईश्वर के प्रति एकनिष्ठता, सत्संग का माहात्म्य, सदाचार, भगवान् की भक्ति जैसे विषयों पर कलम चलाई है। बाह्याचार के विरोध में वे लिखते हैं –

जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन-काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ॥

इसी तरह नामस्मरण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं –

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाउ।
तरि संसार पयोधि कौं हरि नावैं करि नाउ॥

बिहारी की रचनाओं में उनका अर्थज्ञान भी परिलक्षित होता है। आय में वृद्धि के कारण आवश्यक वस्तुओं से अधिक खर्च वैभव विलासिता के उपकरणों पर होने लगता है। वे कहते हैं –

बढ़त बढ़त संपति सलिलु मन सरोजु बढ़ जाइ ।
घटत घटत सु न फिरि घटै वरु समूल कुम्हलाइ॥

एक अन्य स्थान पर बिहारी गरीबों और निर्धनों के शोषण के लिए राजा को उत्तरदायी बताते हुए राजा पर ही शोषण का आरोप लगाते हैं। वे कहते हैं कि धनवान लोगों को किसी भी प्रकार से पीड़ित नहीं किया जा सकता बल्कि निर्धन व्यक्ति को हर तरफ से दबाव का ही सामना करना पड़ता है –

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक राजा रोग ॥

3.3.4.4. बिहारी प्रशस्ति-मुक्तकों में

बिहारी दरबारी कवि थे। तत्कालीन दरबारी कवियों में अपने आश्रयदाताओं के गुणगान की प्रवृत्ति प्रखर थी। यद्यपि बिहारी ने भी अपने आश्रयदाता का गुणगान किया है परन्तु उनके मुक्तकों में इस प्रकार के प्रशस्ति-गान की संख्या बेहद कम ही है फिर भी बिहारी ने जिन चंद प्रशस्ति मुक्तकों की रचना की है उससे उनके आश्रयदाता राजा जयसिंह की वीरता, उनके महान् योद्धा होने, उनकी दानवीरता और उनके आकर्षक व्यक्तित्व का परिचय मिल जाता है। बिहारी राजनैतिक दृष्टि से काफी संवेदनशील कवि रहे। अपने मुक्तकों में आश्रयदाता की प्रशंसा से

अधिक उन्हें कर्त्तव्यपरायणता का सन्देश बिहारी ने अपनी संवेदनशीलता का परिचय दिया है। अपने राजा की वीरता और दानवीरता की प्रशंसा में वे लिखते हैं –

रहति न रन जयसाहि-मुख लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

इस प्रकार बिहारी ने अपनी रचनाओं में मुक्तक के चारों प्रकारों का विधान किया है। उन्होंने काव्य के सभी अंगों तथा विषयों पर रचना की है जिससे उनके एक मुक्तक कवि के प्रतिनिधि होने के संकेत मिल जाते हैं। रीतितत्त्व, प्रेमकाव्य तथा कृष्णकाव्य, प्रकृति वर्णन, धार्मिक समन्वय, सामाजिक एकात्मता, आश्रयदाता की प्रशंसा, भिन्न-भिन्न विषयों की सूक्तियाँ समेत कोई भी विषय बिहारी की दृष्टि से अछूता नहीं रहने पाया है।

3.3.5. पाठ-सार

बिहारी एक सफल मुक्तककार हैं। उनके दोहों में मुक्तकों के सभी गुणों की विद्यमानता देखी जा सकती है। शब्दों के लिए नितान्त कम अवकाश में अत्यन्त व्यापक और विस्तृत भावों की अभिव्यंजना करना मुक्तक कवि के लिए एक दुष्कर कार्य होता है परन्तु कविवर बिहारी ने इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना किया है। अपने अद्भुत काव्य-कौशल, बहुज्ञता, पाण्डित्य एवं तात्कालिक परिस्थिति के अनुरूप बिहारी ने अपने समय में अविरोध काव्य-सृजन किया। उनके मुक्तकों में जहाँ एक ओर रीतिकाल की अभिव्यंजना हुई है वहीं दूसरी ओर उनके धार्मिक और सूक्ति मुक्तकों में भक्तिकाल के सन्तकाव्य की प्रेरणा को भी देखा जा सकता है।

3.3.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बिहारी किस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं ?

(क) रीतिमुक्त
(ख) रीतीतर
(ग) रीतिबद्ध
(घ) रीतिसिद्ध

2. मुक्तक काव्य के कितने प्रकार माने गए हैं ?

(क) चार
(ख) आठ
(ग) बारह
(घ) सोलह

3. प्रकृति-चित्रण की परम्परा किस प्रकार के मुक्तकों के अन्तर्गत परिगणित की जाती है –

(क) रसात्मक मुक्तकों में

(ख) धार्मिक-मुक्तकों में

(ग) सूक्ति-मुक्तकों में

(घ) प्रशस्ति-मुक्तकों में

4. प्रशस्ति-मुक्तकों का सम्बन्ध है –

(क) आश्रयदाताओं की प्रशंसा से

(ख) प्रजावर्ग की प्रशंसा से

(ग) ईश्वर-भक्ति से

(घ) प्रबन्धकाव्य से

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक के दो उपभेदों को स्पष्ट कीजिए।
2. साहित्य में मुक्तकों के चार कौनसे प्रकार बताए जाते हैं ?
3. बिहारी के दोहों का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करने वाली सूक्ति का अर्थसहित उल्लेख कीजिए।
4. गागर में सागर भरने से क्या तात्पर्य है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मुक्तक काव्य के गुणों का विवेचन कीजिए।
2. रसात्मक मुक्तकों की दृष्टि से बिहारी के दोहों का विश्लेषण कीजिए।
3. धार्मिक मुक्तकों की दृष्टि से बिहारी के दोहों का विवेचन कीजिए।

3.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली
2. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक काव्य, त्रिभुवन सिंह हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
3. बिहारी रत्नाकर, सम्पादक – दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ
4. बिहारी और उनका साहित्य, डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा तथा परमानन्द शास्त्री, भारत प्रकाशन मन्दिर
5. बिहारी की वाग्विभूति, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
6. कविवर बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर, ग्रन्थकार, शिवाला, बनारस
7. बिहारी रत्नाकर, डॉ॰ कृष्णदेव शर्मा तथा डॉ॰ माया अग्रवाल, अनीता प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली

❖❖❖

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 4 : बिहारी की बहुज्ञता : लोक सम्बन्धी एवं विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान

इकाई की रूपरेखा

3.4.0. उद्देश्य कथन
3.4.1. प्रस्तावना
3.4.2. बिहारी की बहुज्ञता : लोक सम्बन्धी एवं विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान
  3.4.2.1. लोक सम्बन्धी ज्ञान
  3.4.2.2. विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान
    3.4.2.2.1. ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान
    3.4.2.2.2. आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान
    3.4.2.2.3. राजनीतिशास्त्र का ज्ञान
    3.4.2.2.4. गणितशास्त्र का ज्ञान
    3.4.2.2.5. नीतिशास्त्र का ज्ञान
    3.4.2.2.6. इतिहास-पुराण सम्बन्धी ज्ञान
3.4.3. पाठ-सार
3.4.4. बोध प्रश्न
3.4.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. बिहारी की लोकसंपृक्ति एवं लोकसंसक्ति से अवगत हो सकेंगे।
ii. बिहारी के विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. बिहारी के काव्य-सृजन के उद्देश्य को समझ सकेंगे।

3.4.1. प्रस्तावना

काव्यशास्त्र की दृष्टि से कवि शब्द में कुशलता, अद्‌भुत क्षमता, प्रतिभा, विद्वता तथा बहुज्ञता जैसे कई तत्त्व समाहित होते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य हेतु की विवेचना करते हुए कहा भी है –

शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुदभवे॥

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा), लोकव्यवहार तथा शास्त्रों एवं काव्यादि के विमर्श से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञ की शिक्षा का अभ्यास – ये काव्य के तीन हेतु हैं। इसी क्रम में वे आगे कहते हैं –

"शक्ति कवित्वरूपः संस्कार विशेष: यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजंगमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान कोषकला चतुर्वार्ग्जखन्गा दिलाक्षणग्रन्थानां काव्यानं च महाकविसंवंधिनाम्। आदिग्रहणदितिहासादिनां च विमर्शनाद व्युत्पत्ति: काव्यं कर्तुविचार्यितु च ये जना जानन्ति तदुपदेशेन करने योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरित्ति ट्रे: समुदिता न तु व्यस्तास्तास्य काव्यस्योद् भावे निर्माणसमुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥" (– काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)

अर्थात् कवित्वबीजरूप की शक्ति के अभाव में कभी भी कोई रचना नहीं रची जा सकती। चल, अचल लोकोक्ति, छन्द, व्याकरण, अभिधानकोष, विविध कलाएँ, चतुर्वर्ग का ज्ञान, गज, अश्व-खंग आदि के लक्षण-ग्रन्थों का अध्ययन, महाकवियों के काव्यों का अवलोकन तथा काव्यस्रष्टाओं एवं जानकारों के मार्गदर्शन के साथ अध्ययन आदि सभी काव्य हेतु हैं।

बहुज्ञता से तात्पर्य है कई विषयों का ज्ञान। इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक कवि में बहुज्ञता का गुण होना चाहिए किन्तु यह अनिवार्य तत्त्व नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे विभिन्न शास्त्रों आदि का सामान्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे कि किसी विषय अथवा शास्त्र का प्रसंग उपस्थित होने पर कोई प्रतिकूल कथन न कहा जाए। बिहारी की बहुज्ञता को लेकर कई विद्वानों में मतभेद है। कई आलोचकों ने बिहारी की बहुज्ञता को स्वीकार किया है जबकि बिहारी को बहुज्ञ कवि नहीं मानने वाले आलोचकों के अनुसार बिहारी के दोहों में जो विविध शास्त्रों तथा विषयों की जानकारी है वह सामान्य स्तर की है और केवल इस आधार पर उन्हें उन विषयों का विद्वान् मान लेना उचित नहीं है।

वस्तुतः बिहारी विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कवि व्यक्तित्व थे। उनके दोहों में कवित्वबीजरूप की शक्ति को सहज ही देखा जा सकता है। रीतिकालीन दरबारी कवि होकर भी उनके काव्य में शृंगारिकता के साथ-साथ लोकजीवन का चित्रण, ईश्वरभक्ति, प्रकृति-चित्रण, विविध शास्त्रों का ज्ञान स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनके द्वारा रचे गए दोहों में विविध शास्त्रों तथा लोकजीवन पर आधारित जानकारी मिलती है जिनमें आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष, चित्रकला, इतिहास, राजनीति, पुराण जैसे कई विषय सम्मिलित हुए हैं। एक राजाश्रयी जीवन जीते हुए भी बिहारी ने सामान्य जनजीवन को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। लोकजीवन के विभिन्न रीति-रिवाज, व्रत एवं त्योहार, विभिन्न संस्कारों के साथ-साथ भक्तिपरक उपदेशों पर भी लेखन किया। प्रस्तुत पाठ में बिहारी के लोक सम्बन्धी तथा विविध शास्त्र ज्ञान सम्बन्धी तथ्यों की परख कर उनकी बहुज्ञता का आकलन किया जाएगा।

3.4.2. बिहारी की बहुज्ञता : लोक सम्बन्धी एवं विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान

विद्वान् कवियों की विद्वता उनकी कविताओं में विषद् एवं पूर्ण अर्थवत्ता के साथ उभरकर सामने आती है। बहुज्ञान और पाण्डित्य-प्रदर्शन रीतिकालीन कवियों की सामान्य प्रवृत्ति रही है अतः बिहारी के काव्य में भी

लोक एवं लोकजीवन के साथ-साथ विविध शात्रों का ज्ञान के व्याज से बहुज्ञान और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति देखी जा सकती है । यद्यपि इस तथ्य को स्वीकारना होगा कि राजाश्रयी कवि होने के कारण बिहारी का लोकसम्बन्धी अनुभव व्यापक नहीं कहा जा सकता तथापि अपनी संवेदनशीलता एवं लोकसंपृक्ति के कारण तात्कालिक परिवेश का कोई कोना बिहारी की दृष्टि से अछूता नहीं रह पाया। अपनी सूक्ष्म दृष्टि तथा सृजन-क्षमता के बल पर कवि ने अपने समकालीन जीवन का समग्र वर्णन अपनी रचनाओं में किया है ।

3.4.2.1. लोक सम्बन्धी ज्ञान

बिहारी राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे । रीतिकाल के आश्रित कवियों में जन-सामान्य के प्रति उदासीनता एक आम प्रवृत्ति थी लेकिन एक वैभव और विलासिता का परिवेश मिलने के बावजूद बिहारी की रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है । उनके दोहों में उस समय के सामाजिक जीवन में व्याप्त आमोद-प्रमोद, लोक व्यवहार, संस्कार, तीज-त्योहार, जादू-टोना, विभिन्न लोकाचारों की सजीव झाँकी प्रस्तुत हुई है। इसके साथ ही तात्कालिक राजनीति से प्रेरित त्रस्त सामाजिक जीवन का चित्र भी बिहारी की रचनाओं में मिलता है । सामाजिक जीवन की परिस्थित्यानुरूप बिहारी ने भक्ति, नीति एवं उपदेशपरक दोहे रचकर समाज का यथेष्ठ का मार्गदर्शन भी किया । उल्लेखनीय है कि बिहारी ने इन लोक सम्बन्धी दोहों के माध्यम से लोक सम्बन्धी अपने ज्ञान को प्रदर्शित तो किया ही किन्तु साथ ही इन दोहों में नायक-नायिका के शृंगारपरक भावों को भी उसके पार्श्व में देखा जा सकता है । दूसरे शब्दों में कहें तो बिहारी के दोहों में उनका लोक सम्बन्धी ज्ञान और शृंगारिकता परस्पर पूरक है ।

बिहारी के समय में जन-सामान्य का जादू-टोने पर अन्धविश्वास था । कई बीमारियों, प्रेत-बाधाओं, नज़र आदि की समस्या को दूर करने के लिए जादू-टोने की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थीं । जादू-टोना लोक समस्याओं को दूर करने का महत्त्वपूर्ण साधन था। लोक में प्रचलित इन अन्धविश्वासों का उल्लेख बिहारी ने अपने काव्य में किया है । जन-विश्वास है कि यदि किसी को टोना से वश में किया गया हो तो उस पीड़ित पर से नमक और राई न्योछावर कर किसी अग्नि या टोने के निमित्त से फेंक दिया जाए तो टोना दूर हो जाता है अथवा उस टोने को जिसने किया हो उसी पर पलट जाता है । टोने के इस उलटने की क्रिया को 'लोनाना क्रिया' भी कहा जाता है । इस सन्दर्भ में बिहारी कहते हैं कि नायिका नायक को अपने नेत्रों से आकर्षित करने का प्रयास करती है परन्तु जैसे ही नायिका ने नायक अर्थात् मोहन की ओर दृष्टि डाली वह स्वयं ही बेचैन हो गई। अर्थात् यहाँ नायिका का टोना उलटा पड़ गया है –

साजे मोहन मोह कौ, मोहि करत कुचैन ।
कहा करौ उलटे परे टोने लोने नैन ॥

इसी प्रकार एक अन्य दोहा देखिए जहाँ नायिका की सौन्दर्य-शक्ति ने टोने-टोटके को विफल कर दिया है । नायिका के आने से पूर्व सभी टोलों में यही बात थी कि नायक नायिका की सौतन के वश में है परन्तु जैसे ही वहाँ

नायिका का प्रवेश होता है वह नायक को अपने सौन्दर्य-पाश में खींच लेती है जिससे उस सौतन पर टुनहाई होने अर्थात् टोना करने वाली का दोष समाप्त हो जाता है –

टुनहाई सब टोल मैं रही जु सौंति कहाइ।
सुतैं एचिप्यों आपु त्यौं करी अदोखिल आइ॥

जादू-टोने के अतिरिक्त उस समय लोक में पतंगें और कबूतर उड़ाने का भी खूब प्रचलन था। बिहारी की रचनाओं में लोकप्रिय खेल और उत्सवों का भी उल्लेख हुआ है। लोक-क्रीड़ाओं के अलावा बिहारी ने स्त्रियों और पुरुषों के मद्यपान का भी चित्रण किया है। पतंग के बहाने से नायिका की नायक के प्रति आसक्ति का वर्णन देखिए –

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुबति छबीली छाँह॥

बिहारी ने कबूतर उड़ाने के बहाने नायक और नायिका की गतिविधियों को प्रस्तुत किया है । नायक कबूतर उड़ा रहा है जिसे देख नायिका अपने नेत्रों को और ऊँचे-ऊँचे उठाकर कलाबाज़ी करते कबूतर की प्रशंसा कर अपनी सखी से नायक के प्रति अपने प्रेम और अनुराग को छिपाने का प्रयास कर रही होती है परन्तु चतुर सखी नायिका के भावों को समझ जाती है –

ऊँचे चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकति दृग मुलकति बदनु तनु पुलकित किहि हेतु॥

विवाह प्रसंग में पाणिग्रहण संस्कार (हथलेवा) एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। इस संस्कार के लिए बिहारी लिखते हैं कि पाणिग्रहण करते ही वर-वधू परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। उनके इस अनुराग का वर्णन वधू की सखी करती है –

स्वेद सलिलु रोमांच कुसू गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ संग हाथ कै हथलेयो हीं हाथ॥

विवाहोपरान्त जामाता का अपने श्वसुर के घर पर रहना अनुचित माना जाता है। बिहारी भी इस प्रथा को सामाजिक और पारिवारिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित मानते हैं। अपने दोहे के माध्यम से बिहारी ने घर जँवाई होने का दुष्परिणाम बताते हैं। नीति प्रदर्शित करते हुए बिहारी कहते हैं कि घर जँवाई की स्थिति पूस मास की तरह क्षीण होती जाती है। जिस प्रकार पूस मास में दिनमान कम होता जाता है, उसी तरह घर जँवाई का मान भी धीरे-धीरे कम होने लगता है –

आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस दिन मानु॥

इसी तरह एक अन्य सामाजिक लोकाचार के अनुरूप मायके में स्त्री अपने पति से मिलने या अन्य किसी कार्य में लोक-लाजवश सकुचाती है। बिहारी की दृष्टि से लोकजीवन की यह सूक्ष्म मनोदशा भी अछूती नहीं रह सकी। वे लिखते हैं –

छुटे न लाज न लाल चौप्यौ लखि नैहर गेह।
लटपटात लोचन खरे भरै सकोच सनेह॥

स्त्रियों के शृंगार, उनका शृंगारिक व्यवहार, परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध, गतिविधियाँ आदि विषयों पर भी बिहारी ने लेखनी चलाई है। बिहारी केवल नायक-नायिका की गतिविधियों तक ही सीमित नहीं रहे अपितु समाज के प्रत्येक वर्ग यथा बढ़ई, कुम्हार, धोबी आदि के स्वभाव और प्रवृत्तियों का उल्लेख भी बिहारी की रचनाओं में मिलता है –

चल्यौ जाइ ह्याँ को करै हाथिनु के व्यापार।
नहिं जानतु इंहि पुर बसै धोबी ओड़ कुम्हार॥

इसके अतिरिक्त सामान्य जीवन के कई उपादानों और क्रिया-कलापों पर भी बिहारी की लेखनी चली है। समाज और परिवार की गतिविधियों के अलावा बिहारी ने विभिन्न धार्मिक कार्यों-प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया है जिनमें धार्मिक संस्कारों के साथ ही विभिन्न लोकविश्वासों के अन्तर्गत शकुन-अपशकुन का भी समावेश हुआ है। हिन्दुओं में पितृश्राद्ध का बड़ा महत्त्व है। पूर्वजों की आत्मा की शान्ति (मोक्ष-प्राप्ति) और उनके प्रति अपनी आस्था, विश्वास और श्रद्धा प्रकट करने के लिए श्राद्धपक्ष में उन्हें सामग्री अर्पित की जाती है। विशिष्ट बात यह है कि इस श्राद्धपक्ष में कागा अर्थात् कौवे का विशेष महत्त्व होता है। इन कौवों को पूर्वजों का प्रतीक माना जाता है। श्राद्ध करने वाला श्रद्धालु इनका आह्वान करके भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। बिहारी ने इस गतिविधि का भी उल्लेख अपने दोहों में किया है। कौवे की स्थिति का चित्रण करते हुए श्राद्धपक्ष में उसके क्षणिक महत्त्व को बताकर धार्मिक विश्वासों पर भी कटाक्ष करते हुए अन्योक्ति है –

दिन दसु आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराधपखु तौ लगि तौ सनमानु॥

अर्थात् हे कागा, तू दस दिन का सम्मान पाकर भले ही गर्व का अनुभव कर रहा है परन्तु तेरा यह सम्मान तभी तक है जब तक यह श्राद्धपक्ष चल रहा है। यानी तेरा यह सम्मान तेरे गुण का परिचायक नहीं है अपितु यह स्थिति ही ऐसी है जब तुझे सम्मान देना ही पड़ता है इसलिए तुझे इस सम्मान पर घमण्ड नहीं करना चाहिए। भाव यह है कि अयोग्य व्यक्ति को यदि कभी अल्पकाल के लिए उच्च पद और सम्मान मिल जाए तो उसे अपनी वास्तविक स्थिति नहीं भूल जानी चाहिए।

एक अन्य दोहे में बिहारी श्राद्धपक्ष के एक अन्य तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए कहते हैं कि श्राद्धपक्ष में सभी लोग श्राद्धकर्म, पिण्ड-दानादि क्रियाओं में इतना व्यस्त हैं कि घर में पिंजरे में कैद पालतू तोता

भूख-प्यास के मारे मरा जा रहा है। एक ओर लोग धार्मिक रीतियों के अनुरूप भोजन करने के लिए कौओं को मनुहार कर-कर के बुला रहे हैं वहीं दूसरी ओर घर में पिंजरे में बंद तोता बेचारा दाने-दाने के लिए मुहताज हुआ जा रहा है। यहाँ बिहारी ने धार्मिक रीतियों पर कटाक्ष किया है –

मरतु प्यास पिंजरा पर्‌यो सुआ समै कै फेर।
आदरु दे दे बोलियतु बाइसु बलि की बेर॥

लोक विश्वासों में अंग फड़कना, शकुन-अपशकुन जैसी धारणाएँ प्रचलित रहती हैं जिसे केन्द्र में रखकर बिहारी ने स्त्री वर्ग के विश्वासों का चित्रण किया है। स्त्री के बाएँ अंग का फड़कना शुभ माना जाता है। नायिका की बायीं बाँह फड़कती है तो इसे शुभ संकेत समझते हुए नायिका अपने प्रियतम के आगमन का अनुमान लगाती है। नायिका कहती है कि इस शुभ संकेत के अनुरूप यदि मेरे प्रियतम मुझसे मिलते हैं तो हे मेरी बायीं बाँह तुझे मैं पुरस्कारस्वरूप प्रियतम के साथ आलिंगन करने का अवसर दूँगी –

बाम बाँह फरकति मिलै जौ हरि जीवन मूरि।
तौं तोहीं सौं भेटिहौं राख दाहिनी दूरि॥

इसी तरह बिहारी ने तत्कालीन विभिन्न धर्म, सम्प्रदायों में व्याप्त आत्मप्रशंसा, आत्मगौरव तथा अपनी भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के प्रचारार्थ किए जा रहे प्रयासों को भी अभिव्यक्ति दी है। बिहारी के समय सामाजिक-धार्मिक स्थिति विचारणीय थी। सभी धर्म और सम्प्रदाय अपने-अपने मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने और उसके प्रचार में लगे हुए थे। अपनी विचारधाराओं को श्रेष्ठ और अन्य को तुच्छ बताने की स्पर्धा में वे मूल तत्त्व से भटक गए थे। इसी को लक्ष्य कर बिहारी कहते हैं –

अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौ सेइबौ एकै नन्दकिसोरु॥

समाज में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग रहते हैं। सम्पन्नता की स्थिति में सभ्य व्यक्ति अधिक विनम्र हो जाते हैं जबकि ओछा व्यक्ति मदोन्मत्त होकर उच्छृंखल व्यवहार करने लगता है। बिहारी कहते हैं कि घमंड में उन्मत्त होकर आसमान पर चढ़ जाने से, बढ़-बढ़ कर बातें करने से भी ओछे लोग बड़े नहीं हो सकते। आँखें फाड़-फाड़कर देखने से आँखें तनिक भी लम्बी नहीं होतीं –

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होहिं न नैकहूँ फारि निहारैं नैन॥

प्रकृति-वर्णन में कविवर बिहारी का मन खूब रमा है। वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि जिस पथिक ने पहले कभी पलाश का फूला हुआ फूल नहीं देखा उन्हें दूर से देखने पर ये पलाश के फूल दावाग्नि से जलते हुए प्रतीत होते हैं –

फिरि घर को नूतन पथिक चलै चकित चित भागि ।
फूल्यो देखि पलासु बन समुही समुझि दवागि॥

लोकजीवन में आनन्द और उत्साह के साथ मनाए जाने वाले तीज-त्योहार, व्रतादि भी बिहारी की लेखनी से वर्णित हुए हैं । होली, तीज, दशहरा, गणेश पूजा, संक्रान्ति आदि त्योहारों का आकर्षक चित्रांकन बिहारी ने किया है। फागुन के महीने में होली ब्रज प्रदेश में पूरे हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाने वाला त्योहार है। होली खेलने के दौरान नायक और नायिका दोनों समस्त लोकलाज भूलकर होली खेलने में मग्न हो गए हैं । इस दृश्य का का बड़ा ही मनोहारी वर्णन बिहारी ने इस दोहे में किया है –

छुटत मुठिनु संग हीं छुटी लोक लाज कुल चाल।
लगे दुहुनु इक बेर ही चल चित नैन गुलाल॥

इसी तरह तीज के त्योहार का उल्लेख करते हुए बिहारी निम्नलिखित दोहे की रचना करते हैं । तीज के व्रत के दिन सौतिनों ने गहनों और कपड़ों से अपने शरीर को सिंगारा, किन्तु नायिका ने अपनी उस रति-मर्दित मलिन साड़ी से ही सबका मुँह मलिन कर दिया । नायक के साथ रात में जागने के कारण नायिका आलस्यवश नये वस्त्राभूषण अभी तक धारण नहीं कर पायी है। पति-सहवास में रौंदी हुई उसकी मलिन साड़ी देखकर सौतिनों ने यह जाना कि रात में इसने प्यारे के साथ केलि-रंग किया है–

तीज-परब सौतिनु सजे, भूषन बसन सरीर ।
सबै मरगजे-मुँह करी इहीं मरगजैं चीर॥

गणेश चतुर्थी के अवसर पर रात्रि में चन्द्रमा के दर्शनोपरान्त नायिका चन्द्रमा को अर्घ्य देकर वहीं ठहर गई। सखी उसे शीघ्र भोजन कराना चाहती है क्योंकि नायिका इस व्रत के कारण दिन भर से भूखी है परन्तु नायिका वहीं रुकने का हठ करती है । इस पर उसकी सखी कहती है कि – तुम अर्घ्य दे चुकीं, अब नीचे चलो । चलकर संकट चौथ का व्रत तोड़ें, संकट-चतुर्थी के व्रत का पारण करें। ताकि अन्य सब स्त्रियाँ भी सुचित होकर, दुविधा छोड़कर चन्द्रमा को आकर देखें। क्योंकि कोटे पर रहने से तुम्हारे मुखचन्द्र को देखकर सब भ्रम में पड़ जाती हैं कि इस चौथ को यह पूर्णचन्द्र कहाँ से आया !

दियौ अरघु नीचौं चलौ संकटु भानैं जाइ।
सुचिती ह्वै औरौ सबै ससिहिं बिलोकैं आइ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिहारी ने अपने समकालीन जीवन के हर पक्ष का चित्रण किया है । सामाजिक जीवन के सभी उपादान, क्रिया-कलाप, गतिविधियाँ बिहारी की रचनाओं में लेखनीबद्ध हुई हैं । बिहारी की व्यापक कवि दृष्टि से लोकजीवन का कोई पक्ष शायद ही अछूता रह पाया हो।

3.4.2.2. विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान

बिहारी के दोहों में सामाजिक जीवन-मूल्यों के अतिरिक्त उनके विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को भी देखा जा सकता है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से उनके ज्योतिष, गणित, राजनीति, नीति, आयुर्वेद, संगीत आदि विविध विषयों में उनके ज्ञान का आकलन किया जा सकता है। उनके संगीतशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का एक उदाहरण देखिए। पूस का महीना है। नायक परदेस जाने के लिए तैयार होता है। व्यथित नायिका संगीत विद्या में कुशल है अतः हाथ में बीन लेकर मलार-राग अलापती है जिसके प्रभाव से पूस के महीने में वर्षा होने लगती है। संगीत-शास्त्र के अनुसार मलार-राग गाने से मेघ बरसता है और सुखद बरसात में रसिक पति परदेश नहीं जाते –

पूस मास सुनि सखिन पैं साँई चलत सवारु।
गहि कर वीन प्रबीन तिय राग्यौ रागु मलारु॥

3.4.2.2.1. ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान

बिहारी सतसई में ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित अनेक दोहे मिलते हैं। ग्रहों की चाल, कुंडली में राजयोग, ऋतु-परिवर्तनादि कई प्रसंगों का वर्णन बिहारी ने किया है। ज्योतिषशास्त्री घनघोर वर्षा के लिए ग्रहों की एक विशिष्ट स्थिति को कारणीभूत मानते हैं। बिहारी ने भी इस स्थिति का वर्णन शृंगारिक दृष्टि से किया है। चन्द्रमा, मंगल और बृहस्पति तीनों ग्रह एक जगह स्थित हों तो बड़ी घनघोर वर्षा होती है। यद्यपि यह बिहारी का शृंगार वर्णन ही है जिसमें नायिका का मुख चन्द्रमा के समान, उसके माथे पर लाल रंग की बिंदिया मंगल के समान और उस पर केसर की आड़ी पीली रेखा बृहस्पति के समान दिखाई दे रही है जिसे देखकर नायक का मन प्रगाढ़ अनुराग से भर उठा है। कवि यहाँ कहना चाहता है कि नायिका के इस शृंगार को जो भी कोई देखता है, उसके नेत्रों में सहज ही अनुराग की वर्षा होने लगती है –

मंगल बिंदु सुरंगु मुखु ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत॥

एक अन्य दोहे में बिहारी ने ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत राजयोग की स्थिति दर्शायी है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार मीन लग्न में शनि होने से जातक राजा बनता है। नायिका की सखी नायिका को आश्वस्त करती हुई कहती है। जब नायिका ने अपनी मीन-सी आँखों में काजल लगाया था तो उसके सौन्दर्य को देखकर नायक के मन में प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ है। यहाँ आँखें मीन का प्रतीक है, काजल शनि का। अब कुल मिलाकर यह प्रेम नायक के मन पर राज करने वाला ही है।

सनि कज्जल चख झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सबु देहु॥

एक अन्य दोहे में बिहारी बताते हैं कि किसी भी तिथि को जानने के लिए दो साधन हो सकते हैं। एक तो पत्रा या जिसे पंचांग भी कहते हैं और दूसरा साधन है चन्द्रमा का प्रकाश। इन दोनों के आधार पर तिथि का अनुमान लगाया जाता है। नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं कि उसके रूप-सौन्दर्य में इतना तेज है कि वहाँ हर पल पूर्णिमा का आभास होता है। नायिका के घर के आसपास तिथि का ज्ञान तो केवल पंचांग के माध्यम से ही हो सकता है, वहाँ चन्द्रमा का प्रकाश कुछ नहीं कर सकता। –

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौईं रहै आनन-ओप-उजास॥

राजनैतिक अराजकता को अभिव्यक्त करने के लिए भी बिहारी ने ज्योतिषीय बिम्ब का प्रयोग किया है। ज्योतिष के अनुसार अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि पर होते हैं। अत्यन्त क्षमताशील दो राजाओं के होने से प्रजा के दुःखों में वृद्धि ही होती है। अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि पर मिलकर संसार में अधिक अँधेरा कर देते हैं। आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है।

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रबि-चंदु॥

3.4.2.2.2. आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान

कविवर बिहारी को आयुर्वेदशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। सतसई में कई ऐसे दोहे हैं जिनका सम्बन्ध आयुर्वेदशास्त्र से है। आयुर्वेद में उल्लिखित है कि यदि कोई व्यक्ति विषम ज्वर से पीड़ित हो तो उसे 'सुदर्शन चूर्ण' देने से लाभ होता है। अपनी इसी मान्यता को वे इस दोहे में प्रस्तुत करते हैं। नायिका की सखी कृष्ण से कहती है कि इस नष्ट होते रत्न को अर्थात् नायिका को बचाकर आप इस संसार में यश क्यों नहीं ले लेते? यह नायिका तो विषम ज्वर से पीड़ित है अर्थात् वियोगाग्नि से त्रस्त है। आपके सुन्दर दर्शन से वह (नायिका) बच सकती है। यहाँ सुन्दर दर्शन ही सुदर्शन है। कृष्ण का सुन्दर दर्शन पाकर नायिका की पीड़ा अपने आप समाप्त हो जाएगी –

यह विनसत नग राखि कै क्यों न सुजसु जग लेहु।
जरी बिषम जुर ज्याइए आय सुदरसनु देहु॥

आयुर्वेद में नपुंसकता नष्ट करने के लिए पारे का उपचार बताया गया है। इसी संकेत को लक्ष्य कर बिहारी कहते हैं कि वैद्य ने नपुंसकता के नाम पर बहुत सारा धन ऐंठ लिया और बाद में अहसान के तौर पर मरीज को पारा दे दिया। अपने पति की इस हरकत से वैद्य की पत्नी व्यंग्य करती हुई कहती है कि वैद्यजी तो स्वयं भी नपुंसक हैं। यदि यह पारा इतना लाभकारी है तो स्वयं वैद्यजी इसे क्यों नहीं ले लेते –

बहु धनु लै अहसानु कै पारो देत सराहि।
बैद बधू हंसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि॥

3.4.2.2.3. राजनीतिशास्त्र का ज्ञान

बिहारी दरबारी कवि थे अतः उनकी रचनाओं में दरबारी प्रवृत्तियों के अनुरूप शृंगार का वर्णन हुआ है। राजाओं-सामन्तों के निरन्तर सम्पर्क में रहने से उनका राजनीति ज्ञान भी उच्च कोटि का था। उनकी सतसई में ऐसे अनेक दोहे हैं जहाँ शृंगारिक वर्णन में उनकी राजनैतिक चेतना भी प्रकट हुई है। कुशल राजा अपने सहायकों की पदोन्नति के माध्यम से अच्छा शासन चलाने का प्रयास करता है। अपना शरीरी सहायक समझकर यौवनरूपी चतुर राजा ने नायिका के स्तन, मन, नयन और नितम्ब को बड़ी तरक्की दी है। यौवन आने पर उपर्युक्त अंगों का स्वाभाविक विकास हो जाता है।

अपने अंग कै जानि के जोबन नृपति प्रबीन।
तन मन नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन॥

इसी प्रकार एक अन्य दोहा देखिए जहाँ संकेत किया गया है कि किसी भी सेना का अग्र भाग जिसे हरावल कहते हैं जो मुख्य सेना के आगे रहता है, वह यदि कमजोर हुआ तो समूची सेना पर अचानक संकट आ सकता है। बिहारी कहते हैं कि नायक-नायिका दोनों की आँखें ललक के साथ बढ़कर जुट गईं, बारीक साड़ी के घूँघट में वे न रुकीं, जिस प्रकार सेना के अग्रभाग में हलकी फौज रहने से मुख्य भाग पर ही भीड़ आ पड़ती है –

जुरे दु हुन के दृग झमकि रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परै गोल पर भीर॥

3.4.2.2.4. गणितशास्त्र का ज्ञान

सतसई में कहीं-कहीं बिहारी के गणित सम्बन्धी ज्ञान को भी देखा जा सकता है यद्यपि उनका गणितीय ज्ञान सामान्य स्तर का ही है। गणित में किसी भी अंक के साथ शून्य लगा देने से उस अंक का मान दस गुना बढ़ जाता है। बिहारी कहते हैं कि बिन्दी देने से अंक का मूल्य दसगुना बढ़ जाता है किन्तु नायिका के ललाट पर बेंदी देने से तो उसकी कान्ति बेहद बढ़ जाती है –

कहत सबै बेंदी दियै आँकु दस गुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दियै अगिनितु बढ़तु उदोतु॥

इसी प्रकार गणित में किसी अंक के आगे बकारी (टेढ़ी लकीर, जो किसी अंक के दायीं ओर उसके रुपया सूचित करने के लिए खींच दी जाती है) लगा देने से वह अंक मूल्यमें बदल जाता है। बिहारी कहते हैं कि गौरवर्णी मुख पर टेढ़ी लट के छूट पड़ने से नायिका के मुख की कान्ति वैसे ही बढ़ गई है, जैसे टेढ़ी लकीर (बिकारी) देने से दाम का मोल बढ़कर रुपया हो जाता है।

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होत॥

3.4.2.2.5. नीतिशास्त्र का ज्ञान

बिहारी ने नीति सम्बन्धी अनेक दोहे कहे हैं। एक दोहे में लोभी व्यक्ति की दुर्दशा प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि लोभी मनुष्य की आँखों पर लालच का चश्मा लगा हुआ रहता है उसे ओछे से ओछा व्यक्ति भी दाता प्रतीत होता है। अपने लोभी स्वभाव के कारण वह घर-घर गिड़गिड़ाता हुआ फिरता है, लोगों से याचनाएँ करता है –

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ॥

एक अन्य दोहे में बिहारी बताते हैं कि कनक जिसे एक अर्थ में स्वर्ण बताया गया है साथ ही अन्य प्रयुक्ति में धतूरा। इन दोनों के पाने से मनुष्य में मादकता आ जाती है। स्वर्ण प्राप्त करने वाले व्यक्ति को धतूरे का नशा करने वाले व्यक्ति से सौ गुना अधिक नशा हो जाता है। मादकता की प्रवृत्ति कनक के दोनों रूपों में समाहित है। जहाँ धतूरे का सेवन करने से मादकता चढ़ती है वहीं स्वर्ण को तो पा लेने मात्र से ही मनुष्य बौरा जाता है –

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐं बौराइ इहिं पाऐं हीं बौराइ॥

धतूरे और स्वर्ण की प्रकृति को केन्द्र में रखकर ही बिहारी यह भी कहते हैं कि किसी का नाम बड़ा होने से उसमें महानता का गुण नहीं आ जाता। जैसे धतूरे और स्वर्ण दोनों को ही कनक कहा जाता है परन्तु कनक नाम होने मात्र से ही धतूरे से किसी प्रकार का आभूषण गढ़ा नहीं जा सकता –

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़ू यौ न जाइ॥

संगति के सन्दर्भ में बिहारी कहते हैं कि केवल श्रेष्ठ लोगों की संगति करने मात्र से सुबुद्धि का विकास नहीं हो सकता, उसके लिए अपने आचरण को निष्कपट और निश्छल बनाने का प्रयास करना पड़ता है। बुरे लोग चाहे कितना भी अच्छा संग क्यों न पा लें परन्तु अपने छल-छद्मपूर्ण आचरण को छोड़े बिना उनमें निहित बुराई दूर नहीं हो सकती। सुगन्धित कपूर के साथ रखने पर भी हींग में सुगन्ध नहीं आ सकती –

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध॥

3.4.2.2.6. इतिहास-पुराण सम्बन्धी ज्ञान

बिहारी को इतिहास और पुराणों का अच्छा ज्ञान था। इसी से उनकी सतसई में कई जगह इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों, घटनाओं और पुराण सम्बन्धी ज्ञान का उल्लेख मिलता है। अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह की वीरता का वर्णन करते हुए बिहारी उनकी तुलना श्रीकृष्ण से करते हैं। एक बार बलख देश से युद्ध के दौरान शत्रुओं की

सेना से घिरी अपनी सेना को मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने सकुशल निकाल लिया था। इसके लिए बिहारी कृष्ण से सम्बन्धित एक घटना का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि – हे जयसिंह महाराज ! बलख देश से शत्रुओं के बीच में फँसी हुई अपनी सेना को आपने यों निकाल लिया, जिस प्रकार अघासुर के पेट में पड़ी हुई गौओं और ग्वालों को श्रीकृष्ण ने निकाल लिया था –

यौं दल काढ़े बलख तैं तैं जयसाहि भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥

एक अन्य दोहे में बिहारी ने महाभारत के उस प्रसंग का वर्णन किया है जब भरी सभा में दुःशासन ने द्रौपदी का चीर-हरण करना चाहा था। दुःशासन ज्यों-ज्यों द्रौपदी का चीर खींचता जाता था भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से वह चीर त्यों-त्यों बढ़ता जाता था। धीरे-धीरे चीर का ढेर लग गया, दुःशासन थक गया किन्तु चीर घटने का नाम ही नहीं लेता था। इसी प्रसंग का आधार लेकर बिहारी नायिका की विरहजन्य व्यथा प्रकट करते हैं। नायक परदेस गया हुआ है। नायक के वियोग में नायिका के दिन बड़ी कठिनता के साथ गुजरते हैं। द्रौपदी के चीर की तरह प्रिय का वियोग खत्म ही नहीं हो रहा है –

रह्यो ऐंचि अंतु न लहै अवधि दुसासनु बीरू।
आली बढ़तु बिरहु ज्यौं पांचाली कौ चीरू॥

एक अन्य प्रसंग में बिहारी पुराण में उल्लिखित प्रलय की घटना की चर्चा करते हैं जहाँ मेघों ने इन्द्र के आदेश पर ब्रज क्षेत्र को बहा देने के लिए घनघोर वर्षा की थी परन्तु गिरधारी श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत उठाकर ब्रजवासियों की उससे रक्षा की। श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए बिहारी कहते हैं –

प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गरबु हरयो हरषि गिरधर गिरि धरि हाथ॥

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि बिहारी को केवल शृंगार, भक्ति और नीति के दायरे तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। अपने दोहों में यथावसर एवं प्रसंगानुकूल लोक सम्बन्धी एवं विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का समावेश कर उन्होंने अपनी बहुज्ञता प्रमाणित की है। दोहों में बिम्बों और प्रतीकों के रूप में विविध शास्त्रों के ज्ञान और लोकोक्तियों की प्रयुक्ति कवि की प्रतिभा का परिचय देते हैं। सीमित शब्दों में गहरे निहितार्थ प्रकट करने का कौशल बिहारी के अतिरिक्त अन्यत्र मिलना कठिन है। इसी से बिहारी के दोहों के लिए गागर में सागर भर देने की उक्ति प्रसिद्ध है।

3.4.3. पाठ-सार

बिहारी राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे। राजाश्रय प्राप्त कवियों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति होती थी। अधिकांश दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओं के गुणगान में ही लगे रहते थे। सामान्य लोकजीवन के प्रति उनमें

उदासीनता का भाव छाया रहता था। दरबारी कवि होने के बावजूद बिहारी अन्य आश्रित कवियों से भिन्न प्रकृति के थे। उन्होंने सामान्य लोकजीवन के विविध उपक्रमों, गतिविधियों, परम्पराओं, तीज-त्योहारों आदि विषयों तक अपना दृष्टि-विस्तार किया। यद्यपि उनके काव्य में एक विशिष्ट वर्ग का ही वर्णन हुआ है परन्तु लोकजीवन से सम्बन्धित कई बातें उनमें समाहित हो गई हैं। इसके साथ ही बिहारी ने रीतिकालीन प्रवृत्ति के अनुरूप शृंगारिक दृष्टि रखते हुए भी अनेक शास्त्र एवं विद्याओं तथा लोकतत्त्व के अपने ज्ञान का भी परिचय भी दोहों के माध्यम से प्रकट किया है जिससे इनके विविध शास्त्रानुरागी होने एवं इनकी लोकसंसक्ति का परिचय मिलता है। उनके दोहों में गणितशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, पुराण, आयुर्वेदशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि से सम्बन्धित गूढ़ तथ्यों एवं लोकजीवन के विविध उपादानों के समावेश से उनके इन विषयों के ज्ञान को सहज ही अनुभव किया जा सकता है। कई विद्वान् बिहारी के इस ज्ञान को सतही सिद्ध करते हैं तथा इसे उनकी बहुज्ञता का आधार नहीं मानते। किन्तु सच तो यह है कि अनायास ही सही परन्तु किसी भी उदाहरण की सार्थक और सटीक प्रस्तुति के लिए उस विषय का सापेक्षिक ज्ञान भी आवश्यक होता है। बिहारी ने अपने दोहों में शास्त्र एवं लोक सम्बन्धी अपने ज्ञान को प्रमाणित किया है अतः उनकी बहुज्ञता पर प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित होगा।

3.4.4. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. पाणिग्रहण संस्कार के लिए लोकप्रसिद्ध पर्याय है –

(क) हस्तपीतकरण
(ख) हथलेवा
(ग) कन्यादान
(घ) हरिद्रालेपन

2. बिहारी किस राजा के दरबारी कवि थे ?

(क) छत्रपति शिवाजी राजे
(ख) महाराजा छत्रसाल
(ग) मिर्ज़ा राजा जयसिंह
(घ) सवाई मानसिंह

3. दरबारी कवियों की विशिष्ट प्रवृत्ति थी –

(क) युद्ध में बढ़-चढ़ कर सहभागिता करना
(ख) ईश्वर का नाम-स्मरण एवं भक्ति करना
(ग) आश्रयदाता का गुणगान करना
(घ) लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण करना

4. आयुर्वेद के ज्ञान के लिए बिहारी ने किस चूर्ण का उदाहरण दिया है ?

(क) त्रिफला चूर्ण

(ख) आम्रचूर्ण

(ग) चक्रवाती चूर्ण

(घ) सुदर्शन चूर्ण

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कवि की बहुज्ञता के सन्दर्भ में विद्वानों के मतों का सतर्क उल्लेख कीजिए।
2. बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहे भावार्थ सहित लिखिए।
3. बिहारी के गणितीय ज्ञान पर आधारित दोहे भावार्थ सहित लिखिए।
4. बिहारी के ज्योतिषशास्त्र विषयक ज्ञान पर आधारित दोहे भावार्थ सहित लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बिहारी की बहुज्ञता को प्रतिपादित कीजिए।
2. बिहारी के विविध शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान को उद्घाटित कीजिए।
3. सिद्ध कीजिए कि बिहारी के काव्य में लोकजीवन के विविध उपादानों का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

3.4.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मुक्तक काव्यपरम्परा और बिहारी, रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली
2. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक काव्य, त्रिभुवन सिंह हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
3. बिहारी रत्नाकर, सम्पादक – दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ
4. बिहारी और उनका साहित्य, डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा तथा परमानन्द शास्त्री, भारत प्रकाशन मन्दिर
5. बिहारी की वाग्विभूति, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
6. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, तारा बुक एजेंसी, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : रीतिबद्ध एवं रीतिसिद्ध काव्य

इकाई – 5 : बिहारी सतसई में शृंगार-निरूपण, नख-शिख वर्णन

इकाई की रूपरेखा

3.5.0. उद्देश्य कथन
3.5.1. प्रस्तावना
3.5.2. बिहारी सतसई में शृंगार-निरूपण
3.5.2.1. संयोग शृंगार
3.5.2.1.1. रूप वर्णन
3.5.2.2.2. रति क्रीड़ा
3.5.2.2. वियोग शृंगार
3.5.2.2.1. पूर्वराग
3.5.2.2.2. मान
3.5.2.2.3. प्रवास हेतुक विरह
3.5.2.2.4. अभिशाप (करुण विरह)
3.5.3. नख-शिख वर्णन
3.5.4. पाठ-सार
3.5.5. बोध प्रश्न
3.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. शृंगार रस के विविध पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. शृंगारिक कवि के रूप में महाकवि बिहारी का वैशिष्ट्य समझ सकेंगे।
iii. बिहारी सतसई में निरूपित शृंगारिक तत्त्वों से अवगत हो सकेंगे।
iv. बिहारी के काव्य में प्रस्तुत नख-शिख वर्णन का अनुशीलन कर सकेंगे।

3.5.1. प्रस्तावना

युगीन साहित्य पर तत्कालीन परिवेश का व्यापक प्रभाव होता है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल वैभव और विलासिता का युग था। राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से यह कालखण्ड भयावह अराजकता और अधोपतन का समय था। राज-व्यवस्था का संचालन करने वाले राजा और सामन्त सुरा और सुन्दरी के मोह में आबद्ध थे। इस कुत्सित मोह के कारण उनके लिए सामाजिक नैतिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं रह गया था।

प्रायः सभी राजा और सामन्त विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने में मग्न थे। सुरा और सुन्दरी के भोग में ही उन्हें जीवन सार्थक होता प्रतीत हो रहा था। इस काल का साहित्यिक परिवेश शृंगारिक मनोवृत्ति के अनुरूप ही था अतः राजाओं-सामन्तों के आश्रयी कवि उन्हीं की मानसिकता के अनुरूप काव्य-सृजन कर रहे थे। तत्कालीन काव्य में शृंगारिकता एक प्रधान और अनिवार्य तत्त्व के रूप में सर्वमान्य हो चुकी थी। रीतिकालीन कवियों ने रति के प्रेमभाव को महत्त्वपूर्ण मानकर शृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया। रीतिकाल की समस्त काव्य-रचनाओं का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार-निरूपण ही दिखाई देता है। शृंगारिक काव्यों के शास्त्रीय आधार संस्कृत के कामशास्त्रीय ग्रन्थ रहे। शृंगार वर्णन में अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों को काफी छूट मिली जिसमें किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है। इन कवियों ने शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का विषद् वर्णन अपने काव्य में किया।

शृंगार वर्णनों में अधिकतर कवियों ने वियोग शृंगार में अपनी अधिक रुचि दिखलायी। वैसे भी संयोग के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं रहता। अभिव्यक्ति की संकीर्णता के कारण कवियों की कल्पनाओं को वांछित विस्तार नहीं मिल पाता जबकि वियोग शृंगार के अन्तर्गत वियोगी मन कई तरह से अपनी कल्पनाओं का विस्तार कर पाता है। कवियों को यहाँ वर्णन की दृष्टि व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। वियोग शृंगार में रीतिकालीन कवियों की विशेष अभिरुचि का कारण भी यही है। परन्तु अपने दौर के कवियों की अभिरुचि के विपरीत कविवर बिहारी ने वियोग पक्ष की अपेक्षा शृंगार के संयोग पक्ष का विपुल वर्णन किया है। संयोग पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने हावभाव और अनुभावों का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है। संयोग की मार्मिकता का उदाहरण देखिए –

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥

नायिका के रूप-सौन्दर्य, उसके विविध अंग-प्रत्यंग, नख-शिख, हास-परिहास, मान-मनुहार आदि का वर्णन करने में बिहारी मुग्ध करने की क्षमता रखते हैं। यद्यपि बिहारी ने वियोग पक्ष को भी उभारने का प्रयास किया है परन्तु वहाँ अतिशयोक्ति का समावेश हो गया है। यही कारण है कि उसमें स्वाभाविकता नहीं है। विरह में व्याकुल नायिका की दुर्बलता का चित्रण करते हुए बिहारी ने उसे घड़ी के पेंडुलम जैसा बना दिया गया है –

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै, लगी उसाँसनु साथ॥

संयोग शृंगार के दो पक्ष हैं – (i) आलम्बन और (ii) आश्रय। नायक-नायिका का परस्पर प्रेम आलम्बन है जबकि किया जाने वाला प्रेम आश्रय है। काव्य में नायिका आलम्बन होती है जबकि नायक आश्रय। इन दोनों ही पक्षों को उभारने में बिहारी का मन खूब रमा है। प्रस्तुत पाठ में बिहारी के शृंगार-निरूपण और नखशिख वर्णन का अध्ययन किया जाएगा।

3.5.2. बिहारी सतसई में शृंगार-निरूपण

बिहारी सतसई का प्रधान विषय शृंगार-निरूपण है। तात्कालिक युग शृंगार के अतिरिक्त किसी अन्य रस में रुचि लेने वाला युग नहीं था इसीलिए कवियों के लिए शृंगारिकता एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में विद्यमान और रूढ़ हो चुकी थी अतः बिहारी सतसई में भी शृंगार रस बहुलता के साथ वर्णित हुआ है। लेकिन विशेष बात यह रही कि बिहारी की शृंगार-भावना पूर्व के शृंगारिक कवियों की तरह घोर अश्लील नहीं थी। बिहारी ने अपने स्वभाव के अनुरूप ही अपनी काव्य-रचनाओं हेतु भी एक मर्यादित सीमा निश्चित की। इसी सीमा के भीतर रहकर ही उन्होंने काव्य-रचनाएँ कीं। यद्यपि सतसई में शृंगार रस के अलावा कुछ दोहे करुण, भक्ति, नीति, उपदेशात्मक प्रवृत्ति के मिलते हैं परन्तु उनका कथन बिहारी का मूल प्रतिपाद्य नहीं था। वास्तव में इन दोहों में निहित भाव बिहारी की आत्मचेतना की अभिव्यक्ति रहे। कुल मिलाकर शृंगार की प्रधानता के कारण सतसई शृंगार रस की रचना कही जाती है। उनके शृंगार-निरूपण में राधा और कृष्ण दोनों ही आलम्बन के रूप में उद्धृत हुए हैं। जैसा कि पूर्वोक्त है कि बिहारी ने शृंगार के संयोग पक्ष के प्रति अपनी अधिक रुचि दिखाई है तथापि वियोग पक्ष पर आधारित दोहों की रचना भी उन्होंने की है। हालाँकि संयोग पक्ष के सफल वर्णन के समक्ष वियोग पक्ष के वर्णन को गौण कहा जा सकता है। रति प्रेम और शृंगार का स्थायी भाव है। इस भाव के साथ हृदय की जितनी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है उतना किसी अन्य स्थायी भाव के साथ नहीं दिखाई देता। संयोग शृंगार में रति की मांसल अभिव्यक्ति हुई है।

संयोग शृंगार में नख-शिख, नायक-नायिका भेद, षड्ऋतु वर्णन, हाव-भाव, मिलन, हास-परिहास, क्रीड़ा-विलासादि का चित्रण होता है जबकि वियोग शृंगार के अन्तर्गत पूर्वराग, मान, प्रवास हेतुक विरह, बारहमासा वियोग, वियोग की दसों अवस्थाओं, सन्देश, षड्ऋतु आदि का मार्मिक वर्णन किया जाता है। संयोग से तात्पर्य उस अवस्था से है जब नायक-नायिका का मिलन अथवा संगम होता है अतः संयोग शृंगार का सम्बन्ध नायक और नायिका अथवा प्रेमिका और प्रियतम अथवा प्रेमी और प्रियतमा की उस अवस्था से है जब वे परस्पर रति सुख का आनन्द उपभोग करने में रत रहते हैं। संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति में बिहारी ने रूप-वर्णन, निकटता, रति-क्रीडा वर्णन आदि के माध्यम से शृंगार के संयोग पक्ष की अभिव्यंजना की है।

3.5.2.1. संयोग शृंगार

3.5.2.1.1. रूप-वर्णन

रूप-वर्णन संयोग शृंगार का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जहाँ नायक-नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि नायक-नायिका के पारस्परिक आकर्षण की सृष्टि करते हैं। आकर्षण पूर्णतः सौन्दर्य पर आश्रित रहता है। इसका स्थायी भाव हरेक के मन में भिन्न-भिन्न होता है। सहृदय होकर ही सौन्दर्य की अनुभूति की जा सकती है। सौन्दर्य का निवास मन में होता है जिसे सहृदय व्यक्ति ही समझ पाता है। मन में निहित प्रेम के कारण ही सौन्दर्य

उत्पन्न होता है। बिहारी ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक और तर्कपूर्ण तरीके से इस प्रेम और सौन्दर्य की परिभाषा प्रस्तुत की है –

समै-समै सुन्दर सबै रूपु-कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ॥

समय-समय पर सभी सुन्दर हैं, कोई सुन्दर और कोई कुरूप नहीं है। मन की प्रवृत्ति जिधर जितनी होगी, उधर उतनी ही आसक्ति होगी।

रूप-वर्णन के अन्तर्गत विविध उपादानों, हाव-भावों के माध्यम से सौन्दर्य का चित्रण किया जाता है। नायिका की सखी नायक के समक्ष नायिका की छवि की प्रशंसा कर रही है। नायिका की देह का दीपशिखा-सा जगमगाना नायक के मन में आकर्षण और उत्सुकता का भाव उत्पन्न करता है। यहाँ नायिका आलम्बन के रूप में प्रस्तुत हुई है और नायक की उत्सुकता उद्दीपन का प्रतीक है। नायिका के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए बिहारी लिखते हैं कि दीप की लौ के समान उसके अंग-प्रत्यंग में नग जगमगा रहे हैं। अतएव, दीपक बुझा देने पर भी घर में ज्योतिपूर्ण शरीर और नगों के प्रकाश से खूब उजेला रहता है –

अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा-सी देह।
दिया बढ़ाऐं हू रहै बड़ो उज्यारो गेह॥

एक अन्य दोहे में नायिका की सखी नायिका के देह सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है कि गौरवर्णी नायिका अपने गौरवर्ण और उज्ज्वलता के कारण चाँदनी में समाहित हो गई है और अपनी सखियों को भी दिखाई नहीं दे रही अतः सखियाँ उसकी देह की सुगन्ध की डोर पकड़ कर ही नायिका तक पहुँच पा रही हैं –

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे के डोरें लगी अली चली सँग जाइ॥

एक अन्य दोहे में नायिका की दूती अथवा सखी नायक का रूप-वर्णन करती हुई नायिका से कहती है कि मुझे विश्वास है कि यदि तू नायक का रूप एक बार देख लेगी तो अवश्य ही उस पर रीझ जाएगी। जरा मेरी बात मान ले और खिड़की से झाँक कर देख ले। वह अत्यन्त सुन्दर रूप से तुझे रिझाने वाला है और तेरे नेत्र रीझवार अर्थात् उसके रूप की कद्र करने वाले हैं –

मोहि भरोसो रीझिहैं, उझकिं झांकि इकबार।
रूप रिझावन हार वह ये नैना रिझवार॥

सतसई में ऐसे अनेक दोहे हैं जहाँ नायक-नायिका परस्पर रूप का वर्णन सुनकर एक-दूसरे पर रीझते हैं, आकर्षित होते हैं। बिहारी ने उनका रूप-सौन्दर्य स्पष्ट करने के लिए विभिन्न प्रतीक-बिम्बों का उपयोग किया है। नायिका की सखी अथवा दूती नायक के समक्ष नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है कि नायिका

ने कर्ण में आभूषण धारण किया है । झीने पट (महीन कपड़े) में चकाचौंध करती हुई कनपत्ते की अपार कान्ति झलमला रही है जिसे देख ऐसा प्रतीत होता है मानों कल्पवृक्ष की पल्लव-युक्त शाखा शोभा पा रही हो –

झीने पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार॥

इसी तरह एक अन्य दोहे में नायिका की ठोढ़ी पर पड़ने वाले गड्ढे की शोभा का वर्णन हुआ है। नायक के नेत्र नायिका की ठोढ़ी पर आकर टिके हुए हैं जिस पर रीझते हुए नायक स्वयं कहता है कि – "हे नायिका, तेरे अपार रूप-सौन्दर्य रूपी ठग ने अपनी चकाचौंध से मेरे नेत्ररूपी पथिक पर हँसीरूपी फंदा डालकर उन्हें अपनी ठोड़ी में पड़े गड्ढे में धकेल दिया है। यानी मेरे नेत्र तेरी ठोढ़ी पर इतने मोहित हो गए हैं कि वहाँ से हटने का नाम ही नहीं ले रहे। संक्षेप में नायक नायिका के सौन्दर्य पर रीझकर उसके प्रति पूर्ण समर्पित हो चुका है।

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही मारि।
चिलक-चौंध मैं रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि॥

अधिकांश स्थलों पर बिहारी ने रूप-सौन्दर्य को केन्द्र में रखकर नायिका के मुख से स्वयं ही के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करवाया है। प्रेम में नयनों की भूमिका अहम है। नायिका अपनी सखी को समझा रही है कि तू मेरे देखने के अंदाज़ पर उँगली उठा रही है, पर मैं क्या करूँ ? ये नयन मुँहज़ोर हैं और बेशर्म भी। ये लाज शरम को नहीं मानते। नायिका सखी से कह रही है कि – "हे सखी ! मैं विवश हूँ। मेरी आँखों पर मेरा कोई वश नहीं है। ये ढीठ नयन घोड़े की तरह लज्जारूपी लगाम को नहीं मानते और खींचने पर भी नायक के पास जाकर ही रुकते हैं। हे सखी ! मुँहज़ोर बेशर्म नयनों का मैं क्या करूँ !

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुंह जोर तुरंग ज्यौं ऐंचत हूं चलि जाहिं॥

रूप-सौन्दर्य की प्रस्तुति में कई ऐसे भी दोहे हैं जहाँ बिहारी ने एक ही दोहे में नायक और नायिका दोनों के सौन्दर्य का चित्रांकन किया है। कंजनयनि अर्थात् कमलनयनी नायिका अभी-अभी स्नान कर बैठी हुई अपने बालों को सुलझा रही है। श्रीकृष्ण के प्रति अपने तीव्र अनुराग और आकर्षण के कारण वह भीगे बालों तथा अँगुलियों की ओट से नायक श्रीकृष्ण के रूप को निहारती भी है। लोग जानते हैं कि वह बाल सँवार रही है, इधर बालों और उँगलियों के बीच इशारे चल रहे हैं !

कंज नयनि मंजन किये, बैठी ब्योरति बार।
कच अंगुरिनि बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार॥

रूप और अंग सौन्दर्य के साथ-साथ बिहारी ने सुकुमारता जैसे शृंगारिक गुणों का भी वर्णन किया है। अपने सौन्दर्य के बोझ से ही जो नायिका सीधे पाँव नहीं चल पा रही है उसका कोमल शरीर भारी आभूषणों का बोझ कैसे उठा पाएगा !

भूषन भारु संभारिहैं क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परे सोभा हीं कैं भार॥

इस प्रकार बिहारी ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत विविध बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से नायक और नायिका दोनों का ही रूप-वर्णन किया है। कभी नायक आलम्बन बनता है तो कभी नायिका। बिहारी ने कभी नेत्रों के माध्यम से तो कभी दूती के माध्यम से और कभी स्वयं नायिका के मुख से रूफ्वर्णन कराया है। बिहारी ने केवल रूप-वर्णन ही नहीं किया है बल्कि उसके साथ-साथ उसके विभिन्न प्रभावों का चित्रांकन भी किया है। एक स्थान पर बिहारी नायिका की नायक के प्रति रूपासक्ति का वर्णन करते हुए जताना चाहते हैं कि प्रिय के रूप का स्वाद चखने वाली नायिका को मदिरा का स्वाद भी नहीं भाता। यथा –

रूप सुधा आसव छक्यो आसव पियत बने न।
प्याले ओठ प्रिया बदन रह्यो लगाए नैन॥

3.5.2.2.2. रतिक्रीड़ा

संयोग शृंगार वर्णन के अन्तर्गत रति क्रीड़ा वर्णन एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। यह नायक और नायिका के प्रणय प्रसंगों को अधिक प्रभावी बना देता है। बिहारी ने रति क्रीड़ा के अनुरूप प्रिय मिलन की उत्कंठा, पारस्परिक आकर्षण, आलिंगन जैसी चेष्टाओं का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रांकन किया है। इसके प्रस्तुतीकरण में नवयौवना और नवोढ़ा नायिकाओं की संयोगजन्य शृंगारिक लाज-लज्जादि का वर्णन बिहारी अत्यन्त सूक्ष्मता से करते हैं। बिहारी की नायिका भिन्न-भिन्न क्रियाओं और चेष्टाओं के माध्यम से नायक को आकर्षित करने का प्रयास करती रहती है। बिहारी ने प्रिय-मिलन, आँख-मिचौली, जल-विहार, वन-विहार, हिंडोरा, मद्यपान, रासलीला आदि के माध्यम से इन रति-क्रीड़ाओं को अभिव्यक्ति दी है।

बिहारी रतिक्रीड़ा का उल्लेख करते हुए नायिका की दिखावे की मनाही का कामोद्दीपक वर्णन करते हैं। बिहारी बताते हैं कि प्रिय समागम के आरम्भ की स्थिति में प्रिय के मुख से निकलने वाली 'नहीं' भी अत्यन्त सुखद अनुभव देती है। एक उदाहरण देखिए जहाँ रति क्रीड़ा के क्षण में नायिका कभी अपनी भौंहों से नायक को डराने का प्रयास करती है और अपने मुख से कुछ नहीं कहती परन्तु आँखों ही आँखों में वह नायक के साथ आलिंगनबद्ध हो जाती है। यहाँ नायिका का भौंहों के माध्यम से ऊपरी तौर पर दिखाने को ना-नुकुर करते-करते आलिंगनबद्ध हो जाना कामोद्दीपक है। बिहारी लिखते हैं – "भौंहों से डरवाती है, भौंहें टेढ़ी कर क्रोध प्रकट करती है। मुख से 'नहीं-नहीं' करती है। आँखों से लिपटती है, प्रेम प्रकट करती है और खींचकर अपना हाथ नायक हाथ

से छुड़ाती हुई भी वह स्वयं खिंचती हुई आगे ही आतीजाती है। यद्यपि वह बाँह छुड़ाकर भागने का बहाना करती है, तो भी नायक की ओर बढ़ती आती है –

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति॥

बिहारी ने जल क्रीड़ा के कई दृश्यों का चित्रण कर नायिका की विविध चेष्टाओं का वर्णन किया है। जल विहार के दौरान नायक और नायिका जब एक दूसरे पर पानी के छींटे डालते हैं तो वे दोनों ही अतिप्रसन्न हो उठते हैं। नायिका कभी जल में विहार करती है तो कभी डुबकी लगाती है। जल-विहार में चंचल बनी नायिका डुबकी मारकर जहाँ-जहाँ चली जाती है, वहाँ-वहाँ की नदी के स्वच्छ जल को अपने केसरिया रंग के शरीर की पीली प्रभा से केसर-मिश्रित जल के समान पीला कर देती है –

लै चुभकी चलि जाति जित-जित जल-केली-अधीर।
कीजत केसरि-नीर से तित-तित के सरि-नीर॥

एक दोहे में नायिका अपनी सखियों के साथ हिंडोला झूल रही होती है । इस बीच वहाँ नायक पहुँच जाता है जिसे देखकर नायिका वहाँ से भागने के लिए झूलते हुए झूले से ही कूद पड़ती है । नायक ने नायिका को कूदते देख तुरन्त ही उसे अपनी बाहों से थाम लिया और नायिका को नीचे गिरने नहीं दिया। इस प्रसंग का वर्णन बिहारी इन शब्दों में करते हैं –

हेरि हिंडोरे गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस लूटि॥

उक्त दोहे में 'करी खरी रस लूटि' में शृंगार रस है। यहाँ एक प्रकार की सन्तुष्टि का ही भाव है न कि अश्लीलता का। अपने प्रिय व्यक्ति को बचा लेने के पश्चात् जो आनन्द और संतोष का भाव उत्पन्न होता है, बिहारी उसी मनोभाव को यहाँ अभिव्यक्त करना चाहते हैं।

नायिकाओं में अक्सर रूप-गर्व का भाव होता है। बिहारी ने नायिका की रूप-गर्वजनित चेष्टाओं को भी उद्घाटित किया है। नायिका रातभर अपने प्रिय के हृदय सुख में रंगी रही। प्रभात होते ही वह पग-पग पर गर्व से अंगड़ाई लेती है यानी शरीर को ऐंठकर वह जिस आलस्य का प्रदर्शन कर रही है उसमें गर्व का भी पुट विद्यमान है। यह गर्व उसके प्रियतम का उसके प्रति प्रेम का गर्व है –

रंगी सुरत रंग पिय हियै लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठिठुकि कै ऐंड़ी भरी ऐंड़ाति॥

रतिक्रीड़ा के प्रभावस्वरूप नायिका के आलस्य और थकान के चिह्नों का बिहारी सूक्ष्म अंकन करते हैं। लज्जा, अभिमान, आलस्य और उमंग से भरे तुम्हारे नेत्र मुसकुरा रहे हैं। प्रातःकाल की तुम्हारी यह अनोखी छटा रात में किया गया समागम स्पष्ट कहे देती है –

लाज गरब आलस उमग भरे नैन मुसुकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

एक अन्य दृश्य में नायक-नायिका रात्रिकाल की रतिक्रीड़ा से थकित होने के कारण प्रातः उठकर बैठते हैं परन्तु दोनों की आँखों में नींद भरी हुई होने से वे दोनों एक-दूसरे से लिपटकर पुनः शय्या पर लुढ़क जाते हैं –

नीठि नीठि उठि बैठी हूँ प्यौ प्यारी परभात।
दौऊ नींद भरै खरै, गरे लागि गिरि जात॥

आँख-मिचौली के खेल में नायक-नायिका बिना एक-दूसरे को देखे शरीर की पारस्परिक छुवन से ही एक-दूसरे को जान लेते हैं। बिहारी लिखते हैं –

दृग मिहचत मृगलोचिनी भरयो उलटि भुज बाध।
जानि गई तिय नाथ कै हाथ पुरस ही हाथ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिहारी ने संयोग शृंगार का बहुआयामी चित्रांकनअपने दोहों में किया है। वे कभी नायक-नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं तो कभी उन्हें रतिक्रीड़ा में मग्न दिखाते हैं। रति के जितने भी दृश्य बिहारी ने उपस्थित किए हैं वे पाठकों के आगे सजीव हो उठते हैं। संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति में बिहारी निस्सन्देह अप्रतिम हैं।

3.5.2.2. वियोग शृंगार

शृंगार का दूसरा पक्ष वियोग है। आलोचकों ने वियोग को प्रेम की कसौटी कहा है। संयोग के समय में प्रेमी और प्रेमपात्र में पारस्परिक अनुरक्ति की उद्भावना और वृद्धि होती है वहीं वियोग के क्षणों में वही प्रेम अपने उदात्त स्वरूप का परिचय देता है। विश्व के प्रायः प्रत्येक साहित्य में वियोग पक्ष को महत्त्व दिया गया है। साहित्यदर्पण में कहा गया है – "जहाँ अनुराग तो अति उत्कट है परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलम्भ (वियोग) कहते हैं।" वियोग का यह क्षेत्र प्रेम के विस्तार के लिए व्यापक अवकाश उपलब्ध कराता है। वियोग ही वह स्थिति होती है जहाँ वियोगी मन चल-अचल वस्तुओं के साथ भी अपने प्रेम का मार्मिक वर्णन कर पाता है। संयोगावस्था में प्रेमी मन जितना सुख और स्नेह की अनुभूति करता है, वियोगावस्था में उसे उतनी ही तीव्रता के साथ विरहजन्य पीड़ा और वेदना का अनुभव भी होता है इसीलिए विद्वानों ने इस प्रेम की गहनता की कोटि संयोग को नहीं बल्कि वियोग को माना है। विप्रलम्भ अथवा वियोग शृंगार के चार मुख्य भेद बताए गए हैं – (i) पूर्वराग, (ii) मान, (iii) प्रवास हेतुक विरह तथा (iv) अभिशाप (करुण विरह)।

3.5.2.2.1. पूर्वराग

जब नायक-नायिका के परस्पर मिलने से पूर्व ही केवल एक-दूसरे के गुणों को सुनकर उनके मन में मिलन की तीव्र इच्छा जाग्रत होती है परन्तु मिलन न हो पाने के कारण एक प्रकार की तड़प और वेदना महसूस होती है वह स्थिति पूर्वराग है। दूसरे शब्दों में किसी के गुणों को सुनकर या उसके गुण-सौन्दर्य का दर्शन पाने के उपरान्त उससे प्रभावित होकर हृदय में एक अनुराग की भावना जन्म लेती है जो परस्पर मिलन की उत्कट इच्छा को प्रेरित करती है इस स्थिति को पूर्वराग कहा जाता है। यहाँ अभिलाषा की तीव्रता अधिक होती है। गुण-दर्शन में गुण-श्रवण, प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पूर्वराग से सम्बन्धित एक उदाहरण देखिए जिसमें नायक आलम्बन है और उसकी छवि उद्दीपन का कार्य करती है। नायिका कहती है कि जब से मेरे नेत्र प्रियतम की छविरूपी जल में पड़े हैं तब से ये एक भी क्षण के लिए अलग नहीं होते। ये घड़े की तरह भरते, डूबते, तैरते और उतराते रहते हैं –

हरि छबि जल जब तें परे तब तें छिनु बिछुरैन।
भरत ढरत बूडत तरत रहत घरी लौं नैन॥

बिहारी द्वारा किये गए पूर्वराग-वर्णन में नायिका की विरहजन्य पीड़ा तो दिखाई देती ही है साथ ही उसकी वेदना भी अत्यन्त हृदयग्राही जान पड़ती है। नायिका अपनी इस वेदना के लिए अपने नेत्रों को कोसती है। नायिका अपनी विरह पीड़ा को व्यक्त करती हुई अपनी सखी से कह रही है, हे सखी ! न जाने अब क्या होगा। ब्रज में बड़ी भारी आग उत्पन्न हुई है। यह आग कोमल नयनों के परस्पर जुड़ने से इन मनरूपी सरोवर में भभक जाती है। ब्रज की स्थिति ऐसी हो गई है कि कोई अब इसके पास से भी गुजरना नहीं चाहता। पूर्वानुरागी नायिका की इस दशा का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं –

को जानै ह्वै है कहा ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैननु लगै चलै न मन लगि लागि॥

एक अन्य दोहे में पूर्वानुरागी नायिका अपनी वेदना किसी के साथ बाँटती नहीं है बल्कि वह उसे जताने का प्रयास कर रही है। नायिका कहती है, हे सखी ! इन दुखिया आँखों के लिए सुख की सृष्टि ही नहीं हुई। अपने प्रीतम को देखते समय तो इनसे देखा नहीं जाता। प्रेमानन्द से इनमें आँसू डबडबा आते हैं, फलतः देख नहीं पातीं और जब प्रिय सामने नहीं हों तो उन्हें देखने के लिए ये आँखें व्यग्र हो उठती हैं –

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाहिं।
देखैं बनैं न देखतै अनदेखैं अकुलाहिं॥

3.5.2.2.2. मान

मान वियोग शृंगार का दूसरा भेद है । विद्वानों ने इसके दो उपभेद बताए हैं –प्रणय मान और ईर्ष्या मान । नायक और नायिका के बीच परस्पर उत्कट प्रेम रहता है परन्तु वियोग की स्थिति में कभी-कभी किसी कारणवश ये दोनों एक-दूसरे से खीझने और रूठने लगते हैं । प्रेमी मन में जब इस प्रकार की प्रवृत्ति का जन्म होता है तो शृंगारिक दृष्टि से वहाँ प्रणय मान का सूत्रपात होता है । दूसरे शब्दों में एक-दूसरे से रूठने की प्रवृत्ति ही प्रणय मान है । इसका विस्तार अधिक समय तक नहीं रहता ।

अपने एक दोहे में प्रणय मान को व्यक्त करते हुए बिहारी कहते हैं, दोनों ही अधिकाई से भरे हैं, एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं, दोनों को अपने सौन्दर्य पर अभिमान है और दोनों एक ही घात पर अड़े हुए हैं। नायक सोचता है कि नायिका मुझे मनाएगी, और इधर यह नायिका का हठ है कि नायक मुझे मनाए । फिर कौन किसको मनावे और कौन किससे माने ? दोनों के बीच का यह टकराव प्रणय मान है । शायद मान ही में दोनों की मति ठहरती है। दोनों को मान ही पसन्द है –

दोऊ अधिकाई भरे एकै गौं गहराइ ।
कौनु मनावै को मनै मानै मन गहराइ ॥

अपने प्रियतम का किसी अन्य के प्रति आसक्ति भाव के देखकर प्रेमी हृदय में जो खीझ अथवा एक प्रकार का रोष या क्रोध उत्पन्न होता है वह ईर्ष्या मान है । यहाँ अपने प्रिय के प्रति ईर्ष्या की भावना महत्त्वपूर्ण होती है । बिहारी ने ईर्ष्या मान के कई चित्र उकेरे हैं किन्तु यहाँ उन्होंने भावों का अतिरेक नहीं होने दिया है । बिहारी ने प्रेमी मन में ईर्ष्या मान की स्थिति का वर्णन दो तरह से किया है । पहला, विभिन्न चिह्नों के आधार पर तथा दूसरा, अनुमानों के आधार पर । अनुमान पर आधारित ईर्ष्या मान का एक उदाहरण देखिए जहाँ नायिका ने स्वयं दूती भेज प्रीतम को बुलाया । लेकिन उसके आने पर मौन धारण कर लिया । दूती और प्रीतम दोनों की लजीली आँखों को देखकर यह अनुमान कर कि दोनों ने मिलकर रतिक्रीड़ा की है, क्रोध में आ उसने, अपनी नजर चुरा ली। नायक से आँखें तक न मिलायी –

गह्यो अबोलौ बोलि प्यौ आपुहिं पठै बसीठि ।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंहीं दीठि ॥

3.5.2.2.3. प्रवास हेतुक विरह

नायक के परदेस जाने की जानकारी पाते ही नायिका व्याकुल हो उठती है । प्रिय-वियोगजन्य संताप ही प्रवास विप्रलम्भ या वियोग कहलाता है । इसकी तीन स्थितियाँ हैं – (i) प्रिय के परदेस जाने के समय वियोग की कल्पना से व्याकुलता, (ii) प्रिय के परदेस में रहने के दौरान वियोग संतप्तता और (iii) प्रिय के परदेस से लौटने के

बाद उससे शीघ्र मिलन को आतुरता। इन तीनों स्थितियों में नायिका क्रमशः प्रवत्स्यतपतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका कहलाती है।

बिहारी ने इन तीनों ही दशाओं का मार्मिक चित्रांकन किया है। प्रवत्स्यतपतिका नायिका कहती है, "कहो ! किसकी आड़ में ये चंचल प्राण टिक रहेंगे। कौन इन प्राणों को निकलने से रोक सकेगा ? प्रीतम ने विदेश चलने की बात चित्त में धरी है और यहाँ आँखों की ओट होते ही कल नहीं पड़ती। उन्हें देखे बिना क्षण-भर शान्ति नहीं मिलती –

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट॥

प्रोषितपतिका नायिका की स्थिति प्रवास वियोग की दूसरी अवस्था है। नायिका की सखी अथवा दूती नायक के आगे नायिका की विरहजन्य पीड़ा को बता रही है। वह कहती है वियोग की आग से जला हुआ और अश्रुओं से बहा हुआ उसका हृदय पतंग के समान उसाँस रूपी हवा से उड़ता रहता है। प्रिय वियोग के कारण वह कभी कहीं स्थिर नहीं रह पाता –

जर्‌यौ आगि वियोग की बह्यौ बिलोचन नीर।
आठौ जाम हियौ रहै उड्‌यौ उसास समीर॥

आगतपतिका नायिका की स्थिति प्रवास वियोग की तीसरी दशा है। नायक की परदेस से वापसी हो चुकी है और वह अपने घर के बरामदे में बैठा हुआ है जहाँ उसके इष्टमित्र उससे मिलने के लिए आ रहे हैं। इन मित्रों के बार-बार आते रहने के कारण नायिका को नायक से मिलने में विलम्ब हो रहा है। अतः प्रिय से मिलने की आतुरता नायिका को पीड़ित कर रही है। आगतपतिका नायिका की छटपटाहट प्रकट करते हुए बिहारी कहते हैं, प्राणनाथ प्रीतम परदेश से आने पर बाहर की बैठक में ही लोगों से मिल रहे थे। अतएव जो एक घड़ी उन्हें आँगन में आते-आते बीती, सो घड़ी नायिका के लिए ब्रह्मा की घड़ी (चार युग बीतने पर ब्रह्मा की एक घड़ी होती है) के समान लम्बी हो गई –

रहे बरोठे में मिलत पिउ प्राननु के ईसु।
आवत-आवत की भई बिधि की घरी घरी सु॥

इस प्रकार बिहारी ने प्रवास हेतुक विरह के अन्तर्गत वियोग की तीनों अवस्थाओं का मार्मिक प्रस्तुतीकरण किया है।

3.5.2.2.4. अभिशाप (करुण विरह)

वियोग शृंगार की इस स्थिति में विरही की सम्पूर्ण वेदना को अभिव्यक्त किया जा सकता है। विद्वानों ने इसके लिए कुल दस कामदशाओं का वर्णन शास्त्रों में किया है जो इस प्रकार हैं – अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। बिहारी ने सभी दसों दशाओं का वर्णन किया है जिसमें व्याधि का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

विरह वेदना के कारण नायिका हाथ से मेल हुए फूल की तरह कुम्हला गई है। हमेशा अपने साथ रहने वाली सखियों को भी वह बड़ी कठिनाई से पहचान में आती है। नायिका की सखी नायक के सम्मुख नायिका की विरह-व्याधि अवस्था वर्णन करती हुई उसे नायिका के समीप जाने के लिए प्रेरित करती है –

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछाणी जाइ॥

एक अन्य दोहे में विरहिणी स्वयं कहती है कि हे सखी ! मेरे प्राण गिनती में गिने जाने से भी रहे। अब कोई इनकी जीवित में गिनती भी नहीं करता। रहते हुए भी ये न रहने के समान हो रहे हैं। विरह के कारण इस शरीर में निहित प्राण होते हुए भी न होने के समान ही हैं। अब ये मेरे प्राण क्षय-तिथि (चन्द्रमा के अनुसार महीने की गिनती करने से बीच-बीच में कितनी तिथियों की हानि हो जाती है, और लुप्त होने पर भी वे पत्रा में लिखी जाती हैं, पर उनकी गणना नहीं होती) के समान शरीर में पड़े रहते हैं। ये प्राण शरीर में उसी तरह हैं जिस प्रकार क्षय मानी जाने वाली अवम तिथि।

गिनती गनिबे तैं रहे छत हूँ अछत समान।
अब अलि ए तिथि औम लौं परै रहै तन प्रान॥

विरह ताप सामान्य नहीं होता। इसमें तपने वाली नायिका की अनेक सूक्ष्मतम चेष्टाओं, हावभावों और मनोभावों का वर्णन बिहारी ने किया है। विरह की स्थिति को अधिक प्रभावी बनाने के लिए षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा का वर्णन भी मिलता है। इस तरह शृंगार निरूपण में संयोग के साथ-साथ वियोग के सभी पक्षों का चित्रांकन बिहारी ने बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है।

3.5.3. नख-शिख वर्णन

रीतियुगीन कवियों के काव्य में संयोग शृंगार के अन्तर्गत नख-शिख सौन्दर्य समान रूप से वर्णित हुआ है। प्रायः सभी कवियों ने किसी-न-किसी रूप में नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उसके अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता और शोभा का वर्णन किया है। बिहारी ने नख-शिख वर्णन करते हुए उसमें सरसता, स्वाभाविकता, कल्पना की उच्च श्रेणी का समावेश कर सतसई को महान् कृति की श्रेणी में स्थान दिलवाया। बिहारी ने नख-शिख वर्णन के अन्तर्गत केश-वर्णन, अलक-वर्णन, जूड़ा-वर्णन, बिन्दी-वर्णन, नेत्र, भौंह, कपोल, दर्शन, चिबुक,

गाल, ठोढ़ी, गोदना, मुख, कुच, कंचुकी, त्रिबिली, उरोज, कटि, एड़ी, गति, जंघा, पायल, अनवट आदि विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित विविध अंग आदि का भावोत्तेजक वर्णन किया है।

नायिका की बिन्दी को आधार बनाकर उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं, चन्दन की उजली बेंदी मुख की गोराई में एकदम मिल गई है, वह गोरे मुख पर दीख नहीं पड़ती। चन्दन की उज्ज्वलता गोराई में लीन हो गई है। किन्तु ज्यों-ज्यों उस नायिका के मुख पर मस्ती की लाली चढ़ती जाती है, वह बेंदी साफ खुलती चली जाती है –

मिलि चन्दन बेंदी रही गौरैं मुँह न लखाइ।
ज्यौं ज्यौं मद-लाली चढ़ै त्यौं त्यौं उघरति जाइ॥

नायिका के शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का वर्णन बिहारी ने पूर्ण मनोयोग से किया है। संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में बिहारी नायिका के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करने में नहीं चूके हैं तथापि नख-शिख वर्णन में बिहारी के काव्य की प्रभावात्मकता संयोग पक्ष के अन्तर्गत अधिक उद्घाटित हुई है। हालाँकि नख-शिख परम्परा में वर्णित नायिका के समस्त अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का विविधतापूर्ण चित्रण बिहारी के यहाँ मिलता है फिर भी विशेषकर नेत्रों के सौन्दर्य-वर्णन में कवि का मन खूब रमा है। नख-शिख वर्णन के दौरान नायिका की चेष्टाओं और मुद्राओं का भी प्रभावी वर्णन बिहारी ने किया है।

3.5.4. पाठ-सार

बिहारी रीतिकालीन शृंगारिक काव्य के चितेरे कवि हैं। अपने परिवेश की प्रवृत्ति के अनुरूप बिहारी ने अपने काव्य में शृंगार को प्रधानता दी जहाँ उनका मन वियोग शृंगार की अपेक्षा संयोग शृंगार में अधिक रमा है। अपने दोहों में बिहारी ने शृंगार के सभी भेदोपभेदों को आधार बनाया है। संयोग शृंगार के अनुरूप रूप-वर्णन, प्रणय, रति क्रीड़ा आदि विविध तत्त्वों पर बिहारी की लेखनी चली वहीं वियोग शृंगार के अन्तर्गत उसके चारों भेदों को बिहारी ने पर्याप्त महत्त्व दिया है। विशेष बात यह रही कि बिहारी ने मुख्यतः शृंगार के अधीन रहकर भी नीति, इतिहास, पुराण, लोकज्ञान, राजनीति आदि विषयों का भी समावेश अपने काव्य में कर दिया है। सीमित शब्दों में गहरे निहितार्थ प्रकट करने के उनके कौशल के कारण उनके दोहों के लिए गागर में सागर भर देने वाली बात सार्थक सिद्ध हो जाती है।

3.5.5. बोध प्रश्न

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शृंगार रस के मुख्य भेद बताइए।
2. रूप-वर्णन शृंगार के किस भेद के अन्तर्गत आता है ?
3. ईर्ष्या मान का सम्बन्ध किससे है ?

4. प्रवास हेतुक विरह की कितनी अवस्थाएँ हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वियोग शृंगार के भेदों का उल्लेख कीजिए।
2. बिहारी ने शृंगार के किस पक्ष पर अपनी अधिक रुचि दिखाई है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. पूर्वराग क्या है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
4. वियोग शृंगार के अन्तर्गत मान के भेद स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रवास हेतुक विरह-वर्णन की विस्तृत चर्चा कीजिए।
2. करुण विरह क्या है? सोदाहरण समझाइए।
3. वियोग शृंगार के प्रमुख भेदों का विश्लेषण कीजिए।
4. बिहारी के नख-शिख वर्णन का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कीजिए।

3.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली
2. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक काव्य, त्रिभुवन सिंह हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
3. बिहारी रत्नाकर, सम्पादक – दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ
4. बिहारी और उनका साहित्य, डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा तथा परमानन्द शास्त्री, भारत प्रकाशन मन्दिर
5. बिहारी की वाग्विभूति, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस
6. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, तारा बुक एजेंसी, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 1 : सन्तकवि सुन्दरदास की भक्ति-भावना, सुन्दरदास और लोकधर्म

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य कथन
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. सुन्दरदास और सन्तकाव्य-परम्परा
4.1.3. सुन्दरदास की भक्ति
  4.1.3.1. भक्ति की अवधारणा
  4.1.3.2. भक्ति का स्वरूप एवं मूल्यगत आधार
4.1.4. सुन्दरदास की भक्ति के विविध आयाम
  4.1.4.1. निराकार उपासना
  4.1.4.2. भक्तिमय ज्ञान व अद्वैत ज्ञान
  4.1.4.3. सहजानन्द ज्ञान-प्रक्रिया
  4.1.4.4. नाम-महिमा का गुणगान
  4.1.4.5. जीवन-मुक्ति
  4.1.4.6. गुरु-महिमा
  4.1.4.7. अध्यात्म-रहस्य और गुह्यज्ञान
4.1.5. सुन्दरदास और लोकधर्म
  4.1.5.1. पातिव्रत
  4.1.5.2. शूरता
  4.1.5.3. दुष्टविचार
  4.1.5.4. विपरीत ज्ञानी
  4.1.5.5. वचन विवेक
4.1.6. पाठ-सार
4.1.7. शब्दावली
4.1.8. बोध प्रश्न
4.1.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

4.1.0. उद्देश्य कथन

सन्तकवि सुन्ददरदास सन्तकाव्य-परम्परा में सर्वाधिक शास्त्रज्ञ, प्रबुद्ध एवं अध्ययनशील रचनाकार हैं। 'मसि कागद छुओ नहीं' का कथन कबीर की भाँति प्रायः सभी निर्गुण कवियों पर लागू होता है लेकिन सन्तकवि सुन्दरदास इसके अपवाद हैं। वे काव्यशास्त्रीय मूल्यों एवं विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान से भली-भाँति परिचित रहे। यही वजह है कि उनका दार्शनिक चिन्तन भी निरन्तर, क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित है। उनका रचनात्मक प्रतिपाद्य इस

तथ्य का गवाह है कि लोकमंगल व काव्य-कौशल की दृष्टि से वे हिन्दी के किसी भी सुकवि के समकक्ष स्वीकार किए जा सकते हैं। सही मायने में सुन्दरदास मानव-समाज के पथप्रदर्शक हैं। अपने सुधारवादी रवैये के कारण उन्होंने समाज को अनुचित आचरण से उचित आचरण के मार्ग पर लाने का सार्थक प्रयास किया है। अपनी सूक्तियों द्वारा वे व्यक्ति, परिवार व समाज को पग-पग पर उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय का बोध कराते रहते हैं। प्रस्तुत इकाई सन्तकवि सुन्दरदास की भक्ति-भावना और उनके लोकधर्म पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सन्तकाव्य-परम्परा में सुन्दरदास के महत्त्व से अवगत हो सकेंगे।
ii. सुन्दरदास की भक्ति के स्वरूप एवं मूल्यगत आधार को भली-भाँति समझ सकेंगे।
iii. सुन्दरदास की भक्ति के विविध आयाम को जान सकेंगे।
iv. सन्तकवि सुन्दरदास के लोकधर्म की विवेचना कर सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

मध्यकालीन हिन्दी काव्य प्रतिपाद्य विषय, भाषा, शैली आदि अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साहित्य की लौकिक सीमाओं तथा काव्यशास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक मानदण्डों में मध्ययुगीन काव्यधारा को नहीं बाँधा जा सकता। सन्तकवियों का लक्ष्य केवल काव्य-रचना नहीं था प्रत्युत उनकी रचनाओं में आमजन के हितार्थ उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। पारमार्थिक, लौकिक, अलौकिक एवं दार्शनिक जगत् की झाँकियों को प्रस्तुत करने वाले सन्तकवियों में सुन्दरदास का अपना महत्त्व है।

4.1.2. सुन्दरदास और सन्तकाव्य-परम्परा

सन्तकवियों के चिन्तन, जीवन-दर्शन और काव्यधारा पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म, जीव, जगत् तथा मायासम्बन्धी विचारधारा के साथ ही ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन से सम्बद्ध उपमानों और अप्रस्तुत योजनाओं को सन्तकवियों, विशेषकर सुन्दरदास द्वारा प्रायः उसी रूप में ग्रहण कर लिया गया है। हिन्दी सन्तकाव्य-परम्परा में आत्मा की अखण्डता, एकरसता, अद्वैतरूपता एवं अकथनीयता का प्रतिपादन वस्तुतः 'शंकर-सिद्धान्त' के अनुरूप है। सन्तकाव्य और सन्तदर्शन पर नाथपंथ का भी गहरा प्रभाव है। निर्गुण सन्तों की विचारधारा के बीज सिद्ध एवं नाथ कवियों की रचनाओं में विद्यमान हैं। सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, कबीर, रैदास, दादू, नानक, सुन्दरदास, मलूकदास प्रभृति सन्तों ने निर्गुण भक्तिकाव्य के माध्यम से भक्ति की इस परम्परा को आगे बढ़ाया। सन्तकवियों ने नामजप को साधना का आधार माना है। निर्गुण-सगुण से परे अनादि, अनन्त, अनाम, अज्ञात ब्रह्म का नामजप सन्तकाव्य-परम्परा का मूल तत्त्व है। सन्तकवियों का अटूट विश्वास है कि 'नाम' समस्त संशयों और बन्धनों को मुक्त कर देता है तथा 'नाम' ही भक्ति और मुक्ति का दाता है। सुन्दरदास नाम-स्मरण के माध्यम से मानसिक भक्ति को स्थापित करते हुए विभिन्न आडम्बरों का विरोध करते हैं। वे साधना मार्ग को व्यावहारिक एवं सरल स्वरूप प्रदान करने में ही अपने मत की सार्थकता मानते हैं। अपनी

रचनाओं के माध्यम से वे मानव को एक ऐसे विश्वव्यापी भक्ति व धर्म के सूत्र में निबद्ध करने की कोशिश करते हैं जहाँ जाति, वर्ग ओर वर्णसम्बन्धी भेद निरर्थक हैं । इस प्रकार सन्तकाव्य-परम्परा के अनुरूप सुन्दरदास का काव्यधर्म विश्वधर्म है जिसका मूलाधार हृदय की पवित्रता है। उन्होंने पवित्रता-सम्मत स्वाभाविक और सात्त्विक आचरण को उदात्त माना है। समस्त वासनाओं, इच्छाओं एवं द्वेषों से रहित हृदय की निस्सीमाओं में विशाल मानव धर्म का प्रवेश और समावेश सम्भव है। सुन्दरदास की भक्ति व लोकधर्म का स्वरूप भावात्मक एवं अनुभूतिप्रवण है। उसमें कहीं भी किसी शास्त्र अथवा सिद्धान्त के प्रति अनावश्यक आग्रह नहीं है। यह तथ्य उनकी भक्ति, साधना क्षेत्र और साहित्य जगत् में समान रूप से परिलक्षित होता है।

4.1.3. सुन्दरदास की भक्ति

भारतीय संस्कृति में मानवता की शिक्षा देने वाली भक्ति और मानव धर्म के सिद्धान्तों को अपने आप में समाविष्ट करने की अद्वितीय प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही रही है। सन्तों की भक्ति भी मूलतः मानवता के तत्त्वों को अपने में समाहित करने वाली रही है। ब्रह्म एवं आत्मा को सर्वव्यापक मानते हुए भक्ति के आलम्बन द्वारा विश्वबन्धुत्व की स्थापना करना, मानव धर्म की रक्षा करना तथा आमजन में भक्ति का प्रचार करना सन्तकवियों का प्रधान लक्ष्य है। गुरु दादूदयाल के सुयोग्य शिष्य सुन्दरदास विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं। दादू निर्देशित मध्यममार्ग को अपनाकर सुन्दरदास ने न केवल आत्म-कल्याण अपितु जन-कल्याण के दायित्व को भी बखूबी निभाया है। उनमें एक सच्चे आध्यात्मिक साधक, धर्म व समाज-सुधारक तथा उच्च कोटि के कवि के समस्त गुण विद्यमान हैं । उनका वास्तविक स्वरूप एक योगी-भक्त का रहा जो अन्ततः योग और भक्ति के मार्ग पर चलकर ब्रह्मोपासना में लीन हो जाता है।

4.1.3.1. भक्ति की अवधारणा

भक्ति और वैराग्य साधनों से ज्ञान अर्जित कर निर्गुण परम ब्रह्म तक पहुँचना सुन्दरदास की भक्तिपद्धति का अभिप्रेत है। परम ब्रह्म तक पहुँचने का सरलतम मार्ग भक्ति ही है जिस पर निर्भय होकर चलने से समस्त विश्व का कल्याण हो सकता है। उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक वेदान्त सिद्धान्तों के साथ भक्तियोग, हठयोग तथा सांख्य योग का सायुक्तिक समन्वयन किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त गुरुप्रवर्तित भक्ति-मार्ग एवं आत्मानुभव पर आधारित हैं। सुन्दरदास-कृत 'ज्ञानसमुद्र' के द्वितीय उल्लास में नवधा की कनिष्ठ भक्ति, प्रेम लक्षणा मध्यमा भक्ति तथा परा नामक उत्तमा भक्ति का सांगोपांग शास्त्रीय निरूपण हुआ है। सुन्दरदास के भक्ति-चिन्तन में समग्र प्राचीन भक्ति-ग्रन्थों का सार समाया है जिसमें भक्ति, विशेषकर पराभक्ति का वर्णन पढ़ते-सुनते ही बनता है। उन्होंने 'मिलि परमातम सौ आतमा, परा भक्ति सुन्दर कहै' कहकर भक्ति को उच्चतम कोटि पर पहुँचा दिया है। वे कहते हैं कि वह परब्रह्म देवताओं का देवता है, ईश्वरों का ईश्वर है, मणियों में सर्वश्रेष्ठ मणि है, पवित्र तत्त्वों में सर्वाधिक पवित्र है। मैंने बहुत सोच-विचारकर, भली-भाँति देख-परखकर जाना है कि उस प्रभु से बढ़कर महत्त्वपूर्ण अन्य कुछ भी नहीं। मैंने उसी परब्रह्म को दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। उस एक प्रभु की कृपा मेरे ऊपर सदैव बनी रहे और मेरे हृदय में हमेशा उसके प्रति भाव बना रहे। इसके अतिरिक्त मुझे और कोई कामना नहीं है–

देवनि कै सिर देव विराजत, ईश्वर के सिर ईश्वर कैये।
लालनि के सिर लाल निरंतर, खूबन कै सिर खूब सु लैये॥
पाकनि कै सिर पाक सिरोमनि, देखि बिचारि उहै दृढ़ गैये।
'सुंदर' एक सदा सिर उपर, और कछू हमकौ नहिं चैये॥

4.1.3.2. भक्ति का स्वरूप एवं मूल्यगत आधार

सुन्दरदास श्रीदादूसम्प्रदाय (ब्रह्मसम्प्रदाय) के अनुरूप वेदान्तसम्मत निर्गुण राम के उपासक हैं। ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप की उपासना कर पाना सामान्य जन के लिए सरल नहीं है। सुन्दरदास ने उसका भी सरलतम उपाय प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि साधक को प्रत्येक घड़ी, प्रति क्षण, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, देते-लेते, ध्यान करते या जगत् की ओर देखते समय हमेशा राम-नाम का उच्चारण करना चाहिए –

बैठत रामहि, उठत रामहि, बोलत रामहि राम रह्यौ है।
जीमत रामहि, पीवत रामहि, धीमत रामहि राम गह्यौ है॥
जागत रामहि, सोबत रामहि, जोवत रामहि राम लह्यौ है।
देतहु रामहि, लेतहु रामहि, सुन्दर रामहि राम कह्यौ है॥

उस निर्गुण निराकार परब्रह्म राम से तदाकार की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि भक्त के कान, नेत्र, मुख, सिर, हाथ, पाँव, पेट, पीठ और रोम-रोम के सभी अंगों से राम की ध्वनि ही गुंजरित होती जान पड़े। भक्त के भीतर, बाहर, सर्वत्र एवं सर्वदा राम ही राम विराजमान हैं। सुन्दरदास कहते हैं –

श्रोत्रहु रामहि, नेत्रहु रामहि, वस्त्र हु रामहि रामहि गाजै।
सीसहु रोमहि, हाथहु रामहि, पाँवहु रामहि, रामहि साजै॥
पेटहु रामहि, पीठहु रामहि, रोमहु रामहि रामहि बाजै।
अंतर राम, निरंतर रामहि, 'सुंदर' रामहि राज बिराजै॥

सुन्दरदास ब्रह्म और आत्मा में भेद नहीं मानते। वे कहते हैं कि जीव उस अविनाशी ईश्वर का प्रतिरूप है। आत्मा और परमात्मा को पृथक् नहीं किया जा सकता। वह निर्गुण-निराकार परब्रह्म राम ही सृष्टि को उत्पन्न करता है, वह ही इसे सँवारता है और वह ही इसका भंजन करता है। इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ दीख रहा है वह सब राम ही है और जो कुछ नहीं दीख रहा है वह भी राम ही है। उस राम की ही इच्छा से संसार की प्रत्येक घटना घटित हो रही है; वे राम ही सब कार्यों की संभाल करते हैं। वर्ण-अवर्ण सबमें वह राम ही हैं। रूप-रंग-रेख से रहित वह राम न लाल है, न पीला, न उजला, न काला। इन सब रंगों से रहित होते हुए भी वह इन सबमें समाया है। वह राम आकाश में भी स्थित है और जहाँ कहीं कुछ भी भराव भासित हो रहा है, वह राम उन-उन समस्त स्थानों में भी परिव्याप्त है। वह रामनाम वाला होकर भी नाम रहित है। संसार के समस्त नाम उसी के नाम हैं।

आपहु राम, उपावत रामहि, भंजन राम, सँवारन रामै।
दृष्टिहु राम, अदृष्टिहु रामहि, इष्टहु राम, करै सब कामै॥

वर्णहु राम, अवर्णहु रामहि, रक्त न पीत न स्वेत न स्यामै।
शून्यहु राम, अशून्यहु रामहि, 'सुंदर' रामहि नाम अनामै॥

सुन्दरदास प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में हर जगह उस ईश्वर की व्याप्ति मानते हैं। शुद्ध भक्तिभाव से सहज तथा सरल रूप में प्रेमसहित उस ईश्वर के प्रति एकनिष्ठता प्रकट करते हैं। वे उस परब्रह्म के दर्शनरूपी अनुग्रह हेतु व्याकुल हैं। सुन्दरदास अपना प्रत्येक सांसारिक कार्य में ब्रह्मकार्य समझकर ही प्रवृत्त होते हैं। वे अपने गुरु का अनुकरण करते हुए जगत् को ब्रह्ममय जानकर मध्यममार्ग के भक्तिपथ पर अग्रसर होते हैं।

4.1.4. सुन्दरदास की भक्ति के विविध आयाम

धर्म एवं दर्शन अनन्तकाल से भारतीय समाज के केन्द्र में रहे हैं। धार्मिक भाव उदात्त होने पर प्रेम तथा श्रद्धा का जागरण होता है और उसी से भक्ति का उद्रेक होता है। सेवा, नाम-स्मरण, आत्मोत्सर्ग तथा अपने समस्त कर्मों-धर्मों को अपने प्रिय इष्टदेव के श्रीचरणों में न्योछावर करना भक्ति का सर्वमान्य साधन है। भक्त जब सम्पूर्ण चराचर जगत् को अपने स्वामी का अंश होने से उसे अपने से अभिन्न मानने लगे और अपने प्रभु द्वारा निर्मित सृष्टि के हितार्थ समर्पित हो जाए तो उसे प्रेमाभक्ति का चरमोत्कर्ष मानना चाहिए। सन्त एवं भक्तजन लोककल्याण में इसलिए निरत हो जाते हैं क्योंकि वे मान लेते हैं कि मेरे प्रभु अपने द्वारा निर्मित इस सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् के भरण-पोषण की चिन्ता करते हैं जिसमें उनका कुछ हाथ बँटाना मेरा कर्त्तव्य है। मानवधर्मी कवि सुन्दरदास सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक व्यवहारों के विषय में दीर्घ चिन्तन करके उससे निस्सृत निष्कर्ष से जनसामान्य का पथ आलोकित करने वाले समाज-सुधारक हैं। निराकार उपासना, भक्तिमय ज्ञान व अद्वैत ज्ञान, सहजानन्द ज्ञान-प्रक्रिया, नाम-महिमा का गुणगान, जीवन मुक्ति, गुरु महिमा, अध्यात्म रहस्य व गुह्य ज्ञान उनकी भक्ति के विविध आयाम हैं।

4.1.4.1. निराकार उपासना

निराकार ब्रह्मोपासना की परिकल्पना का मूल आधार उपनिषद् है। यद्यपि उपनिषदों में ईश्वर के निर्गुण रूप की संकल्पना निहित है तथापि उनमें निर्गुण-सगुण समन्वित स्वरूप की उपासना का भी निर्देश है। अनादि, अजन्मा, अनन्त ब्रह्म का नाम जप निराकार उपासना का मूल तत्त्व है। निर्गुणोपासक सन्त आत्मा-परमात्मा के अद्वैत को स्वीकार करते हैं। सुन्दरदास की भक्ति भी निर्गुण, निरंजन, निराकार परब्रह्म की उपासना का ही उपदेश करती है। उस एक अखण्डित-अद्वितीय ब्रह्म की उपासना का उपनिषद् का प्रधान सिद्धान्त उनकी भक्ति में सहज ही अनुभूत है। सुन्दरदास के अनुसार जीव स्वभावतः सर्वप्रथम प्रकृति में ही पलता है तथा उसके उपरान्त अभ्यास के बल से अपने स्वभाव को वह स्थूल, बाह्य व भौतिक स्वरूप की ओर उन्मुख करता है। जीव का 'निग्रह पूर्ण अभ्यास' ही उसे आदिस्रोत परमात्मा की ओर ला सकता है। उनके मतानुसार निराकार भक्ति में मानसी सेवा अन्तःकरण में सदैव ज्ञान की सहचरी व सहकारी बनी रहती है। 'जानैं सोइ बखानैं' के आधार पर सुन्दरदास ने ईश्वर के निराकार की उपासना के प्रकरण पर बहुत ही प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति की है। उदाहरण देखिए –

तुरिया साधन ब्रह्म कौ, अहं ब्रह्म यौं होइ।
तुरिया तीतहि अनुभवै, हूं तूं रहै न कोइ॥

* * *

जाग्रत ता नहिं मेरे विषै कछु, स्वप्न सुतो नहिं मेरे विषै है।
नाहि सुसोपति मेरे विखै पुनि, विश्वहु तैजस प्राज्ञ पखै है।
मेरे विषै तुरिया नहिं दीसत, याही तें मेरो स्वरूप अखै है।
दूर तें दूर परै तें परै अति, सुन्दर कोउ न मोहि लखै है॥

* * *

नाहीं नाहीं करि कह्यौ, है है कह्यौ बखानि।
नांही के मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥

* * *

यही ही है पर यह नहीं, नांही है है नांहि।
यह ई यह ई जांनि तू, यह अनुभव या मांहि॥

ब्रह्मा कुम्हार की भाँति अनेक पात्र बनाते हैं और उन पर मोहित होकर कर्म के वशीभूत हो जाते हैं। विष्णु भी कर्म के अधीन होकर अवतार हेतु गर्भवास का संकट सहते हैं। अवतार ग्रहण कर वे भक्तों की रक्षा करते हैं तो राक्षसों का नाश करते हैं। कर्म के अधीन होकर शंकर भी भूत-पिशाचों के स्वामी बनकर रहते हैं तथा हाथ में नरमुंड लिए सती के वियोग में मारे-मारे फिरते हैं। सुन्दरदास कहते हैं कि प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज व तम से संयुक्तसगुण ब्रह्म को छोड़कर उस एक, अखण्डित, निरंजन परब्रह्म की उपासना में निरत होना ही उचित है।

ब्रह्मा कुलाल रचै बहु भाजन, कर्मनि कैं बसि, मोहिन भावै।
विष्णु हु संकट आइ सहै प्रभ, काहु कौं रक्षक, काहु सतावै॥
शंकर भूत पिसाचनि के पति, पानि कपाल लिये बिललावै।
याहि तै 'सुंदर' त्रीगुन त्यागि, सु निर्मल एक निरंजन ध्यावै॥

सुन्दरदास कहते हैं कि शास्त्र-स्मृति, वेद-पुराण बखान करके ईश्वर के जिन अवतारों का वर्णन करते हैं, वह सब लोपांजन है। सत्य तो वह निर्गुण ब्रह्म है जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। उसी को इष्ट बनाना और उसी को अपने हृदय में अवस्थित करना सार्थक है। वह परब्रह्म ही सबके ऊपर है इसलिए अन्य को त्यागकर उसी प्रभु की शरण ग्रहण करना विवेकपूर्ण है। वह निर्गुण ब्रह्म रूप-रेख-वर्ण से रहित है। वह अखण्ड ब्रह्म दृष्टि और समझ से परे है। त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति से पृथक्, होता हुआ भी वह सम्पूर्ण जड़-चेतन के कार्य सम्पन्न करता है। सुन्दरदास माया से निर्लिप्त उस निरंजन निराकार परब्रह्म पर न्योछावर जाते हैं –

जा प्रभु तें उतपत्ति भई यह, सो प्रभु है उर इष्ट हमारैं।
जौ प्रभु है सब के सिर उपर, ता प्रभु कौं हमहूं सिर धारैं॥
रूप न रेख, अलेख, अखंडित, भिन्न रहै, सब कारिज सारै।
नाम निरंजन है तिनकौ, पुनि सुन्दर ता प्रभु कैं बलिहारैं॥

अपनी सभी रचनाओं में सुन्दरदास निराकार ब्रह्म की उपासना, उसके ध्यान-ज्ञान, उसकी प्राप्ति और प्राप्ति से अनुभूत परमानन्द का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है; यथा –

अंजन यह माया करी आपु निरंजन राइ।
सुन्दर उपजत देखिये बहुल्यौ जाइ बिलाइ॥

* * *

कीयौ ब्रह्म बिचारि जिनि, तिनि सब साधन कीन।
सुन्दर राजा कै रहै प्रजा सकल आधीन॥

* * *

सुन्दर हौं नहिं तू नहीं जगत नहीं ब्रह्मंड।
हौं पुनि तूं पुनि जगत पुनि ब्यापक ब्रह्म अखंड॥

वह निरंजन निराकार ही सारतत्त्व है। उसमें लौ लगाने से ही मुक्ति सम्भव है। संसार के अन्यान्य सुख तो क्षणिक हैं किन्तु उस ब्रह्म की अनुभूति परमानन्द है जिसका कोई पार नहीं है। सुन्दरदास उस परब्रह्म की महिमा का बखान करते हैं एवं उसी की उपासना का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि मैं तो उस एकमात्र अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करूँगा। अन्य किसी भी वस्तु की चाह मुझे नहीं है। भले ही कोई मुझको करोड़ों मुक्तियाँ (मोक्ष) क्यों न दान में दे मैं उनको स्वीकार नहीं करूँगा। ब्रह्मा आदि महान् सृष्टि रचियता भी जिसका पार न पा सके। उन्होंने ने तो एक कुम्भकार का ही कर्म किया; क्योंकि कुम्भकार भी ऐसे नये नये कर्म करता रहता है। उनको प्राप्त करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। विष्णु को प्राप्त करने की भी मेरी कोई इच्छा नहीं है; क्योंकि वह भी अनेक बार गर्भ में आया और गया। वह भी अनेक बार संकट में पड़ कर उनसे मुक्त होने के लिये इधर उधर दौड़ते रहे। मेरा अभीष्ट तो वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म है –

अलष निरंजन ध्यावउं और न जाचउं रे।
कोटि मुक्ति देइ कोई तौ ताहि न राचउं रे॥
ब्रह्मा कहियेइ आदि पार नहीं पावै रे।
कीयौ करम कुलाल सुमन नहिं भावै रे॥
बिष्णु हुते अधिकारि सुनौग्रभ जनम्यौं रे।
संकट मांहें आइ दसौं दिस भरम्यौं रे॥

* * *

ताहि न यह जग ध्यावई, जातैं सब सुख आनंद होई।

* * *

ऐसा ब्रह्म अखण्डित भाई, वार पार जान्यौं नहिं जाई।

उस परम दयालु ब्रह्म की उदारता भी अवर्णनीय है। सुन्दरदास कहते हैं कि हे देव ! आप अगाध (गम्भीर) हैं। समस्त वेद 'नेति नेति' कह कर ही आप का गुणगान करते हैं, वे भी आप का भेद (सच्चाई / वास्तविकता) नहीं जान पाये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं शेष नाग भी आपका गुणगान करते हुए थक गये, परन्तु इनमें कोई भी आप का यथार्थ वर्णन नहीं कर सका। आपका आदि, अन्त एवं मध्य आप ही हैं। इस विषय में अन्य कोई कुछ नहीं जानता। सनक आदि ऋषि, नारद आदि मुनि तथा शारदा आदि विदुषियाँ भी आपके विषय में यही कहती हैं। देवता, मनुष्य, मुनि, ऋषि, गन्धर्व – इनमें से कोई भी आपके विषय में यथार्थ नहीं जान पाया। आपकी यथार्थता जानने में सभी साधुजन एवं सिद्धजन श्रान्त हो (थक) चुके हैं। यद्यपि ये सभी स्वयं को श्रेष्ठ ज्ञानी एवं व्यवहार कुशल मानते हैं। तब मैं साधारण कवि तो आप का यथार्थ वर्णन करने में बहुत अधिक हैरान (चकित) हूँ हीं।

तूं अगाध तूं अगाधतूं अगाध देवा।
निगम नेति नेति कहैं, जानैं नहिं भेवा॥
ब्रह्मादिक बिष्णु शंकर, सेस हू बषांनै।
आदि अन्ति मद्धि तुमहि, कोऊ नहिं जांनै॥
सनकादिक नारदादि(क) सारदादि(क) गावैं।
सुर नर मुनि गन गँधर्ब, कोऊ नहिं पावैं॥
साध सिद्धि थकित भये, चतुर बहु सयांनां।
सुन्दरदास कहा कहै, अति ही हैरांनां॥

ब्रह्मवास का वर्णन करते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि हे सन्तो ! ज्ञानीजनों का वास्नास्थान घर में भी पृथक् ही होता है। वहाँ न पिण्ड हैं, न ब्रह्माण्ड हैं, वहाँ कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि वह सबसे पृथक् हैं तथा वह आलंबन एवं आधार रहित हैं। उस वासस्थान में न सूर्य हैं न चन्द्रमा; न अग्नि, न वायु एवं न जल ही है। न धरा (पृथ्वी) है और न आकाश ही। वह केवल ज्ञानी की सुरती (ज्ञान) का ही वास है। उस वास स्थान तक न वेद, न पुराण न दार्शनिकों के शब्द पहुँच पाए; अपितु वहाँ तक एकमात्र मानसिक चिन्तन से ही पहुँचा जा सकता है। ऐसे साधक की साधना का मार्ग जल में मीन के समान विपरीत (उल्टा) ही होता है। वहाँ तो शून्य से शून्य में जाना होता है।

संतो घर ही मैं घर न्यारा।
पिंड ब्रह्मंड तहां कछु नाहीं निरालम्ब निरधारा॥
दिवस न रैंनि सूर नहिं ससिहर अग्नि पवन नहिं पांनी।

धर आकाश तहां कछु नाहीं ता घर सुरति समानी ॥
बेद पुरान शब्द नहिं पहुंचै मनही मन मैं जांना ।
उलटा पंथी मीन का मारग सूंन्य हि सूंन्य पयांना ॥

आत्म-चिन्तन से उस परब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है । उस सारतत्त्व परमात्मा का स्वरूप वर्णित करते हुए सुन्दरदास कहते हैं – हे भगवान् ! केवल आप ही इस संसार में सर्वत्र व्यापक हैं, क्योंकि आप सीमारहित हैं । क्रमशः जानते हुए मैंने अन्त में निश्चित रूप से जान लिया कि पृथ्वी तत्त्व में एकान्ततः आप ही सर्वत्र व्यापक हैं; अन्य सब तो केवल भाजन (साधन) हैं । जल तत्त्व में एक आप ही सर्वत्र व्यापक हैं, अन्य सब तो फेन, तरंग या बुदबुद (बुलबुले) मात्र हैं । तेज तत्त्व में भी एक आप ही तापक द्रव्य हैं, अन्य सब तो टिमटिमाने वाले सत्ताहीन दीपक ही हैं । वायु द्रव्य में भी एक आप ही वाहक द्रव्य हैं; अन्य सब तो कुछ देर तक चलने वाली आँधी के समान हैं –

एक तूं एक तूं ब्यापक सारै । एक तूं एक तूं वार न पारै ॥
एक तूं एक तूं पृथ्वी जाना, एक तूं एक तूं भाजन नाना ॥
एक तूं एक तूं नीर प्रसंगा, एक तूं एक तूं फेन तरंगा ॥
एक तूं एक तूं तेज तपन्ता, एक तूं एक तूं दीप अनन्ता ॥
एक तूं एक तूं पवन प्रचूरा, एक तूं एक तूं फिरत बघूरा ॥

संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो कुछ यत्र-तत्र दृश्यमान् है, वह सब नाशवान् है और निरन्तर विनष्ट हो रहा है । यह धारित देह स्थिर और शाश्वत नहीं रह सकती । तीनों लोकों में चौरासी लाख योनियों में प्रतिक्षण रूप धारण करने वाले और नाश होने वालों की कहाँ तक गणना की जाय । सत्व, रज व तम – इन तीनों गुणों से युक्त प्राणियों को काल निश्चित रूप से ग्रसता है; केवल एक गुणातीत ब्रह्म ही नाश से बचा रहता है । सुन्दरदास ने मूल तत्त्व का मर्म जान लिया है । उनका मन प्रभु के इसी निरंजन रूप को स्वीकार करता है –

जो उपज्यौ कछु आहि जहाँ लग, सो सब नास निरंतर होई ।
रूप धर्‌यो सु रहै नहिं निश्चल, तीनिहुं लोक गनै कहा कोई ॥
राजस तामस सात्विक जो गुन, देखत काल ग्रसै पुनि ओई ।
आपुहि एक रहै जु निरंजन, सुन्दर के मन मानत सोई ॥

4.1.4.2. भक्तिमय ज्ञान व अद्वैत ज्ञान

सन्तकवि सुन्दरदास भक्तिमय ज्ञान के समर्थक हैं । वे कहते हैं कि ज्ञानी अनासक्ति भाव से सभी काम करता है । वह देखने के लिए देखता है, लेकिन किसी दृश्य विशेष में आसक्त नहीं होता । वह बोलने के लिए तो बोलता है, परन्तु उसका बोलना बोलना नहीं कहा जा सकता । वह किसी भी पदार्थ में रुचि नहीं लेता । वह तो सूँघता भी अनासक्त भाव से ही है । सुनने के लिए वह सबकी बात सुन लेता है, परन्तु वास्तव में वह सुनता किसी की नहीं है । खाता-पीता सब कुछ है लेकिन किसी वस्तु विशेष में उसकी कोई अभिरुचि नहीं होती है । भक्तिमय

ज्ञान के उपरान्त भक्त मिलने के लिए तो सभी से मिलता है परन्तु अनासक्त भाव से। वह निष्काम भाव से कुछ लेता है अथवा ग्रहण करता है। इस प्रकार ज्ञानी की बात कोई ज्ञानी ही जानता है। सन्त सुन्दरदास लिखते हैं –

देखत है पै कछू नहिं देखत, बोलत है नहिं बोल बखानै।
सूँघत है नहिं सूँघत घ्रांण, सुनै सबहैं न सूनै यह मानै॥
भक्ष करै अरु नाहिं भखै, कछु भेटत है नहिं भेटत प्रानै।
लेत है देत है, देत न लेत है, सुन्दर ज्ञानी की ज्ञानिहि जानै॥

कर्म, भक्ति और ज्ञान द्वारा आत्मा के निर्मल होते ही अद्वैत का ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानी जो कुछ देखता है, सुनता है, वह सब ब्रह्म है। क्षिति, जल, पावक, गगन व समीर में जहाँ तक प्राणी हैं, सभी ब्रह्म है। आदि, मध्य व अन्त सभी ब्रह्म है। ज्ञान भी ब्रह्म है तथा ज्ञेय भी ब्रह्म है। ज्ञानियों का विश्वास है कि स्वयं ज्ञाता भी ब्रह्म ही है। सुन्दरदास कहते हैं कि –

देखत ब्रह्म सुनै पुनि ब्रह्महिं, बोलत है कोउ ब्रह्महिं बांनी।
भूमिहु नीरहु तेजहु वायुहु, व्योमहु ब्रह्म जहाँ लगि प्रानी॥
आदिहु अंतहु मध्यहु ब्रह्महि, है सब ब्रह्म इहै मति ठांनी।
सुन्दर ज्ञेय रु ज्ञानहु ब्रह्म, सु आपहु ब्रह्महिं जानत ज्ञानी॥

ब्रह्म में अधिष्ठित होने पर भी जगत् को मिथ्या सिद्ध करना बड़ा कठिन है। यह पक्ष बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी समझ में नहीं आता है। इसी पक्ष को पाश्चात्य विचारक इमानुएल कांट, शोपनहार, डायसन आदि ने बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया है। सुन्दरदास इसे बड़े सरल रूप में समझाते हैं। वे जगत् को ब्रह्म और ब्रह्म को जगन्मय मानते हैं। यानी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। वह ब्रह्म ही जगत् का आधार है। वह ब्रह्म ही जगत् का व्यापक स्वरूप है। "तैसें ही सुन्दर यह जगत् है ब्रह्म, ब्रह्म सौ जगतमय वेद यौं कहत है" – ऐसा कहकर सुन्दरदास ने उक्त पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। जिन्हें यह ब्रह्मज्ञान हो जाता है फिर वे स्वर्ग या पाताल में नहीं जाते। एक व्यापक और अखण्ड ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्व में निरन्तर व्याप्त हो रहा है। उसके बिना इस संसार में कहीं कुछ भी होना सम्भव नहीं है। जैसे घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश नष्ट होकर पुनः महाकाश में मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार मुनियों (ज्ञानियों) की मुक्ति शरीर त्याग के साथ ही हो जाती है। सुन्दरदास के अनुसार मोक्षशिला की परिकल्पना भ्रामक और निरर्थक है –

केवल ज्ञान भयौ जिनकै उर, ते अघ उरध लोक न जांही।
व्यापक ब्रह्म अखंड निरंतर, वा बिन और कहूं कछु नांही॥
ज्यौं घट नास भये घट व्योम, सु लीन भयौ पुनि है नभ मांही।
त्यौं मुनि मुक्ति जहाँ बपु छाड़त, सुन्दर मोक्षशिला कहुं कांही॥

4.1.4.3. सहजानन्द ज्ञान-प्रक्रिया

जीव के लिए सबसे बड़ा आनन्द ब्रह्मानन्द है। जब तक इस आनन्द की प्रतीति न हो तब तक जीव अन्यान्य पदार्थों में आनन्द की खोज करता रहता है। प्राक्तन संस्कारों के फलस्वरूप कभी कहीं किसी रूप में सद्गुरु से भेंट हो जाय और उनके अनुग्रह से ब्रह्मानन्द का बखान सुन लिया जाय तब जीव को अपने जन्म का मूल उद्देश्य ज्ञात हो जाता है फिर ये लौकिक मान-सम्मान, पद, नाम, धन, ऐश्वर्य, सम्बन्ध और भौतिक स्वाद-सुख फीके लगने लगते हैं। इसी परमानन्द को अनुभव कर सन्त दादूदयाल गाते हैं – "नाम रस मीठा रे, कोई पीवै संत सुजान।" सांसारिक सुखों और सम्बन्धों की प्राप्ति कष्टसाध्य है फिर उनकी सार-संभाल और भी कठिन होती है जबकि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति अत्यन्त सरल एवं सहज है और एक बार उसकी प्रतीति होने पर वह छूटता भी नहीं। ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के लिए किसी विधि-विधान और साधन की अपेक्षा नहीं होती और न ही उसे प्राप्त करने के लिए तीर्थ-दान, प्रतिमा-सेवा आदि प्रपंचों की आवश्यकता होती है। केवल आत्म-ज्ञान के द्वारा वह सहजानन्द घट ही में सहजता से सुलभ हो जाता है। तब साधक को सम्पूर्ण चराचर जगत् में उस परब्रह्म की प्रतीति होने लगती है। निज और पराये का भेद जाता रहता है। आवश्यकताएँ और अपेक्षाएँ नष्ट हो जाती हैं। नाम-स्मरण में ही मन रमने लगता है। परमात्म-वियोग का कष्ट जाग्रत हो उठता है और मिलन की छटपटाहट के कारण देह बाधक लगने लगती है। मृत्यु महोत्सव लगने लगती है और तब सन्त कबीर गा उठते हैं –

दुलहनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रत करिहू, पंचतत्त बराती।
रांमदेव मोरैं पाँहुनैं आये, मैं जोवन मैं माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रांमदेव संगि भांवरी लैहूँ धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥

सन्तकवि सुन्दरदास सन्त कबीर, दादूदयाल प्रभृति सन्तों के अनुगामी हैं। उनके अनुसार बिना किसी बाह्याडम्बर तथा साधनों की अटपटाहट के सहज-सरल रीति द्वारा ब्रह्मानन्द की प्रतीति ही सहजानन्द ज्ञान-प्रक्रिया है। सुन्दरदास ने अपने 'सहजानन्द' ग्रन्थ के 24 दोहा-चौपाइयों में सहजानन्द प्रक्रिया का ललित वर्णन करते हुए कहा है कि इस प्रक्रिया में किसी मतमतान्तर, कर्मकाण्ड, यम, नियम, सिद्धान्त आदि की आवश्यकता नहीं रहती –

सहज निरंजन सब में सोई। सहजै सन्त मिले सब कोई॥

* * *

सहजै नाम निरंजन लीजै। और उपाइ कछू नहिं कीजै॥

* * *

सहजै ब्रह्म-अगनि पर जारी। सहज समाधि उनमनी तारी॥

सहजानन्द-प्राप्ति के लिए सुन्दरदास पंथ-सम्प्रदाय का भेद और जातिगत श्रेष्ठता-हीनता की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार वे परोक्षतः मानव दर्शन में समर्थन करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं सौमनस्य को अग्रसारित करते हैं। ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के लिए दैनिक आचरण में उन्होंने पूजा-विधियों तथा साम्प्रदायिक विधि-विधानों का निषेध किया है। समता की मानसिकता में ही सहज सुख की अनुभूति होती है, वही सहजानन्द है –

चीन्ह बिना सब कोई आये। इहाँ भये दोइ पंथ चलाये॥
हिन्दू तुरक उठ्यौ यह भर्मा। हम दोउ का छाड्या धर्मा॥
माला जपौं न तसबी फेरौं। तीरथ जाउं न मक्का हेरौं॥
न्हांई धोइ नहिं करूँ अचारा। उजूँ तं पुनि हूवा न्यारा॥

हिन्दू की हदि छाँड़ि कै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हियाँ, एकै राम अलाह॥

सुन्दरदास के गुरु दादूदयाल भी तो इसी सहज साधना द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का उपदेश करते हैं –

साधो हरि सौं हेत हमारा, जिन यहु कीन्ह पसारा।
जा कारण व्रत कीजे, तिल-तिल यहु तन छीजे।
सहजैं ही सो जाना, हरि जानत ही मन माना।
जा कारण तप जइए, धूप-शीत शिर सहिए।
सहजैं ही सो आवा, हरि आवत ही सचु पावा।
जा कारण बहु फिरिए, कर तीरथ भ्रम-भ्रम मरिए।
सहजैं ही सो चीन्हा, हरि चीन्ह सबै सुख लीन्हा।
प्रेम भक्ति जिन जानी, सो काहे भरमे प्रानी।
हरि सहजैं ही भल मानैं, तातैं दादू और न जानैं।

4.1.4.4. नाम-महिमा का गुणगान

नाम-स्मरण का महत्त्व सभी सन्तों एवं भक्तों ने एकमत से स्वीकार किया है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि नाम की महिमा अवर्णनीय है। सहस्रमुख वाले शेषनाग अनन्तकाल से अपनी सहस्र जिह्वाओं से निरन्तर नामजप कर रहे हैं फिर भी उसका पार नहीं पाते। यानी सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक अपनी हजारों जिह्वाओं से वे एक साथ उस ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों का जाप कर रहे हैं फिर भी अनन्त नाम वाले उस ईश्वर के समस्त नामों की वे अब तक थाह नहीं पा सके हैं। शिव, सनकादिक मुनि और उदारहृदय सन्तजन भी अनन्तकाल से उस दयालु ईश्वर के नाम की महिमा का वर्णन कर रहे हैं परन्तु अब तक सम्पूर्ण रूप में नाम की महिमा का वर्णन नहीं कर पाए हैं –

सुन्दर महिमा नाम की, क्यों करि बरनी जाइ।
सेस सहस मुख कहत हैं, सो भी पार न पाइ॥

सुन्दर महिमा नाम की, कहत न आवै अन्त।
शिव सनकादिक मुनि जना, थकित भये सब संत॥

नाम स्मरण से संशय नष्ट हो जाता है और जीवन आनन्दमय हो जाता है। नाम स्मरण से जीवन के सम्पूर्ण दुःख-द्वन्द्व मिट जाते हैं। नाम स्मरण से ही समस्त सुखों के साररूप भगवान् के दर्शन होते हैं। बिना नाम स्मरण के भवसागर से पार सम्भव नहीं है। प्रभु के निरन्तर स्मरण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो उसका स्मरण करता है, वह उसी का रूप का हो जाता है। ब्रह्म के निरन्तर स्मरण से भक्त भी ब्रह्मरूप हो जाता है –

सुमिरन तें संसय मिटै, सुमिरन मैं आनन्द।
सुन्दर सुमिरन कै किये, भागि जाहिं दुःख द्वंद्व॥

सुमिरन तें श्रीपति मिलें, सुमिरन तें सुख सार।
सुमिरन तें परिश्रम बिना, सुन्दर न उतरै पार॥

सुमिरन ही मैं शील है, सुमिरन मैं सन्तोष।
सुमिरन हीं ते पाइये, सुन्दर जीवन मोष॥

जाही कौ सुमिरन करै, ह्वै ताही को रूप।
सुमिरन कीयें ब्रह्म कैं, सुन्दर ह्वै चिद्रूप॥

4.1.4.5. जीवन-मुक्ति

जीवन-मुक्ति से आशय है – आवागमन से मुक्ति। जीव जब तक वह जन्म-मरण के चक्र में उलझा रहता है तभी तक उसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं। कर्म-बन्धन में पड़कर वह अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियों को क्रमशः भोगता रहता है। फिर एक बार प्रभु-अनुग्रह से उसे मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है। अन्य योनियाँ भोग योनियाँ हैं, वहाँ मुक्ति सम्भव नहीं है। विवेकसम्पन्न होने से केवल मनुष्य योनि ही चौरासी के फेर से मुक्ति का माध्यम है। परमात्म-मिलन के आकांक्षी इस तत्त्व को जान लेते हैं और इसी जीवन में अपने संचित कर्म नष्ट कर परमात्मा में तदाकार हो जाते हैं जबकि मूढ़ जन तुच्छ स्वार्थों और सुखों की लालसा में फिर से नये कर्म बाँध लेते हैं फलतः फिर से चौरासी लाख गर्भवास कर सिर धुन-धुन पछताते हैं। राजस्थान से रामसनेही सन्त सहजराम सावधान करते हुए कहते हैं –

ओ मौसर है हरि भजवा को, हरिजन ह्वै सो जागो रे।
कठिन रोग जामण अरु मरणा, राम भजन कर त्यागो रे॥
करना है सो अब कर लीजे, जीवन जावे भागो रे।
पल पल आयु घटे तन छीजे, मरणो आवे आगो रे॥

जात पाँत कुल की मरजादा, लोक बड़ाई त्यागो रे।
माया मोह बिसार कल्पना, हरि सुमिरण से लागो रे॥
रीतो आयो रीतो जासी, भूखो प्यासो नागो रे।
अन धन लिछमी छाँड़ि चलेगो, साथ न चाले धागो रे॥
जहाँ जावे जहाँ कालहि ग्रासे, जमड़ो लारे लागो रे।
जन 'सहजराम' भज रामसनेही, रहे न कोई दागो रे॥

जीवन-मुक्ति जीव की सर्वोच्च उपलब्धि है। सुन्दरदास के अनुसार जीवन रहते हुए भी जीवन-मुक्ति की अवस्था में पहुँचा जा सकता है। आत्मानुभव, आत्मसाक्षात्कार से ब्रह्मानन्द की प्रतीति हो जाती है, तब ज्ञानीजन देहयुक्त अवस्था में ही मुक्त हो जाते हैं। तब देह केवल कर्त्तव्य-निर्वहन का माध्यम रह जाती है। कर्म-सन्तुलन (जब पाप-पुण्य दोनों का क्षय हो जाय) की अवस्था में पहुँचकर जीवितावस्था में होते हुए भी प्राणी मुक्त हो जाता है। जीते जी ही मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने का उपदेश केवल सुन्दरदास ही नहीं करते अपितु यह तो वेदान्त में भी वर्णित है। भगवद्गीता में भी सदेह मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अहंकार और तज्जनित रागादि, विषयादि और द्वन्द्वादि के हट जाने से जीव दशा की निवृत्ति होती है, यह आत्मानुभव की दशा है, यही मोक्ष है और यही जीवन-मुक्ति है –

शुद्ध हृदय जाकौ भयौ, उहै कृतारथ जान।
सोई जीवन मुक्त है, सुन्दर कहत बखान॥

चूँकि सुन्दरदास के विचार में जीवन-मुक्ति आत्मा की एक अवस्था विशेष का नाम है इसलिए वे उत्तम लोकान्तरगमन जैसी मान्यताओं का निषेध करते हैं। जीवन-मुक्ति के सन्दर्भ में उनकी विचारधारा को प्रकट करती काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं; यथा –

जीवत ही पायौ मोक्ष एक ब्रह्म जान्यौ है।

* * *

सुन्दर कहत ऐसैं जीवत ही मुक्तहोय,
मुये तें मुक्ति कहै तिनिकौं परिहरिये।

* * *

सुन्दर आतम कौ अनुभौ सोई, जीवत मोक्ष सदा सुख चैना।

* * *

जौ विचार यह उपजै, तुरत मुक्त ह्वै जाइ।
सुन्दर छूटै दुःख न तैं, पद आनन्द समाइ॥

* * *

मुक्तिशिला मूयें कहैं ते तौ अति अज्ञान।
सुन्दर ज्ञानी कै सदा, कहिए केवल ज्ञान॥

* * *

जीवन-मुक्त संदेह तूं लिप्तन कबहूँ होइ।
तौ कौं सोई जानि है तव समान जे होइ॥

4.1.4.6. गुरु-महिमा

निर्गुण सन्तों और सगुण भक्तों दोनों ने गुरु को महत्त्व दिया है। गुरु की कृपा से ही परब्रह्म का सत्य बोध होता है। गुरु प्रदत्त ज्ञान को धारण करने से सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाता है और काल के फेर से मुक्ति मिलती है। परम दयालु सद्गुरु निःस्वार्थ भाव से वह ब्रह्म जैसा है उसका वैसा ही वास्तविक स्वरूप ढंग से समझा देते हैं। सन्त सुन्दरदास की अपने गुरुदेव दादूदयाल के प्रति अनन्त श्रद्धा है। उन्होंने गुरु और भगवान् में गुरु को प्रथम वन्दन किया है क्योंकि गुरु की कृपा से ही भगवान् के दर्शन होते हैं। उनका मानना है कि गुरुभक्ति से ही भक्त के व्यक्तित्व का उत्थान होता है। गुरु अपने शिष्य में चेतना का संचार करते हैं अतः वे ही सच्चे माता-पिता हैं। गुरु अपने शिष्य को सन्मार्ग सुझाते हैं अतः वे ही सच्चे बन्धु-बान्धव और मित्र भी हैं। गुरु ही शिष्य को सत्यब्रह्म देखने-पहचानने की दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं। गुरु ही सच्चा शब्द बोलना और सुनना सिखाते हैं।गुरु ही उचित-अनुचित का भेद बताते हैं। गुरु ही ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग सुझाते हैं। गुरु ही विनम्रता सिखाते हैं। गुरु ही हृदय-स्थित परमात्मा की प्रतीति कराते हैं। गुरु ही समस्त प्रपंचों और जंजालों से मुक्ति प्रदान कर आत्मा का उद्धार करते हैं –

गुरु तात गुरु मात गुरु बन्धु निज गात,
गुरुदेव नख सिख सकल सवार्‌यो है।
गुरु दिये दिव्य नैन, गुरु दिये मुख बैंन,
गुरुदेव श्रवन दे, सब्द हू उचार्‌यो है॥
गुरु दिये हाथ पाँव, गुरु दियो सीस भाव,
गुरुदेव पिण्ड माँहिं प्रांण आइ डार्‌यो है।
सुन्दर कहत गुरुदेव जू कृपाल होइ,
फेरि घाट घरि करि मोहि निस्तार्‌यो है॥

सन्त दादूदयाल सुन्दरदास के सद्गुरुदेव हैं। गुरु दादू ने सुन्दर को आत्मबोध के माध्यम से सत्यज्ञान करवाया है। गुरु की वाणी मधुर है, उससे निस्सृत नामशब्द अनुपम है जिसे सुनकर सुन्दर का जीवन सुकृत्य हो गया है और भव का भय जाता रहा है। गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सुन्दर कहते हैं–

सुन्दर सद्गुरु है सही, सुन्दर शिक्षा दीन्ही।
सुन्दर बचन सुनाइ कै, सुन्दर सुन्दर कीन्ही॥

"वह परब्रह्म हृदयस्थ है और प्राणी मात्र के घट में समान रूप से संचरित हो रहा है।" इस परम सत्य का ज्ञान गुरु के अनुग्रह से ही सम्भव हुआ। गुरु निर्देशित पद्धति से ही हृदयस्थ परमात्मा का ध्यान किया जा सका। गुरोपदेश के बिना आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को जानना सम्भव नहीं था। गुरु की प्रेरणा से ही हृदय में परमात्मा के प्रति प्रेम जाग्रत हुआ। गुरु ने ही नाम-स्मरण का माहात्म्य समझाया। गुरु के सान्निध्य से ही शील, सन्तोष और सदाचरण की प्रवृत्ति विकसित हुई। गुरु ने ही परमात्म-मिलन की प्यास जाग्रत की। गुरु के संसर्ग से ही बुद्धि में विवेक और चेतना का प्रकाश प्रस्फुटित हुआ। गुरु के निरन्तर उपदेश से ही माया-मोह का संशय नष्ट हो सका। गुरु ने ही सत्य मार्ग दिखाया और गुरु ने ही नामरूपी अमूल्य रत्न हाथ में दे दिया जिसके सहारे इस भवसागर को पार करना सुगम हुआ। परम दयालु गुरु ने लोक और वेद का सार तत्त्व संक्षेप में समझा दिया–

गुरु बिन ज्ञांन नांहि गुरु बिन ध्यान नांहि,
गुरु बिन आतम-बिचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नांहि गुरु बिनु नेम नांहि,
गुरु बिन सील हू सन्तोष न गहतु है॥
गुरु बिन प्यास नांहि, बुद्धि को प्रकाश नांहि,
भ्रम हू कौ नास नाहिं, संशय रहतु है।
गुरु बिन बाट नांहि, कौड़ा बिन हाट नांहि,
सुन्दर प्रकट लोक वेद यौं कहतु है॥

गुरु-कृपा से बुद्धि उत्तम दशा ग्रहण करती है जिससे शिष्य भव के क्लेशों से मुक्त हो जाता है। गुरु-कृपा से भगवान् के प्रति प्रेम अधिक बढ़ जाता है। गुरु-कृपा से प्रभु के नाम-स्मरण और गुणगान की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। गुरु-कृपा से योग-साधना की युक्तियाँ ज्ञात होती है। गुरु-कृपा से शिष्य शून्य-समाधि सीख जाता है। गुरु-कृपा से ही तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। गुरुभक्ति से शिष्य का हृदय ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो जाता है –

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा कौं गहै,
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम-प्रीति हू अधिक बाढ़ै,
गुरु के प्रसाद रांम नांम गुण गाइये॥
गुरु के प्रसाद सब जोग की जुगति जांनै,
गुरु के प्रसाद शून्य मैं समाधि लाइये।

सुन्दर कहत गुरुदेव जौ कृपालु हौंहि,
तिनके प्रसाद तत्त्व ज्ञान पुनि पाइये ॥

सुन्दरदास की अपने गुरु के प्रति अगाढ़ श्रद्धा है। उनके प्रति आस्था प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि मेरे जीवन में गुरुदेव का स्थान सबसे बढ़कर है । गुरुदेव द्वारा अर्जित ज्ञान गूढ़ ज्ञान है जो उन्होंने दीर्घकाल तक चिन्तन-मनन और अभ्यास से प्राप्त किया है। मेरे लिए मेरे गुरुदेव ही दत्तात्रेय, नारद, शुकदेव और वशिष्ठ जैसे मुनियों के समान हैं। ज्ञाननिधि मेरे गुरु परमानन्दस्वरूप हैं। मेरे गुरुदेव तीनों लोकों के श्रेष्ठियों में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। शब्दों की अपनी सीमा है अतः उनसे गुरु की महिमा का बखान करने में वाणी अशक्त है। ऐसे मेरे गुरु दादूयाल मेरे आराध्य हैं –

गुरुदेव सर्वोपरि अधिक बिराजमान,
गुरुदेव सब हीं तैं अधिक गरिष्ट हैं।
गुरुदेव दत्तात्रेय नारद शुकादि मुनि,
गुरुदेव ज्ञांनघन प्रगट बशिष्ट हैं ॥
गुरुदेव परम आनन्दमय देखियत,
गुरुदेव वर वरीयान हू वरिष्ट हैं।
सुन्दर कहत कछु महिमां कही न जाइ,
ऐसे गुरुदेव दादू मेरे सिर इष्ट हैं ॥

4.1.4.7. अध्यात्म-रहस्य और गुह्यज्ञान

सुन्दरदास निर्गुणोपासक सन्त हैं। अध्यात्म-रहस्य और गुह्यज्ञान के सन्दर्भ में उन्होंने सन्तकाव्य परम्परा-प्राप्त ज्ञान को ही आधार रूप में स्वीकार किया है। पूर्ववर्ती समस्त सन्तजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए वे कहते हैं कि सन्त दर्शन का प्रभाव करोड़ों यज्ञ, तीर्थ, दान आदि से अधिक होता है –

अठसठ तीरथ जौ फिरै, कोटि यज्ञ व्रत दान।
सुन्दर दरसन साधु कै, तुलै नहीं कछु आन॥

सुन्दरदास ने उलटवाँसी में कमल और पानी का उल्लेख किया है जिसमें कमल हृदय का प्रतीक है तथा पानी प्रेम का। कमल से प्रेमरूपी पानी उत्पन्न करता हुआ सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। प्रेमरूपी पानी से ज्ञानीरूपी सूर्य निकलता है। ज्ञानरूपी सूर्य से तापों को दूर करने वाली शीतलता उत्पन्न हुई है और शीतलता से सुख मिलता है। सुन्दरदास लिखते हैं कि यह सुख अक्षय, एकरस तथा सदा निकट ही बना रहने वाला है –

कमल मांहि ते पानी उपज्यौ, पानी मांहि ते उपज्यौ सूर।
सूर मांहि शीतलता उपज्यौ, सीतलता मांहि ते सुख भरपूर॥
ता सुख कौ क्षय होय न कबहूं, सदा एकरस निकट न दूर।
सुन्दर कहैं सत्य यह यों ही, यामें रती जान हू कूर॥

हंस, ब्रह्म और गरुड़ को प्रतीक बनाकर सुन्दरदास उलटवाँसी कहते हैं जहाँ हंस जीव का प्रतीक है। गरुड़ रजोगुण का प्रतीक है। बैल शरीर का और शिव तमोगुण के प्रतीक हैं। हंस ब्रह्म पर, गरुड़ हरि (सतोगुण का प्रतीक) पर तथा बैल शिव पर चढ़ जाता है। देव चेतन जीव का प्रतीक है। पानी प्रकृति का प्रतीक है। देव पानी पर चढ़ जाता है। जरज मन का प्रतीक है जो जरखा डाइन के प्रतीक पर चढ़ जाता है। पानी के बीच अँगीठी जलने लगती है –

हंस चढ्यो ब्रह्म के उपर, गरुड़ चढ्यो पुनि हरि की पीठि।
बैल बैठ्यो है शिव के उपर, सौ हम देख्यौ अपनी दीठी॥
देव चढ्यो पानी के उपर, जरख चढ्यो डाइन पर नीठि।
सुन्दर एक अचम्भा देख्यो, पानी मांहि जरै अंगीठि॥

माया-मोह अध्यात्म-पथ के बाधक तत्त्व हैं। सुन्दरदास निर्देश करते हैं कि माया-मोह का त्याग कर जीव को केवल ब्रह्म राम का भजन करना चाहिए। पुत्र, पत्नी, धन और मकान सब थोड़े दिनों ही साथ होते हैं। सदैव साथ तो केवल वह ब्रह्मराम ही हैं। यह कुटुम्ब-परिवार का साथ तो नदी-नाव संयोग है। गंतव्य आने पर जैसे नाव के साथी साथ छोड़ कर चल पड़ते हैं वैसे ही समय आने पर सभी कुटुम्बी भी एक-एक करके साथ छोड़ कर चले जाएँगे –

सुन्दर माया मोह तजि, भजिए आतम राम।
ये संगी दिन चारि के, सुत, दारा, धन, धाम॥

सुन्दर बैठे नाव मैं, कहूँ कहूँ तें आइ।
पार गये कत हूँ गये, त्यों कुटुम्ब सब जाइ॥

सुन्दरदास उच्च श्रेणी के सन्त हैं। उनकी समस्त रचनाएँ भगवान् को ही समर्पित हैं जिनमें ब्रह्म के प्रभाव, प्रताप तथा कृपा का वर्णन हुआ है –

तुम प्रभु दीनदयाल मुरारी।
दुःख हरण दालिद्र निवारण भक्तबछल सन्तन हितकारी॥
जे जे तुम को भजत गुसाईं तिन तिन की तुम विपति निवारी।
आप सरीखे करिकै राखो, जनम मरन की संका टारी॥
बार-बार तुम सौ कहा कहिये जानि राय भय-भंजन भारी।
सुन्दर करत हौं विनती मोहूँ कौ प्रभु लेहु उबारी॥

सुन्दरदास कहते हैं कि इन्द्रियों का आनन्द क्षणिक और तुच्छ है। देवलोक, इन्द्रलोक, विधिलोक, शिवलोक और बैकुण्ठ के आनन्द की कामना की जाती है लेकिन एक निश्चित समय तक वहाँ सुख का भोग कर लेने के उपरान्त जीव को पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है जबकि अनुभव से प्राप्त ब्रह्मानन्द अक्षय, अखण्ड,

एकरस और परिपूर्ण है। इसी से इसका नाम पूर्णानन्द है। जिस प्रकार सम्पूर्ण संसार का जल अन्ततः समुद्र में ही समा जाता है ठीक उसी प्रकार सभी प्रकार के सुख अन्ततः पूर्णानन्द के अन्तर्गत समाहित हैं –

इंद्रिनि कौ भोग जब चाहैं तब आइ रहै,
नासवंत तातैं तुच्छ नंद यौं सुनायौ है।
देवलोक इंद्रलोक विधिलोक शिवलोक,
बैकुंठ के सुख कौं गणितानंद गायौहै॥
अक्षय अखंड एकरस परिपूरन है,
ताही ते पूरनानंद अनुभौ तैं पायौ है।
याही कै अंतरभूत आनंद जहाँ लौं और,
'सुंदर' समुद्र मांहि सर्व जल आयौ है॥

4.1.5. सुन्दरदास और लोकधर्म

सुन्दरदास लोकधर्मी कवि हैं। उनकी रचनाओं में उनकी लोकसंसक्ति और लोकसंपृक्ति अनुभव की जा सकती है। लोकधर्म व लोकसंस्कृति के बहुत से शब्दों और प्रसंगों का उल्लेख उनके काव्य में अनायास ही हुआ है। उन्होंने लोकधर्म के माध्यम से संसार को नीति, धर्म, ज्ञान एवं भक्ति का सन्देश दिया है। सुन्दरदास के काव्य में प्रमुख रूप में निम्नलिखित सन्दर्भ प्राप्त होते हैं – पातिव्रत का सन्दर्भ, शूरता का सन्दर्भ, दुष्ट-विचार का सन्दर्भ, विपरीत ज्ञानी का सन्दर्भ और वचन विवेक का सन्दर्भ। समसामयिक सामाजिक लोकदृष्टि को सुन्दरदास अपने सर्जक व्यक्तित्व के द्वारा समस्याओं को सही समय की दृष्टि से खोलने और व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं। कहीं तो इस प्रक्रिया में वे रोष, आक्रोश, विरोध और फटकार का तेवर उपस्थित करते हैं, तो कहीं निरूपायता और विवशता का निरूपण करते हुए व्यंग्य का कशाघात प्रस्तुत कर जाते हैं। उनके काव्य-संसार में इन विभिन्न समसामयिक सामाजिक सन्दर्भों का चयन व्यापक मानवतावादी मूल्य की दृष्टि से किया जाता है। वे लोक के हितैषी हैं और अपने अनुभव के उपयोग लोकहितार्थ करना चाहते हैं। उनके काव्य में निरूपित सभी सामाजिक सन्दर्भों के बीच चारित्रिक उत्थान का प्रश्न अत्यन्त ज्वलन्त रूप में उपस्थित हुआ है। इस दृष्टि से वे अध्यात्म, आत्म-कल्याण, सदाचार, और आदर्श समाज के सृजन के सन्दर्भ में नैतिक जीवन-मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता अनुभव करते हैं। उनके काव्य में अन्याय, अनीति, भेदभाव, निष्प्राण रूढ़ीवाद, धार्मिक वितण्डावाद आदि ढकोसलों का विरोध है, चाहे उसका सम्बन्ध शास्त्र से हो अथवा लोक से।

सुन्दरदास समन्वयात्मक जीवनदृष्टि को समाजोपयोगी मानते हैं। जाति-पाँति व धार्मिक विद्वेष को वे आदर्श सामाजिक व्यवस्था में बाधक मानते हैं। लोकहितार्थ ही सुन्दरदास बार-बार उद्घोषित करते हैं कि संसार माया से आच्छन्न है अतः व्यक्ति को व्यर्थ भटकाव से बचना चाहिए। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि उपलब्धियों की इच्छा भी मनुष्य के लिए अनिष्टकारी है। व्यक्ति को भ्रामक और घातक तृष्णा से सावधान रहना चाहिए। आचरण से ही व्यक्ति का गौरव बढ़ता है तथा अपने आचरण एवं व्यवहार से ही वह सर्वत्र प्रशंसा का पात्र बनता है इसलिए सुन्दरदास आचरण में सदैव संयमित वाणी एवं सन्तुलित व्यवहार की निरन्तर अनुशंसा करते हैं। सुन्दरदास के

लोकधर्म को उद्घाटित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि – "असल में सुन्दरदास सन्तों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं। सुन्दरदास का अनुभव विस्तृत था। देशान्तर घूमा हुआ था। जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़कर वे अन्य विषयों पर लिखते थे, तब निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि सुन्दरदास एकमात्र ऐसे निर्गुणिया साधक थे जिन्होंने सुशिक्षित होने के कारण लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। लेकिन यह भ्रम है। कबीर, दादू आदि सन्तों ने पतिव्रता के अंगों में, पतिव्रता धर्म का खूब बखान किया है। यही वजह है कि लोकधर्म के निहितार्थ भक्त कवि सुन्दरदास अपनी रचनाओं के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को एक नयी दृष्टि प्रदान करते हैं। अपने उदात्त चिन्तन एवं स्वभाव के वशीभूत होकर ही वे पूरे संसार को उदात्त बनाने के प्रबल आग्रही दिखते हैं।"

लोकधर्म का विराट् स्वरूप सुन्दरदास की लोकचेतना में सहज ही द्रष्टव्य है। उनकी रचनाओं का दायरा प्राणी मात्र से लेकर समूची सृष्टि तक परिव्याप्त है। सुन्दरदास का आविर्भाव सामाजिक-धार्मिक संक्रान्ति के विशिष्ट दौर में हुआ था। सन्त परम्परा से उन्होंने ज्ञान और अनुभव अर्जित किया। वे लोकधर्म के द्रष्टा भी हैं और चिन्तक भी। परम्परा-प्राप्त अनुभव, स्वयं के अनुभव से सिक्त सामाजिक और धार्मिक सोच, भक्ति की अपनी विचारणा आदि के मूल सन्दर्भ में वे कहीं-न-कहीं अपने समय के समाज को भली-भाँति देख रहे थे। सुन्दरदास का लोकधर्म किसी एक साँचे में ढला लोकधर्म नहीं है। उन्होंने उसे अपने अनुभव, सोच तथा नीतियों के सहारे उभारा है। अपनी संवेदना तथा सोच के सबसे उदात्त क्षणों में वे एक ईश्वर में आस्था और मानव-प्रेम की बात करते हैं। वे लोक के कष्टों से द्रवित होते हैं तथा लोक की कष्ट-मुक्ति के लिए अपने आराध्य के समक्ष विनत होते हैं। भक्ति के धरातल पर संसार के समस्त कर्त्तव्यों को सम्पादित करते हुए और संसार से प्रेम करते हुए वे अंतःकरण से आराध्य के प्रति अहैतुकी, निःस्वार्थ भक्ति के पक्षधर हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि जिस समाज में मानव प्रेम तथा लोकधर्म का यह स्वरूप विद्यमान रहेगा, वह समाज उन्नत होगा। इसी उन्नत समाज की परिकल्पना उन्होंने की है तथा लोकधर्म को मानव धर्म के आलोक में स्थापित करने का प्रयास किया है।

सुन्दरदास का लोकधर्म कोई सीमित अथवा तंग दृष्टि नहीं अपितु उसमें धर्म का वह सत्य, सनातन, उदात्त एवं श्रेष्ठ रूप प्रकट होता है जिसे सामान्य शब्दों में मानव धर्म कहा जा सकता है। अपनी चिन्तन-प्रक्रिया एवं रचनाओं में सुन्दरदास वे सभी मानवीय गुण और सदाचरण प्रस्तुत करते हैं जिनके आधार पर एक आदर्श समाज की स्थापना की जा सके। यह मानव धर्म ही सुन्दरदास का विशुद्ध लोकधर्म है। उनकी दृष्टि में सभी जीव उसी एक परमात्मा के अंश हैं, अतः मूल रूप में सब समान हैं। सबमें एक समान श्वास एवं प्राण हैं। सात्त्विक जीवन, परदुःखकातरता, पारस्परिक प्रेमभाव, सहानुभूति, संवेदना, जीव-दया, अहिंसा, भेद-भाव से ऊँचे उठने का जीवन-दर्शन, मनोविकारों एवं चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण करके आत्मशुद्धि द्वारा संसार की शुद्धि पर अवलम्बित समता एवं सदाचरण की स्थापना उनका एकमात्र लक्ष्य है।

4.1.5.1. पातिव्रत

आचार्य शुक्ल के अनुसार सुन्दरदास ने"और निर्गुण कवियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है।" पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्रियों के प्रति सुन्दरदास के हृदय में अथाह सम्मान था। शुद्ध पातिव्रत का वर्णन करने वाला सुन्दरदास-कृत यह कवित्त देखिए –

पति ही सौं प्रेम होइ, पति ही सौं नेम होइ,
पति ही सौं क्षेम होइ, पति ही सौं रत है।
पति ही है यज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही है जप तप, पति ही कौ यत है॥
पति ही है ज्ञांन ध्यांन, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हांन, पति ही कौ मत है।
पति बिनु पति नांहिं, पति बिनु गति नांहिं,
सुन्दर सकल बिधि एक पतिब्रत है॥

4.1.5.2. शूरता

रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करने वाले शूरवीरों के प्रति सुन्दरदास श्रद्धावनत हैं। वे कहते हैं कि सच्चा वीर योद्धा वही है जिसका मुखकमल युद्धवाद्य (नगाड़ा) सुनकर खिल उठता है तथा वह अधिक उत्साह-सम्पन्न होकर अपने शरीर में फूला नहीं समाता। तब वह मोर्चे पर जाने के लिए अधीर हो उठता है। परन्तु इसके विपरीत कायर व्यक्ति युद्ध की बात सुनकर मन ही मन काँप उठता है। पतंगा (कीट) जैसे अति उत्साह के साथ दीपक की लौ पर टूट पड़ता है उसी प्रकार वीर योद्धा लड़ते-लड़ते शत्रु सैनिकों के बीच में प्रवेश कर जाता है। और भयंकर युद्ध करता हुआ वह वीर योद्धा युद्ध में विजय पाकर ही लौटता है। वस्तुतः शूर वीर ऐसे ही योद्धा को कहा जाता है जो युद्ध में जा कर वीरता से डटा रहे –

सुणत नगारै चोट बिगसै कंवल मुख,
अधिक उछाह फूल्यौ माइ हूं न तन मैं।
फेरै जब साँगि तब कोऊ नहिं धीर धरै,
काइर कँपाइमान होत देखि मन मैं॥
टूटिकै पतंग जैसैं परत पावक मांहि,
ऐसैं टूटि परै बहु सावंत के घन मैं।
मारि घमसांण करि सुन्दर जुहारै स्यांम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाइ रन मैं॥

4.1.5.3. दुष्टविचार

एकान्त साधक भक्त-सन्त को दुष्टों से सदा सावधान रहना चाहिए। दुष्ट से अपने किये तो कुछ होता नहीं इसलिए दूसरे के किये को हड़पने के लिए वह नाना यत्न किया करता है। यदि इसमें सफल न हो पाए तो उसे ध्वस्त करने में ही बड़ा आनन्द मनाता है। दुष्ट की पहचान प्रकट करते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि दुष्ट व्यक्ति दूसरे के लिये हानि (घात) करने का विचार अपने मन में छिपाये रहता है, परन्तु उसके सामने उसकी प्रशंसा में लगा रहता है। वह उसके सामने उसकी अनुशंसा (खुशामद) में लौट-पोट होता रहता है परन्तु वह उसकी हत्या के लिये व्याघ्र की तरह उसकी पीठ को लक्ष्य बनाये रखता है। ऊपर से वह जल छिड़ककर अग्नि बुझाने का अभिनय करता है, परन्तु नीचे-नीचे अंगीठी के सहारे अग्नि जलाये रखता है। सुन्दरदास कहते हैं कि दुष्ट की क्रूरता में कोई कमी नहीं है, यह सब हमने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रखा है –

घात अनेक रहैं उर अंतरि, दुष्ट कहै मुख सौं अति मीठी।
लोटत पोटत व्याघ्र हि ज्यौं नित, ताकत है पुनि ताहि की पीठी॥
ऊपर तैं छिरकै जल आँनि सु हेठ लगावत जारि अंगीठी।
या महिं कूर कछू मति जानहुँ, सुन्दर आपुनि आंखिनि दीठी॥

सुन्दरदास ने दुष्टों के तीन वर्ग स्वीकार किये हैं। पहले तो वे जो अपना काम बनाने के लिए दूसरे का काम नष्ट करते हैं, जैसे मनुष्य, जो अपने शरीर के पोषण के लिए अन्न का विनाश करता है। दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो दूसरे का विनाश अवश्य करते हैं, चाहे अपना काम हो, चाहे न हो, जैसे सर्प, जो दूसरे को काटते हैं, पर इससे उनका पेट नहीं भरता। तीसरे वर्ग में वे लोग आते हैं, जो दूसरों के विनाश के साथ-साथ अपना भी विनाश कर लेते हैं, जैसे आग, जो दूसरों को जलाकर नष्ट तो करती है और स्वयं भी जल कर राख़ हो जाती है –

ज्यौं नर पोषत है निज देह हि, अन्न बिनाश करै तिंहि वारा।
ज्यौं अहि और मनुष्य हि काटत, वाहि कछू नहिं होइ अहारा॥
ज्यौं पुनि पावक जारि सबै कछु, आपुहु नाश भयौ निरधारा।
त्यौं यह सुन्दर दुष्ट सुभाव हि, जानि तजौ किन तीन प्रकारा॥

* * *

सर्प डसै सु नहीं कछु तालक, वीछु लगै सु भलौ करि मांनौ।
सिंह हु खाइ तौ नाँहि कछू डर, जौ गज मारत तौ नहिं हांनौ॥
आगि जरौ, जल बूड़ि मरौ, गिरि जाइ गिरौ, कछु भै मति आंनौ।
सुन्दर और भले सब ही दुख, दुर्जन संग भलौ जिनि जांनौ॥

4.1.5.4. विपरीत ज्ञानी

विपरीत ज्ञानी से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो मुँह से तो ब्रह्मज्ञानी बनता है, पर भीतर से जो संसार में पूर्ण आसक्त रहता है और इस प्रकार संसार को ठगता है। लोगों को ऐसे ठग ज्ञानियों से बचना चाहिए। केवल वेश देखकर साधु न समझना चाहिए। आचरण से साधु को जानना चाहिए। विपरीत ज्ञानी का उपदेश भी सुन्दरदास जी ने लोककल्याण की दृष्टि से ही किया है –

ज्ञान की सी बात कहै मन तौ मलीन रहै,
बासना अनेक भरी नैकु न निवारि है।
जैसे कोऊ आभूषन अधिक बनाइ राख्यौ,
कलीई ऊपरि करि भीतरि भंगारि है॥
ज्यौं ही मन आवै त्यौं ही खेलत निसंक होइ,
ज्ञान सुनि सीख लयौ ग्रंथनि बिचारि है।
सुन्दर कहत वाकै अटक न कोऊ आहि,
जोई वासौं मिलै जाइ ताहि कौं बिगारि है॥

4.1.5.5. वचन विवेक

सुन्दरदास ने वचन के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, उसमें भी उन्होंने सामाजिकता को ध्यान में रखा है। जहाँ भी वचन हो वहाँ किसी से होगा और किसी के प्रति होगा। अतः समाज अपने आप उसमें आ जाता है। सुन्दरदास वाणी को तीन प्रकार का मानते हैं। उत्तमवाणी वह है जो फूल के समान मनभावनी होती है, मध्यमवाणी वह है जो पत्थर के समान अनखावनी लगती है और अधमवाणी वह है जो कंटक के समान हृदय में धँस जाती है –

एकनि के बचन सुनत अति सुख होइ,
फूल से झरत हैं अधिक मनभाँवने।
एकनि के बचन अशम मानौ बरषत,
श्रवन के सुनत लगत अलखाँवने॥
एकनि के बचन कंटक कटु बिष रूप,
करत मरम छेद दुख उपजाँवने।
सुन्दर कहत घट घट मैं बचन भेद,
उत्तम मध्यम अरु अधम सुनाँवने॥

इसलिए बहुत सोच-विचार कर सरस वाणी ही बोलनी चाहिए। सुन्दरदास कहते हैं कि जो कुछ भी बोलना है उस पर पहले हृदय में विचार कर लें। ऐसा न हो कि आप बिना विचारे बोलकर किसी को ढेला मार दें। अतः पहले हृदय में विचार कर फिर सुवचन ही बोलना चाहिये। जो किसी का हित या अहित न देखकर जैसा चाहे वैसा बोल दे, उससे क्या लाभ होगा ! उचित तो यह है कि मन में विचार करके ही कुछ बोलना चाहिये।

क्योंकि बिना बिचारे बोला हुआ सभी के हृदय में कष्टप्रद हो जाता है, किसी को भी प्रिय नहीं लगता। उसे सुनाकर दूसरों को दुःख देने का क्या लाभ ! अतः सोच-समझकर सरस (कर्णमधुर) शब्द ही बोलना चाहिये। ऐसा बोलना चाहने पर ही अपना मुख-द्वार खोलना चाहिये – इसी में सबका हित है –

प्रथम हिये बिचारि, ढ़ीम सौ न दीजै डारि,
ताहि तैं सुबचन सँभारि करि बोलिये।
जाने न कुहेत हेत भावै वैसी कहि देत,
कहिये तौ तब जब मन माँहि तौलिये॥
सबही कौं लागै दुख कोऊ नहिं पावै सुख,
बोलिकैं बृथा ही नातें छाती नहीं छोलिये।
सुन्दर समुझि करि कहिये सरस बात,
तब ही तौ बदन कपाट गहि खोलिये॥

वाणी से ही हाथी की सवारी मिलती है, सम्मान होता है, और बात ही से हाथी का पाँव मिलता है, हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया जाता है –

बातहिं हाथी पाइए, बातहिं हाथी पाँव।

वचन के गुण-दोष को, मधु वचन के गुण को और कटु वचन के दोष को सुन्दरदास इस प्रकार व्यक्त करते हैं – बोला हुआ एक वचन ऐसा होता है जिसके प्रभाव से दूरदेशवासी दो अपरिचित भी मित्र बन जाते हैं; तथा एक वचन ऐसा होता है कि उसे सुन कर मित्र भी शत्रु बन जाता है। वचन के प्रभाव से ही राग या द्वेष में वृद्धि होती है। वचन के प्रभाव से ही व्यवहार में शीतलता एवं उष्णता बढ़ती है। वचन का प्रभाव ही हर्ष एवं क्रोध उत्पन्न कर देता है। वचन के प्रभाव से ही मनुष्य दूसरों का प्रिय हो जाता है, या उसे दूसरों द्वारा त्याग दिया जाता है। कोई वचन सुनकर मनुष्य में उदासी छा जाती है या किसी वचन से उसमें हर्षातिरेक हो जाता है। सुन्दरदास कहते हैं कि यह वचन का ही ऐसा प्रभाव है कि कोई किसी वचन से जगत्प्रपंच में बँध जाता है तथा कोई किसी वचन से मुक्त हो जाता है –

बचन तैं दुरि मिलै बचन बिरुद्ध होइ,
बचन तैं राग बढ़ै, बचन तैं दोष जू।
बचन तैं ज्वाला उठै, बचन शीतल होइ,
बचन तैं मुदित, बचन ही तैं रोष जू॥
बचन तैं प्यारौ लगै, बचन तैं दूरि भगै,
बचन तैं मुरझाइ बचन तैं पोष जू।
सुन्दर कहत यह बचन कौ भेद अैसौ,
बचन तैं बंध होइ, बचन तै मोक् ष जू॥

4.1.6. पाठ-सार

मध्यकालीन साधकों में सुन्दरदास को विशेष सम्मान प्राप्त है। शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक सामर्थ्य से उनका व्यक्तित्व सम्पन्न रहा। माधुर्य, सरलता एवं गम्भीरता उनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ कही जा सकती हैं। निर्गुण सन्तकाव्य-परम्परा में सुन्दरदास ही शिक्षित एवं शास्त्रज्ञ कवि माने जाते हैं। अपने रचनात्मक अनुशासन तथा शास्त्रमर्मज्ञता के कारण सन्तकवियों में सुन्दरदास की विशिष्ट पहचान है। भक्ति, उदारता, समानता, परोपकार, विनम्रता, सहज व्यवहार, ईश्वर के प्रति एकनिष्ठा, गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा, पवित्र व क्रियात्मक जीवन एवं आदर्श, मानवतावादी तथा सदाचारी समाज की स्थापना उनकी अभिव्यक्ति का मुख्य प्रतिपाद्य है। युगीन धर्म एवं सामाजिक अराजकता के कटु यथार्थ को समझ उन्होंने सामान्य जन के समक्ष एक ऐसा परिदृश्य उपस्थित किया जिसे अपनाकर नित्य, नवीन, प्रगतिशील, बहुजन हिताय व मानवधर्मी समाज की प्रतिष्ठा की जा सके।

4.1.7. शब्दावली

सायुक्तिक	:	युक्ति (उपाय) सहित
कैये	:	कहिए
लाल	:	मणि
पाक	:	पवित्र
कुलाल	:	कुम्हार
जीमत	:	भोजन करते समय
धीमत	:	ध्यान करते समय
जोवत	:	देखते समय
शील	:	सदाचार
दीठी	:	देखने की शक्ति
आतमा विचारु	:	आत्मविचार
कौड़ा	:	पैसा
पिंड	:	शरीर
घट-व्योम	:	घड़े के भीतर सीमित आकाश
निस्तारना	:	उद्धार करना

4.1.8. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. सन्त सुन्दरदास के काव्य में गुरु-महिमा।
2. सहजानन्द ज्ञान-प्रक्रिया।
3. जीवन मुक्ति के सम्बन्ध में सुन्दरदास के विचार।

4. सन्त सुन्दरदास की लोकचेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में रचनात्मक अनुशासन के पालनकर्त्ता कवि के रूप में सुन्दरदास की अलग पहचान है।" उक्त कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।
2. "लोकधर्म के आलोक में सुन्दरदास की भक्ति का दायरा समूचे मानव जीवन तक परिव्याप्त है।" उक्त कथन का आकलन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सन्त सुन्दरदास के अनुसार भक्तिमय ज्ञान है –

(क) भक्तिसहित ज्ञान
(ख) ज्ञानसहित भक्ति
(ग) दोनों
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. 'गुरु बिन आतमा विचार न लहतु हैं' – उक्त काव्य-पंक्तियाँ किस कवि द्वारा कही गई हैं ?

(क) कबीर
(ख) सुन्दरदास
(ग) दादूदयाल
(घ) तुलसीदास

3. सुन्दरदास सांसारिक मायामोह को क्या मानते हैं ?

(क) पूर्णानन्द
(ख) पूर्णज्ञान
(ग) तुच्छानन्द
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. प्रभु-स्मरण करने से क्या नष्ट हो जाता है ?

(क) अज्ञान
(ख) अन्धकार
(ग) संशय
(घ) उपर्युक्त सभी

5. 'ब्रह्म कुलाल रचै बहुभाजन' कहकर सुन्दरदास किसकी उपासना करते हैं ?

(क) ब्रह्मा

(ख) विष्णु

(ग) शिव

(घ) निर्गुण निराकार निरंजन ब्रह्म

4.1.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मिश्र, रमेशचन्द्र, सुन्दर ग्रन्थावली (भाग-1 व 2), किताबघर, नयी दिल्ली.
2. मिश्र, रमेशचन्द्र, सुन्दरदास, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली.
3. मिश्र, सत्यप्रकाश, मध्यकालीन काव्यधाराएँ प्रतिनिधि कवि, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.
4. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, मध्यकालीन धर्म साधना, साहित्य भवन, इलाहाबाद.
6. तिवारी, रामचन्द्र, मध्ययुगीन काव्यसाधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
7. सिंह, सुधा, मध्यकालीन साहित्य विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 2 : सुन्दरदास की बहुज्ञता, सुन्दरदास का काव्यकलागत वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य कथन
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. सुन्दरदास की बहुज्ञता
  4.2.2.1. काव्यादर्श
  4.2.2.2. भक्ति-भावना
  4.2.2.3. दार्शनिकता
  4.2.2.4. लोकधर्म
  4.2.2.5. नीति और सूक्ति
  4.2.2.6. चित्रकाव्य
4.2.3. सुन्दरदास का काव्यकलागत वैशिष्ट्य
  4.2.3.1. भाषिक सौन्दर्य
  4.2.3.2. छन्द-विधान
  4.2.3.3. अलंकार-योजना
  4.2.3.4. रस-संयोजन
  4.2.3.5. शब्दशक्ति
4.2.4. पाठ-सार
4.2.5. शब्दावली
4.2.6. बोध प्रश्न
4.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

4.2.0. उद्देश्य कथन

मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा के विकास में शताधिक कवियों का योगदान रहा है। सन्त सुन्दरदास विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकार हैं। उनकी रचनाओं में भावपक्ष एवं कलापक्ष का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। प्रस्तुत इकाई में सन्तकवि सुन्दरदास की बहुज्ञता और उनके काव्यकलागत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सन्तकवि सुन्दरदास की बहुज्ञता के विभिन्न पक्षों से अवगत हो सकेंगे।
ii. भाषिक सौन्दर्य, छन्द-विधान, अलंकार योजना, रस-संयोजन व शब्दशक्तियों के आलोक में उनके काव्यकलागत वैशिष्ट्य का अनुशीलन कर सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

जो कवि जितना शास्त्रज्ञ, पण्डित एवं प्रतिभासम्पन्न होगा उसकी रचनाओं में उतनी ही सहजता, व्यापकता, विशदता एवं बहुज्ञता उपलब्ध होगी। बहुज्ञता का अर्थ है – 'विविध विषयों की जानकारी'। आचार्य मम्मट ने काव्यहेतुओं की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है कि कवि लोकशास्त्र के अन्वेक्षण में निपुण होना चाहिए तभी वह उत्तम काव्य की रचना कर पाने में समर्थ होता है। सन्तकवि सुन्दरदास प्रतिभासम्पन्न कवि होने के साथ-साथ विविध विषयों की जानकारी से सम्पन्न लोक एवं शास्त्र में निपुण कवि हैं। उनकी रचनाओं में विविध-विषयों की जानकारी सहज ही अनुभूत हैं। यह जानकारी एक ओर जहाँ उनके लोकज्ञान का परिचय देती है, वहीं दूसरी ओर विविध शास्त्रों यथा – दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, चित्रकला, इतिहास, पुराण, राजनीति एवं नीतिशास्त्र आदि की जानकारी की भी परिचायक है।

4.2.2. सुन्दरदास की बहुज्ञता

सन्तकवि सुन्दरदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक ऐसे परिवेश की उपज है जिसे इतिहास की शब्दावली में संक्रमण का युग कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह संक्रमण एवं विविधताओं का समय था। केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था क्रमशः छोटे राज्यों और ज़मींदारियों में विभाजित थी। सामाजिक और धार्मिक स्तर पर सर्वानुभूति की चेतना का अभाव इस संक्रमण का प्रबल प्रमाण है। यह संक्रमण तत्युगीनरचनाओं में एक सन्तुलन पैदा करता है। जब-जब कोई समाज संक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता है तब-तब तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक चेतना अन्तर्विरोधों से ग्रस्त दिखाई देती है। सन्तकवि सुन्दरदास की बहुज्ञता के गहरे निहितार्थ हैं। उनकी बहुज्ञता और पाण्डित्य के सम्बन्ध में पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है कि "कविवर महात्मा श्री सुन्दरदास जी की ख्याति भाषा संसार में, कवि सम्राट् गोस्वामी श्री तुलसीदास जी, सूरदास जी, योगि श्रेष्ठ श्री गोरखनाथ जी, आध्यात्म रहस्य पारंगत श्री कबीर जी, भाषाविज्ञान विशारद कवि श्री केशवदास जी तथा तत्त्वज्ञानामृत प्रवाहक स्वामी श्री दादूदयाल जी के समान फैली हुई है। ... काव्य-रचना बाहुल्य में दादूदयाल के शिष्यों में ही नहीं, भाषा वाङ्मय के सिद्धहस्त रचनाकारों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी अपनी निराली और सुन्दर कविता शैली है। सन्त सुन्दरदास जी अनेक बातों में निराले, एकाकी और अद्वितीय हैं। अपनी काव्य गुण-गरिमा और ज्ञान गम्भीरता आदि के कारण सुन्दरदास जी, दादूदयाल के सबसे पिछले शिष्य होने पर भी सबसे प्रथम गिने जाते हैं।

4.2.2.1. काव्यादर्श

सन्त सुन्दरदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। निराकार उपासना के भाव से पृथक् होकर उनके काव्यादर्श का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। वे हरि के गुणगान को ही काव्य का उद्देश्य स्वीकार करते हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि जिस काव्य में भगवान् का भजन हो, वही उत्तम काव्य है। नायिका भेद की शृंगारी रचनाओं को सुन्दरदास ने वाणी का अपमान करने सदृश माना है।

सुन्दरदास के अनुसार संसार में वाणी तीन प्रकार की होती है। एक वाणी (वचन) ऐसी होती है जैसे कोई रूपवती, सुवर्णाभूषणों से भूषित तथा महार्घ वस्त्रों से आच्छन्न हो। तथा एक वाणी ऐसी होती है कोई मानों फटे, पुराने, मलिन वस्त्रों से आच्छन्न हो। तथा एक वाणी ऐसी होती है, जैसे किसी मृतक को विविध शृंगार कर बैठा दिया गया हो। ये तीनों ही वाणियाँ साधारणजनों के लिये कितनी ही मनोमुग्धकारी क्यों न हों, सन्तजनों के लिये तो वह भयदायिनी हैं कि इसे सुनकर पुनः जगत्प्रपंच में न फँस जायँ। सुन्दरदास कहते हैं कि इस तरह जगत् में ये तीन प्रकार की वाणी (त्रिविध वाणी) मानी गयी हैं। कोई चतुर प्रवीण मनुष्य ही इन तीनों को, पृथक्-पृथक् भेद कर के, जान सकता है। 'अथ वचन विवेक को अंग' में उन्होंने लिखा है कि केवल भगवान् का गुणानुवाद करने वाली वाणी (कविता) ही परम रूपवती है। वे लोकरत वाणी को जहाँ जर्जर शरीर के समान मानते हैं, वहीं शृंगारी वाणी को शवतुल्य कहते हैं –

एक बाँणी रूपवंत भूषन बसन अंग,
अधिक बिराजमान कहियत ऐसी है।
एक बाँणी फाटे टूटे अम्बर उढ़ाये आंनि,
ताहू माँहि बिपरीत सुनियत तैसी है॥
एक बाँणी मृतक ही बहुत सिंगार किये,
लोकनि कौ नीकी लगै संतनि कौं भै सी है।
सुन्दर कहत बाँणी त्रिबिध जगत माँहि,
जानै कोऊ चतुर प्रबीन जाकै जैसी है॥

सुन्दरदास काव्य के शास्त्रीय स्वरूप के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उनके अनुसार दोषपूर्ण कविता अच्छी नहीं होती है इसलिए वाणी (कविता) को छन्द, तुक, भाव, अर्थ आदि सभी दृष्टियों से समर्थ होना चाहिए। वे स्पष्ट करते हैं कि लोक में बुद्धिमान् पुरुष को तभी बोलने का प्रयास करना चाहिये, जब उन विषयों में वह कुछ बोलना जानता हो अन्यथा मौन धारण कर चुपचाप बैठे रहना चाहिये। किसी काव्य-रचना का भी तभी प्रयास करना चाहिये जब उस कविता के तुक, छन्द एवं अनुपम अर्थ के विषय में पहले भली-भाँति जान लिया गया हो। किसी सभा में गायन का भी तभी प्रयास करना चाहिये जब उसके पास कण्ठ (सुस्वर) हो, जो श्रोता को, सुनने के साथ ही, मुग्ध कर ले। सुन्दरदास कहते हैं कि ऐसी वाणी (कविता) नहीं बोलनी चाहिये जिसमें तुकभंग हो, या छन्दभंग हो तथा उसका कोई हितकारी अर्थ भी न निकलता हो –

बोलिये तौ तब जब, बोलिबे की सुधि होइ,
न तौ मुख मौंन गहि, चुप होइ रहिये।
जोरिये ऊ तब जब, जोरिबो ऊ जाँनि परै,
तुक छंद अरथ, अनूप जामैं लहिये॥
गाइये ऊ तब जब, गाइबे कौं कंठ होइ,
श्रवन के सुनत हो मन जाइ गहिये।
तुकभंग छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी, बाँनी नहीं कहिये॥

अपनी फुटकर रचनाओं में भी सुन्दरदास कवित्त का लक्षण निरूपित करते हैं। उनके अनुसार शुद्ध कवित्त नख-शिख से पूर्णारूपेण शुद्ध पुरुष के समान है। यह पढ़ने में अच्छा लगता है। जिस कवित्त को सुनते ही कविजन उठकर भागना चाहें, वह विकलांग पुरुष के सदृश है। काव्य में अक्षरों की कमी पंगु मनुष्य के समान है। मात्रा की कमी नशे में उन्मत्त मनुष्य के मतवालेपन और लड़खड़ाहट जैसी है। बेतुकी कविता काने (एक आँख वाला) व्यक्ति के सदृश है, जबकि अर्थहीन कविता नेत्रहीन पुरुष के समान है। चूँकि कविता की आत्मा 'हरि भजन' है अतः जिस कविता में हरि का गुणगान नहीं है वह कविता तो शव के समान है –

नख शिख शुद्ध कवित्तन पढ़त अति नीको लग्गै।
अंग हीन जो पढ़ै, सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर घटि बढ़ि होइ, खुड़ावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि कोइ, मनौ मतवारौ हल्लै॥
औढेर कांण सो तुक अमिल, अर्थ हीन अंधो यथा।
'सुंदर' हरिजस जीव है, हरिजस बिन मृत कहि तथा॥

4.2.2.2. भक्ति-भावना

सन्त सुन्दरदास की भक्ति-भावना उदात्त कोटि की है। वह उपनिषदों की अद्वैत भावना से प्रभावित है। उन्होंने अपनी भक्ति में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया है। ईश्वर के प्रति अनन्यता, दृढ़ विश्वास, गुरुवन्दना, सत्संगति, नाम-स्मरण, श्रद्धा, इन्द्रिय-निग्रह, परोपकार, समदृष्टि आदि उनकी भक्ति-भावना का प्रमुख आधार है। उनकी कविता का मुख्य उद्देश्य सामान्य जन को आत्मोद्धार हेतु प्रेरित करना और सदाचार का मार्ग दिखाना है। उनकी भक्ति में अनुभूति की सच्चाई है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं –

पूरण ब्रह्म बताइ दियो जिनि, एक अखंडित व्यापक सारै।
राग रु दोष करैं अथ कौन सौं, जोइ है मूल सोई सब डारै॥
संशय शोक मिट्यौ मन को, सब तत्त्व विचार कह्यौ निरधारै।
सुन्दर शुद्ध कियो मल धोइ, सु है गुरु को उर ध्यान हमारै॥

(– गुरुभक्ति)

* * *

कोउक निंदत, कोउक बंदत, कोउक आइकै देत है भच्छन।
कोउक आइ लगावत चन्दन, कोउक डारत धूरि तत्छन॥
कोउ कहै यह मूरख दीसत, कोउ कहै यह आहि विच्छन।
सुन्दर काहु सौं राग न द्वेष, सु ये सब जानहुं साधु के लच्छन॥

(– सत्संगति)

* * *

ये मेरे देश बिलाइत हैं गज, ये मेरे मन्दिर या मेरी थाती।
ये मेरे मात पिता पुनि बन्धव, ये मेरे पूत सु ये मेरे नाती॥
ये मेरी काँमनी केलि करै नित, ये मेरे सेवक हैं दिन राती।
सुन्दर वैसै हि छाड़ि गयौ सब, तेल जर्‌यौ रु बुझी जब बाती॥

(– सांसारिक माया-मोह का निषेध)

* * *

बैठत रांम हि, ऊठत रांम हि, बोलत रांम हि रांम रह्यौ है।
जीमत रांम हि, पीवत रांम हि, ध्यायत रांम हि रांम गह्यौ है॥
जागत रांम हि, सोवत रांम हि, जोवत रांम हि रांम लह्यौ है।
देतहु रांम हि, लेतहु रांम हि, सुन्दर रांम हि रांम कह्यौ है॥

(– ईश्वर के प्रति आस्था)

4.2.2.3. दार्शनिकता

सन्त सुन्दरदास ने शास्त्रों का अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। उनकी रचनाओं पर वेद, शास्त्र एवं व्याकरण का प्रभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वे सन्तों में सुशिक्षित हैं। निर्गुणपंथियों में यही एक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्हें समुचित शिक्षा मिली और जो काव्य-कला की रीति आदि से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। उनकी रचना साहित्यिक और सरस है। वे निर्गुणोपासक सन्त हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में माया अंजन है। जो मायारूपी अंजन से परे है, वह निरंजन है तथा वह कभी नष्ट नहीं होता है –

जो उपजै बिनसै गुन धारत, सो यह जानहुं अंजन माया।
आवे न जाइ, मरे नहिं जीवत, अच्युत एक निरंजन राया॥
ज्यों तरु तत्त्व रहै रस एकहि, आवत जात फिरै यह छाया।
सो परब्रह्म सदा सिर उपर, सुन्दर ता प्रभु सौं मन लाया॥

उस परब्रह्म निरंजन को सुन्दरदास ने राम कहा है। उनके राम सभी में हैं और सर्वत्र हैं। ध्यातव्य है कि कबीर की भाँति उनके 'राम' दशरथ-सुत राम नहीं हैं –

दूरहु राम, नजीकहु रामहि, देसहु राम प्रदेसहु रामै।
पूरब रामहि, पच्छिम रामहि, दच्छिन रामहि, उत्तर धामै॥
आगैहु रामहि, पीछैहु रामहि, व्यापक रामहि है बन ग्रामै।
सुन्दर राम दसो दिसि पूरत, स्वर्गहु राम पतालहु रामै॥

सुन्दरदास मूलतः अद्वैतवादी हैं। उनकी दार्शनिक चेतना इस मायने में विशिष्ट है कि उनका दार्शनिक विवेचन शास्त्र-सम्मत है।

4.2.2.4. लोकधर्म

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सुन्दरदास ने अन्य निर्गुण कवियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा की नहीं की है। पातिव्रत का पालन करने वाली स्त्रियों और रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य-पालन करने वाले शूरवीरों के प्रति सुन्दरदास के हृदय में सम्मान है। 'पतिव्रता को अंग' में सुन्दरदास ने पातिव्रत धर्म के सम्बन्ध में लिखा है –

पति ही सौं प्रेम होइ, पति ही सौं नेम होइ,
पति ही सौं छेम होइ, पति ही सौं रत है।
पति ही सौं यज्ञ योग, पति ही सौं रस भोग,
पति ही सौं मिटै सोग, पति ही कौ यत है॥
पति ही है ज्ञांन ध्यांन, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीरथ न्हांन, पति ही कौ मत है।
पति बिन पति नांहिं, पति बिन गति नांहिं,
सुन्दर सकल बिधि एक पतिब्रत है॥

'सूरातन को अंग' में शूरता का वर्णन है। उदाहरण प्रस्तुत है –

सुणत नगारै चोट बिगसै कंवल मुख,
अधिक उछाह फूल्यौ माइ हूँ न तन मैं।
फिरै जब सांगि तब कोऊ नहिं धीर धरै,
काइर कंपाइमान होत देखि मन मैं॥
टूटिकै पतंग जैसैं परत पावक मांहि,
ऐसैं टूटि परै बहु सावंत के घन मैं।
मारि घमसांण करि सुन्दर जुहारै स्यांम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाइ रन मैं॥

सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में दुष्टों की पहचान चिह्नित की है। उनकी यह परचिन्ता उनके लोकधर्म को प्रकट करती है। वे कहते हैं कि दुष्ट व्यक्ति दूसरे के लिये हानि (घात) करने का विचार अपने मन में छिपाये रहता है, परन्तु उसके सामने उसकी प्रशंसा में लगा रहता है। वह उसके सामने उसकी अनुशंसा (खुशामद) में लौट-पोट होता रहता है परन्तु वह उसकी हत्या के लिये व्याघ्र की तरह उसकी पीठ को लक्ष्य बनाये रखता है। ऊपर से वह जल छिड़ककर अग्नि बुझाने का अभिनय करता है, परन्तु नीचे-नीचे अंगीठी के सहारे अग्नि जलाये रखता है। सुन्दरदास कहते हैं कि दुष्ट की क्रूरता में कोई कमी नहीं है, यह सब हमने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रखा है।

घात अनेक रहैं उर अंतरि, दुष्ट कहै मुख सौं अति मीठी।
लोटत पोटत व्याघ्र हि ज्यौं नित, ताकत है पुनि ताहि की पीठी॥
ऊपर तैं छिरकै जल आँनि सु हेठ लगावत जारि अंगीठी।
या महिं कूर कछू मति जानहुँ, सुन्दर आपुनि आंखिनि दीठी॥

4.2.2.5. नीति और सूक्ति

सुन्दरदास की रचनाओं के मूल में प्राणी मात्र का हित-सम्पादन निहित है। जीवन-मूल्य एवं नैतिकता के संस्थापनार्थ उन्होंने अनेक नीतिपरक वचन कहे हैं। धार्मिक रूढ़ियाँ, अन्धानुकरण-आधारित सामाजिक परम्पराएँ, जाति-व्यवस्था, क्रोध, लोभ, हिंसा, घृणा आदि की निन्दा करते हुए उन्होंने सदाचार आदि गुणों की प्रतिष्ठा एवं आत्मानुभूति की प्रामाणिकता पर बल दिया। वे कहते हैं कि मन पर नियन्त्रण सज्जनों की संगति से ही सम्भव है। सन्त माया-मोह, विषय-वासना से संसार के लोगों को दूर करते हैं। सन्त के सान्निध्य से भक्त का हृदय पवित्र हो जाता है। मानव जीवन व समाज में सन्तों की संगति के महत्त्व को रेखांकित करते हुए सुन्दरदास कहते हैं –

जौ कोउ जाइ मिलै उन सौं नर, होत पवित्र लगै हरि रंगा।
दोष कलंक सबै मिटि जात सु, नीचहू आइ कै होत उतंगा॥
ज्यौं जल और मलीन महा अति, गंग मिले होइ जात है गंगा।
सुन्दर शुद्ध करै तत्काल सु, है जग माँहि बड़ौ सतसंगा॥

'सर्वांगयोग प्रदीपिका' में कवि ने समाज में फैले पाखण्ड पर प्रहार किया है तथा समाज को एक नयी दृष्टि देने का प्रयास किया है। उन्होंने समाज की भावना एवं विचार को परिमार्जित करते हुए अन्ततः राम को ही मूल रूप में स्वीकार किया है –

सहस्त्र नाम को कौन चलावै। नाम अनन्त पार को पावै॥
राममन्त्र सबके सिर मौरा। ताहि न कोई पूजत औरा॥
पुनि तहाँ प्रकट कोई रंकारा। आपुहि आप अखंडित धारा॥
तन-मन बिसरि जाइ तहाँ सोई। रोमहिं रोम राम धुनि होई॥

'वेद-विचार' में कवि सुन्दरदास व्यक्ति को आगे बढ़ने एवं सदाचरण का उपदेश देते हैं। मांस-मदिरा के परित्याग पर बल देते हुए उन्होंने लिखा है –

निषिध छुड़ावण कारनै, भय उपजायौ आइ।
मद्य-मास पर त्रिय गवन, इनते नरकहिं जाइ॥

इन्द्रिय-भोग से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं हो सकता। सुन्दरदास कहते हैं कि मूर्ख व्यक्ति तृष्णा के वशीभूत हो भटकते फिरते हैं। तृष्णा राजा-रंक और तीनों लोकों को समान रूप से नचाती है। तृष्णा के जाल में फँसा व्यक्ति जहाँ जाता है, दुःख ही दुःख पाता है –

भूख नचावत रंकहिं राजहिं, भूख नचाई कै विश्व विगोई।
भूख नचावत इन्द्र सुरासुर, और अनेक जहाँ लग जोई॥
भूख नचावत है अध उरध, तीनहू लोक गनै कहाँ कोई।
सुन्दर जाइ तहाँ तहाँ दुःख, ज्ञान बिना न कहूँ सुख होई॥

वह परम पिता परमेश्वर ही सभी कार्यों को पूर्ण करने वाला है तथा वह सभी सुखों का धाम है, इसलिए उस भगवान् के अतिरिक्त किसी और का ध्यान करना व्यर्थ है –

होइ अनन्द भजै भगवंतहिं, और कछू उर मैं नहिं राषै।
देविय देव जहाँ लग है, डारिकै तिनसौ कहुँ दीन न भाषै॥
योगहुँ यज्ञ व्रतादि क्रिया, तिनकौं नहिं तौ सुपने अभिलाषै।
सुन्दर अमृत पान कियौ, तब तो कहि कौन हलाहल चाषै॥

4.2.2.6. चित्रकाव्य

सन्तकवि सुन्दरदास बहुज्ञ रचनाकार हैं। उन्हें काव्यशास्त्र एवं काव्यांगों सहित अन्य विषयों की अच्छी जानकारी थी। वे अलंकार, भाव एवं रस के मर्मज्ञ कवि हैं। अपने चित्रकाव्यों में उन्होंने काव्यशास्त्र, दर्शन, अध्यात्म एवं ईश्वर विषयक अपने ज्ञान को प्रकट किया है। उनके चित्रकाव्यों में लोकमानस के संस्कार, रीति-रिवाज, त्योहार, पर्व, खेल आदि का उल्लेख भी हुआ है।

हिन्दी में केशवदास और सुन्दरदास चित्रकाव्य रचयिताओं में सिरमौर हैं। सन्त सुन्दरदास ने अपने चित्रकाव्य शान्तरसपरक भाव में रचे हैं। फुटकर काव्य के अन्तर्गत उन्होंने अनेक चित्रकाव्य प्रस्तुत किए हैं। 'सुन्दरविलास' व 'सवैया' ग्रन्थ में उनके चित्रकाव्य संकलित हैं जिन्हें पढ़ने का ढंग भी 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में निर्देशित किया गया है। फुटकर काव्य के अन्तर्गत आद्याक्षरी, आदि अंत्याक्षरी, मध्याक्षरी, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि चित्रकाव्य मिलते हैं। सुन्दरदास द्वारा रचित चित्रकाव्यों का यह वैशिष्ट्य है कि चित्रकाव्य सवैया को दायें-बायें, आरोही-अवरोही, आड़ा-तिरछा कहीं से भी किसी भी पंक्ति से पढ़ना प्रारम्भ किया जा सकता है। उससे उसके अर्थ-ग्रहण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

चित्रकाव्य आलंकारिक काव्य है। कविकर्म में निपुण और काव्यशास्त्र-व्याकरणादि में धुरंधर पण्डित ही इसकी रचना करने में सफल हो सकते हैं। मुख्य रूप से इसके दो भेद किये जा सकते हैं – बंध चित्रकाव्य और चरण-गुप्त चित्रकाव्य। बंध चित्रकाव्य में छंद की ऐसी रचना जिसकी कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार उसकी पंक्तियों के अक्षर बैठाने से किसी विशेष प्रकार की आकृति या चित्र बन जाएँ। जैसे – अश्वबंध, खड्गबंध, छत्र-बंध आदि। कवि द्वारा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इसमें चरणों की रचना ऐसी युक्ति से की जाती है कि वे चरण किसी विशिष्ट क्रम से लिखे जाने पर कमल, खड्ग, घोड़े, रथ, हाथी आदि के चित्रों के समान बन जाते हैं। चरण-गुप्त चित्रकाव्य के कई उपभेद होते हैं। इसमें कोष्ठक बनाकर उनमें कविता के चरणों या पंक्तियों के अक्षर भरे जाते हैं।

काव्यरसिकों एवं साहित्य-पिपासुओं के लिए जहाँ चित्रकाव्य परमआनन्ददायी, कौतुकपूर्ण, ज्ञानवर्धक एवं मनोरंजन का साधन माने जाते हैं वहीं विद्वज्जनों का एक बड़ा समूह साहित्य में सामान्य स्पर्शमात्र की रुचि रखने वाले पाठकों के लिए इसे अधम कोटि का काव्य कहता है। उनका मानना है कि चित्रकाव्य की प्रेरणा कवि

के भावाकुल अंतस्तल से नहीं वरन् क्रीड़ापूर्ण एवं वैचित्र्यसूचक कुतूहलवृत्ति से मिलती है अत: कविहृदय की भावसंपत्ति से सहज विलास का उन्मेष यहाँ नहीं दिखाई देता।

चित्रकाव्य का पहले-पहल उल्लेख ध्वन्यालोक में मिलता है। पश्चात् इसे काव्यप्रकाश में अवरकाव्य (अधमकाव्य) भी कहा गया है। विकिपीडिया में चित्रकाव्य को परिभाषित करते हुए उल्लिखित है कि स्फुट (स्पष्ट) व्यंग्यार्थ चाहे वह मनुष्य हो या गुणीभूत का अभाव रहने पर शब्दालंकार अर्थालंकार आदि से, जिसमें शब्दवैचित्र्यमूलक या अर्थवैचित्र्यमूलक कोरे चमत्कार की सृष्टि की जाती है, उसे चित्रकाव्य कहते हैं। इसमें रस-भावादि काव्य के मर्मस्पर्शी तत्वों के न रहने से अनुभूति की गहराई का अभाव रहता है; अनुप्रास, यमक या उपमा, रूपक आदि की कोरी शब्दार्थ क्रीड़ा ही मुख्य हो उठती है। शब्दों या अर्थों को लेकर खिलवाड़ या व्यायाम ही यहाँ अधिकतर अभिप्रेत है। इन्ही आधारों पर इस काव्य-विधा के दो भेद माने गए हैं – शब्दचित्र और अर्थचित्र।

(i) शब्दचित्र – जहाँ स्फुट व्यंग्य के अभाव में अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों या ओजप्रसादादि गुणव्यंजक वर्णों से शब्दगत चमत्कार प्रदर्शित होता है, उसे शब्दचित्र कहते हैं। शब्दचित्र वर्णाडंबर के माध्यम से भी चित्रसर्जन होता है। जैसे हिन्दी के अमृतध्वनि नामक काव्यरूप में हुआ है। दण्डी ने स्वर-स्थान-वर्ण-नियम-कृत वैचित्र्यमूलक कुछ शब्दालंकारों की चर्चा करते हुए दो, तीन, चार व्यंजन, स्वर आदि वाले चित्रकाव्य-भेद का भी निर्देश दिया है। इससे भी आगे बढ़कर शब्दक्रीड़ा का एक विशिष्ट प्रकार है जिसे प्राय: चित्रबंधकाव्य कहते हैं और जिसमें खड्ग, पद्म, हल आदि की रेखाकृतियों में बद्ध, सप्रयास गढ़े पद्य मिलते हैं। हृदयस्पर्शिता से बहुत रहित होने से कतिपय विद्वज्जन इन्हें काव्य की बजाय पद्य मात्र कहते हैं। रुद्रट आदि ने इसे ही चित्रालंकार नामक शब्दालंकार का एक भेद कहा है।

(ii) अर्थचित्र – जहाँ उपमा-उत्प्रेक्षादि ऊहात्मक अर्थालंकारों से अर्थगत क्रीड़ापरक चमत्कार लक्षित होता है, उसे अर्थचित्र कहते हैं। इनमें भावपूर्ण एवं रमणीयार्थ की अवहेलना करते हुए क्रीड़ावृत्ति पर ही बल दिया जाता है। अर्थचित्र में मुख्यत: ऊहामूलक, कष्टकल्पनाश्रित, क्रीड़ापरक एवं असहज अर्थ-वैचित्र्य मात्र की उद्भावना की जाती है। अत: वे भी सहृदय हृदय के संवादभागी न होकर विस्मयपूर्ण कुतूहल के सर्जक होते हैं। प्रहेलिका और दुष्ट प्रहेलिका के भेद भी चित्रकाव्य ही हैं। इनसें भी सप्रयास शब्दार्थ क्रीड़ा से कुतूहलसर्जना की जाती है।

4.2.3. सुन्दरदास का काव्य-कलागत वैशिष्ट्य

सुन्दरदास काव्यशास्त्र-पारंगत मनीषी हैं। उन्होंने वेद-वेदांगों का गहराई से अध्ययन किया है। उन्हें काव्य-तत्त्वों की भली-भाँति जानकारी थी तथा अच्छी-बुरी कविता की पहचान थी। अपनी रचनाओं में उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-दृष्टि का स्थान-स्थान पर परिचय दिया है। काव्य-कलागत वैशिष्ट्य के सन्दर्भ में उनके भाषिक सौन्दर्य, छन्द-विधान, अलंकार-योजना, रस-संयोजन, शब्दशक्तियाँ आदि का अनुशीलन अपेक्षित है।

4.2.3.1. भाषिक सौन्दर्य

सुन्दरदास संस्कृत भाषा, साहित्य, व्याकरण, दर्शन, भाषा के रीतिग्रन्थों एवं लोकव्यवहार का अध्ययन-मनन करने वाले रचनाकार हैं। उनकी भाषा में रीतिग्रन्थों एवं लोकव्यवहार के अध्ययन-मनन का मणिकांचन-योग है। उनकी भाषा प्रांजल एवं परिष्कृत होने के साथ सुबोधगम्य है। पिंगलशास्त्र पर खरे उतरने वाले उनके सवैया-कवित्त आदि छन्दों के प्रयोग में भाषा का टकसाली रूप और अलंकरण देखते ही बनता है। सुन्दरदास की भाषा अनुशासित है और शब्दों का उदात्त एवं सार्थक प्रयोग उनकी सभी रचनाओं में देखने को मिलता है। उनकी भाषा संस्कृत परिनिष्ठित एवं साहित्यिक ब्रजभाषा है लेकिन जब वे 'पूरबी भाषा बरवै' रचते हैं तो 'पूर्वी बोली' का इस तरह प्रयोग करते हैं जैसे पश्चिम से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा हो। उदाहरण देखिए –

अंब डार पर बैसल कोकिल कीर। मधुर मधुर धुनि बोलइ सुख कर सीर॥
एक सेज वर कामिनि लागलि पाइ। पिय कर अंगहि परसत गइलि बिलाइ॥

गुजराती और राजस्थानी के माहौल से गुजरते हुए सुन्दरदास की भाषा वहीं रमती प्रतीत होती है। जब वे गुजराती और राजस्थानी को अपनाते हुए काव्य-रचना करते हैं तब वहाँ के लोक को नहीं भूलते। परिवेशजन्य प्रभाव उनकी रचनाओं पर देखा जा सकता है –

भाजे काँई रे भिडि भारथ साम्हौं सूरा तन जिणि हारै।
दुहौं पवाड सुजस ताहरौ कै मरसी कै मारै॥

उनकी भाषा व्यक्ति-भेद नहीं करती। वह सम्भ्रान्त-सामान्य, राजा-रंक, हिन्दू-मुसलमान, पण्डित-काजी सभी के लिए एक सा व्यवहार करती है –

सब कोउ भूलि रहे इहिं बाजी।
आप आपुने अहंकार मैं पातिसाहि कहा पाजी॥
पातिसाहि कै बिभौ बहुत बिधि षात मिठाई ताजी।
पेट पयादौ भरत आपनौ जीमत रोटी भाजी॥
पण्डित भूले बेद पाठ करि पढ़ि कुरान कौं काजी।
वै पूरब दिशि करैं दंडवत वै पच्छिमहि निवाजी॥
तीरथिया तीरथ कौं दौड़ै हज कौं दोड़ै हाजी।
अन्तर गति कौं षोजै नाहीं भ्रमणै ही सौं राजी॥
अपने अपने मद के मांते, लषैं न फूटी साजी।
सुन्दर तिनहिं कहा अब कहिये जिनकै भई दुराजी॥

भाषा स्वभावतः प्रगतिशील है। उसमें नित नवीनता का समावेश होना स्वाभाविक है। सुन्दरदास की भाषा भी इससे अछूती नहीं है। उनकी भाषा में मूलतः राजस्थानी का पुट है किन्तु ब्रजभाषा के पण्डित होने से उन्होंने दोनों भाषाओं के शब्द-प्रयोग द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को और भी सुन्दर बना दिया है। उनके काव्य में

प्रयुक्त शब्द रोज़मर्रा में प्रयुक्त होने वाले सहज शब्द हैं जिनमें किसी प्रकार की कोई कृत्रिमता नहीं है। वे एक ही शब्द का अनेकक्षः प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न करते हैं। शब्दों की आवृत्ति छन्दों की झंकार में परिणत हो जाती है। निम्नलिखित उदाहरण में समान शब्दों का अनेकक्षः प्रयोग कर कवि ने लाटानुप्रास अलंकार का प्रयोग किया है जिससे काव्य की सुन्दरता चतुर्गुणित बढ़ गई है –

देषत देषत देषत मारग, बूझत बूझत बूझत आयौ।
सूझत सूझत सूझ परी सब, गावत गावत गोबिन्द गायो।
सोधत-सोधत सुद्ध भयौ पुनि, तावत तावत कंचन तायो।
जागत-जागत जागि पर्‌यौ जब, सुन्दर सुन्दर सुन्दर पायौ॥

सुन्दरदास चमत्कारपूर्ण सूक्तियों का सायास प्रयोग करते हैं। यथा, "कार्य वही है जो हृदय में विकार उत्पन्न न करे।", "सार वही है जो असार (सारहीन) को नष्ट कर दे।", "प्रीति वही है जो ब्रह्म की प्रतीति कराए।", "नीति यही है कि अनीतिपूर्ण वचन न कहे जाएँ।", "तन्त (धागा / प्रेम का सम्बन्ध) वही है जो अन्त तक न टूटे।", "सन्त वही है जो अपने सत् (तेज) का रक्षण करे।", "शब्द वही है जिसे सुनने के बाद समस्त वाद नष्ट हो जाएँ यानी ब्रह्मजिज्ञासा शान्त हो जाए।", "स्वाद वही है जिसे चखने के बाद अन्य रस चखने की चाह न रह जाय।"

कार उहै अविकार रहै नित, सार उहै जु असारहिं नासै।
प्रीतित उहै जु प्रतीति धरै उर, नीति उहै जु अनीति न भाषै॥
तन्त उहै लगि अन्त न टूटत, सन्त उहै अपनौ सत राषै।
नाद उहै सुनि बाद तजै सब, स्वाद उहै रस सुन्दर चाषै॥

सुन्दरदास-कृत सूक्तियों के अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं –

पान उहै जु पीयूष पीवै नित, दान उहै जु दरिद्रहि आनै।
कान उहै सुनिये जस केसव, मान उहै करिये सनमानै॥
तान उहै सुरतान रिझावत, जान उहै जगदीसहीं जानै।
बान उहै मन बेधत सुन्दर, ज्ञान उहै उपजै न अज्ञानै॥

* * *

भौन उहै भय नाहिन जामहिं, गौन उहै फिरि होइ न गौना।
बीन उहै बमिये बिषया रस, रौन उहै प्रभु सी नहिं रौना॥
मौन उहै जु लिये हरि बोलत, लौन उहै सब और अलौना।
सौन उहै गुरु संत मिलै जब, सुन्दर संक रहै नहिं कौना॥

सुन्दरदास के सवैया छन्दों में ब्रजभाषा का माधुर्य विद्यमान है । उनके द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा में कोमलकान्त पदावली के साथ-साथ सानुप्रासिकता, प्रवाहमयता, चित्रोपमयता एवं स्वाभाविकता के गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । तत्सम शब्दावली के प्रयोग के कारण सुन्दरदास की भाषा उत्तरापथ की नहीं, अपितु समस्त देश की साधुभाषा बनने में सक्षम रही है। उदाहरण देखिए –

सुन्दर जरिये अग्नि महिं, जल बूड़े नहिं हानि।
पर्वत ही ते गिरि पर्‌यो, दुर्जन भलौ न जानि ॥

सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में देशज शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के देशज शब्दों का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि करता है। उदाहरण देखिए –

सातौं विद्या मिलाइ एकठी, तामैं रंग निचोया।

वे अपनी कविताओं में अरबी-फारसी के शब्दों का भी सन्दर्भानुसार उपयोग करते हैं –

सुन्दर समुझि बिचार करि है प्रभु पूरनहार ।
तेरो रिजक न मोहिहैं, जानत क्यों न गँवार ॥

अरबी-फारसी के शब्दों के सुन्दर प्रयोग का एक अन्य उदाहरण देखिए –

जिनि तुझै षाक सौं अजब पैदा किया तूँ उसै क्यौं फरामोस होता ।
दास सुन्दर कहै सरम तब ही रहै हक्क तूँ हक्क तूँ बोलि तोता ॥

शब्द-साम्यता सुन्दरदास की रचनाओं का विशिष्ट गुण है । 'हटकि', 'सटकि', 'गटकि', 'पटकि', 'फटकि' आदि शब्दों में वृत्यनुप्रास अलंकार की छटा छन्द का सौन्दर्य बढ़ा देती है। उदाहरण देखिए –

मन की राषत हटकि करि, सटकि चहूँ दिसि जाइ ।
सुन्दर लटकि रू लालची, गटकि विषै फल खाइ ॥

झटकि तारि कौ तौरि दे, भटकत साँझरू भोर ।
पटकि सीस सुन्दर कहै, फटकि जाई ज्यौं चोर ॥

ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग करने वाले रचनाकारों में सुन्दरदास अन्यतम हैं। उदाहरण देखिए –

तड़फड़ै सूर नीसान घाई पड़ै कोट की वोट सब छोड़ि चलै।
स्यांग कै काम कौं लोट अरु पोट ह्वै निकसि मैदान मैं चोट घालै ॥
जहाँ कड़कड़ै बीर गजराज हय हड़हड़ै धड़हड़ै धरनि ब्रह्माण्ड गाजै ।
झलहलै सार हथियार अति षड़हड़ै देषिता दूरि भक भूरिभाजै ॥

सुन्दरदास वाणी के उपासक हैं। उनके मतानुसार भाषा प्राकृतजनों की प्रशंसा करने के लिए नहीं सीखी जाती और न ही नायिका-भेद की शृंगारी रचनाओं के लिए ही गुरु ने इसका अभ्यास कराया है। सीखी हुई भाषा से चाटुकारिता करना और अनाचार फैलाने वाली रचनाएँ कहना भाषा का अपमान है। भगवान् का गुणानुवाद करने पर ही सीखी हुई भाषा सार्थक होती है। भाषा के द्वारा हरि का गुणगान होना चाहिए। जिस भाषा में हरि का गुणगान नहीं है उस भाषा का परित्याग कर देना चाहिए। उसे नहीं सुनना चाहिए –

जा वाणी में पाइये, भक्ति ज्ञान बैराग।
सुन्दर ताकी आदरै, और सकल की त्याग॥

जा बानी हरिगुन बिना सो सुनिये नहिं कान।
सुन्दर जीवन देखिये, कहिये मृतक समान॥

सुन्दरदास की प्रबल धारणा है कि "मारग आये दश दिशा, पहुँचे एकहि गाँउ।" उनका यह विश्वास भाषा-प्रयोग पर भी चरितार्थ होता है। उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता में अनेक भाषा-शैलियों को अपनाया है, परिवेशगत सभी स्रोतों से अपने शब्द-भण्डार को समृद्ध किया है किन्तु अन्ततः उनकी भाषा का लक्ष्य हरि-गुणगान ही है।

4.2.3.2. छन्द-विधान

सुन्दरदास छन्दों के प्रयोग में विशेष सावधान थे। वे छन्दशास्त्र के ज्ञाता थे अतः अक्षरों की घटत-बढ़त के प्रति विशेष सजग रहे। छन्द उनके मंतव्य का वाहक है। यह उनकी रचना के प्रति सजगता का ही प्रतिफलन है कि छन्द का प्रयोग उन्होंने भाषा और भाव के अनुरूप ही किया है, उदाहरणार्थ वे 'बावनी' रूप में लोकबोध की रचना करते हैं तो 'पीर मुरीद अष्टक' 'चामर' छन्द में लिखते हैं। उदाहरण देखिए –

औवलि कदम उस्ताद के मैं गहे दोउ दस्त।
उनि मिहर मुझ पर करि ऐसी ह्वै गया मैं मस्त॥

सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं में विविध छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें दोहा, चौपाई, रोला, सवैया, अडिला, मडिल्ला, छप्पय, बरवै, सारेठा, झूलना, रुचिरा, वीर, हंसाल, कुण्डलिया, इन्दव, दुर्मिला आदि प्रमुख हैं। 'साखी' में उन्होंने परम्परागत छन्द का ही प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छन्दों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

दोहा –

सुन्दर सद्गुरु आपते, गहे सीस के बाल।
बूड़त जगत समुद्र मैं, काढ़ि लियौ तत्काल॥

* * *

श्रीगुरु भक्ति प्रधान, जासु रचना में पावे।
ब्रह्मवेत्ता प्रख्यात, तदपि दादूगुण गावे ॥

चौपाई –

ईश्वर भक्ति भेद भल गाया। नवधा प्रेमा परा बताया ॥
होय वियोगी अश्रु धारा। वहाँ लहा पद परम अपारा ॥

* * *

गाया योग हठ रु अष्टांगा, साधा भलि विधि सांगां पांगा॥
सो सब सुख समाधि में गाया, जान ब्रह्म जब ही तृप्ताया ॥

रोला –

गुरु वचनों में अडिग, डिगे नहिं तिल भर सुन्दर।
'नारायण' इस हेतु, भये वे भव में सुन्दर ॥

मनहर –

जाग जग असत से, तन मन धन अर्प,
आदि मध्यअंत गुण, गायो विश्व पति को।
साधक समूह सु विचार, निज मानस में,
कहत संदेहहीन, धन्य जाकी नति को ॥

* * *

जाकी वाणी हिय में उजास कर तम हरे,
बाहर प्रकाश करे यथा रश्मि रवि की।
सजन जनों की मति बुद्धि हित गिरा चाहै,
देव गण इच्छा करैं जैसे सदा हवि की ॥

* * *

विज्ञ जन संमत सु काव्य के मर्मज्ञ विज्ञ,
जाकी कविता के अति उन्नत विचार है।
उन्नति के बाधक शृंगार के विरोधी सच्चे,
केशव शृंगारी के सु मारी फटकार है ॥

* * *

काम करि हेतु जामें मनहर अंकुश है,
कोपसिंह शासक सवैया सु कमान है।
ताप कृष्णा त्रासक सु दोहरे दुनाली धरी,
नाशक अज्ञान के छप्पय संग मान है॥

* * *

भक्तगण सत्य के जिज्ञासु गण 'नारायण',
सुन्दर से आज भी सँवारें निज काज है।
फतेहपुर नगर नबाब को दिखाई सिद्धि,
मृत्यु से बचाये बाजी सिद्ध शिरताज है॥

किरीट सवैया –

सुन्दर सत्य सनातन साधन, साधु सु सिद्ध भये सत सुन्दर।
सुन्दर शाश्वत सत्य बिना, भव लेश न भाषत है यह सुन्दर॥
सुन्दर साध्य वही सत सुन्दर, सुन्दर सीख दई अति सुन्दर।
सुन्दर की लख सुन्दरता अब, सुन्दर दृष्टि लखें सब सुन्दर॥

अडिला –

पिय बिन सीस न पारूँ पाटी। पिय बिन आँषिनि बाँधैं पाटी॥
पिय बिन और लिषूं नहिं पाटी। सुंदर पिय बिन छतियाँ पाटी॥

मडिल्ला –

बंधन भयौ प्रीती करि रामा। मुक्ता होइ जौ सुमिरै रामा॥
निश दिन याही करै बिचारा। सुन्दर छूटै जीव बिचारा॥

छप्पय –

परब्रह्म पतिशाह ज्ञान कहिये सहजादौ।
सांख्य योग अरु भक्ति बड़े उमराव अनादौ॥
और क्रिया सब रैति जज्ञ जप तप ब्रत जेते।
तीर्थ अटन स्नान दान यम नियम सुकेते॥

बरवै –

अंब डार पर बैसल कोकिल कीर।
मधुर मधुर धुनि बोलइ सुख कर सीर॥
झूलत बैसिहिं डोरनि पिय कर संग।
उत्तम चीर बिराजल भूषन अंग॥

सोरठा –

भाजै काँई रे भिड़ि भारथ साम्हौं सूरा सत जिणि हारै।

झूलना –

अनुभव बिना नहिं जान सकै निरसंध निरंतर नूर है रै।

रुचिरा –

बिरकत धर्म रहै जु गृही तैं, गृही कौं बिरकत तारै जू।
ज्यौं बन करै सिंघ की रक्षा, सिंघ सु बनहि उबरै जू॥

वीर छन्द –

जीव नरेस, अविद्या निद्रा, सुख सज्या सोयो करि हेत।
कर्मवास पुटपरी लाई, तातें बहु बिधि भयौ अचेत॥
भक्ति प्रधान जगायौ करि गहि, आलस भल्यौ जंभाई लेत।
सुन्दर अब निद्रा बस नाहीं, ज्ञान जागरन सदा सचेत॥

हंसाल –

तौ सही चतुर तू जान परवीन अति, परै जिनि पंजरै मोह कूवा।
पाइ उत्तम अनम लाइ लै चपल मन, गाइ गोविंदगुन जीति जूवा॥
आपुही आपु अज्ञान नलनी बंध्यौ , बिना प्रभु विमुख कै बार मूवा।
'दास सुन्दर' कहै परम पद तौ लहै, राम हरि राम हरि बोलि सूवा॥

कुंडलिया –

रसिकप्रिया, रसमंजरी, और सिंगारहि जानि
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई आनि।
विषै बनाई आनि, लगत विषयनि कौ प्यारी

जागै मदन प्रचंड सराहैं नख शिख नारी।
ज्यों रोगी मिष्ठान्न खाइ, रोगहि बिस्तारै
सुन्दर यह गति होइ जु तो रसिकप्रिया धारै॥

इन्दव –

मौज करी गुरुदेव दया करि, शब्द सुनाइ कह्यौ हरि नेरौ।
ज्यौं रवि कैं प्रगटे निसि जात, सु दूरि कियौ भ्रम भांनि अंधेरौ।
काइक बाइक मानस हू करि, है गुरुदेवहि वंदन मेरौ।
सुन्दर दास कहै कर जोरि जु दादू दयाल कौ हूँ नित चेरौ॥

दुर्मिल –

कन ही कन कौ बिललात फिरै, सठ जाचत है जन ही जन कौं।
तन ही तन कौ अति सोच करै, नर खात रहै अन ही अन कौं॥
मन ही मन की तृषना न मिटी, धुनि धावत है धन ही धन कौं।
छिन हि छिन सुन्दर आयु घटी, कबहूँ न गयौ बन ही बन कौं॥

सुन्दरदास द्वारा प्रयुक्त छन्दों से उनके काव्य में गेयता का समावेश हुआ है। इसी से उनकी रचनाओं में प्रभविष्णुता आ गई है। काव्य में चारुता का विधान करने में उनके द्वारा प्रयुक्त छन्द सर्वाधिक सहायक हुए हैं। उनकी छन्दबद्ध रचनाओं का प्रभाव स्थायी है। इसी से वह पाठकों के हृदय में सीधे उतरती जाती हैं। उनकी कविता छन्दों की रसमाधुरी से ओत-प्रोत है। वस्तुतः उसमें प्राणों का संगीत गुंजरित हो रहा है।

4.2.3.3. अलंकार-योजना

साहित्य-शास्त्र का गहन अध्ययन करने के कारण सुन्दरदास के काव्य में अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग हुआ है। अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति लिए वे अलग-अलग शैलियों को अपनाते हैं। कहीं वे वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करते हैं तो कहीं तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए विवरणात्मक शैली का सहारा लेने में भी संकोच नहीं करते हैं। उनकी अभिव्यक्ति चूँकि काव्यमय है इसलिए उनकी रचनाओं में लाक्षणिक शैली एवं आलंकारिक शैली का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। अपनी रचनाओं में अनुप्रास, यमक, विनोक्ति (विनक्षरी), उपमा, मालोपमा, रूपक, भ्रान्तिमान, अन्योक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग कर उन्होंने काव्य में सौन्दर्य का विधान तो किया ही है, साथ-ही-साथ वे अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त ढंग से सम्प्रेषित करने में भी सफल हुए हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न अलंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अनुप्रास –

कंटक काल न सुझई, करत फिरै उन्माद।

यमक –

जागत जागत जागि पर्‌यौ जब, सुन्दर सुन्दर सुन्दर पायौ।

विनोक्ति –

सुन्दरदास कहै सुनि पण्डित, राम नाम बिन मुक्त न होइ।

उपमा –

सुन्दर मन गजराज ज्यों, मल्ल भयौ सुध नाहिं।
काम अंध जानै नहीं, परै खाड़ के माहिं॥

* * *

सुन्दर यह मनरूप की, देखत रहै लुभाइ।
ज्यों पतंग बसि नैन कै, जोति देखि जरि जाइ॥

मालोपमा –

ज्यों कोउ मद्य पिये अति छाकत, नाहिं कछू सुधि है भ्रम ऐसो।
ज्यों कोउ खाई रहै ठगी भूरिहिं जानै नहीं कछु कारन तैसो॥
ज्यों कोउ बालक शंकउ पावत, कंपि उठै अरू मानत भैसो।
तैसेहि सुन्दर आपुकौं भूलि सु, देषहु चेतनि मानत कैसो॥

रूपक –

सुन्दर यह मन रासिभौ, दौरि विषै की जात।
गदही कै पीछे फिरै, गदही मारे लात॥

* * *

सुन्दर यह मन स्वान है, भटकै घर-घर द्वार।
कहूक पावै सूठि के, कहूँ पावै बहु मार॥

भ्रान्तिमान –

भूल्यौ फिरै भ्रम ते करत कछु और-और,
करत न ताप दूरि, करत संताप कौ।
आपही की भ्रम सु तौ दूसरी दिखाई देत,
आपु कौं बिचारे कोउ दूसरी न आन जू।

अन्योक्ति –

पत्र माहि झोली गहि राषे, जोगी भिक्षा मांगन जाइ।
जागै जगत सोवई गोरष, ऐसा शब्द सुनावै आई॥
भिक्षा फुरै बहुत करि ताकौ, सों वह भिक्षा चेलहिं षाइ।
सुन्दर जोगी जुग-जुग जीवै, ता अवधू की दूरि बलाइ॥

4.2.3.4. रस-संयोजन

सुन्दरदास का सम्पूर्ण साहित्य भक्ति-रस अथवा शान्त-रस से सम्बन्धित है। उनकी रचनाओं में कथ्य और अभिव्यक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। तत्युगीन काव्य-प्रवृत्तियों में 'शृंगार रस' की प्रधानता के साथ ही 'नायिका-भेद' भी रीतिकालीन कवियों का अपेक्षाकृत प्रिय विषय रहा है। अपनी उल्लेखनीय कृति 'ज्ञान-समुद्र' के द्वारा 'रीतिकाल' में 'ज्ञानमार्गी धारा' का रीति-ग्रन्थ देकर एक ओर तो सुन्दरदास ने आचार्यत्व के कर्त्तव्य-कर्म का निर्वहन किया, वहीं दूसरी ओर वे समाज अथवा सामाजिक चेतना को, भोग-वासना वाली लोलुप-पंकिल वृत्ति से हटाकर सात्त्विकता की भूमिका में प्रतिष्ठित करने का सामाजिक दायित्व भी बखूबी निभाते हैं। सुन्दरदास अपनी रचनाओं में बार-बार इस मत को स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि 'काव्य' का प्रतिपाद्य मात्र शृंगारादि रस का संयोजन ही नहीं है और न ही नायिका-भेद के अन्तर्गत नायिका के नख-शिख वर्णन के द्वारा मानवीय चेतना को वासना के गर्त में फँसाते रहना ही रचनाकार का लक्ष्य कहा जा सकता है। इसीलिए सुन्दरदास मानवीय चेतना को उज्ज्वल रस का आस्वाद कराने के लिए 'ज्ञान-समुद्र' की रचना करते हैं। अपने मंतव्य को एक रूपक के द्वारा उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

जो या ज्ञान समुद्र महिं, डुबकी मारै आइ।
कोई मुक्ता फल लहै, दुःख दरिद्र सब जाइ॥

सुन्दर ज्ञान समुद्र की, महिमा कहिये कौन।
अमृत रस सौं है भर्‌यो, तुम जिनि जानहुं लौंन॥

सुन्दर ज्ञान समुद्र महिं, बहुते रत्न अमोल।
मृतक होइ सो पैठिहै, पैठि न सकई लोल॥

सुन्दर ज्ञान समुद्र कौ, वारपार न अन्त।
बिषई भागै झझकि कैं, पैठे कोई सन्त॥

इस प्रकार सुन्दरदास शृंगार रस की मानसिकता के समानान्तर सन्त काव्यधारा के अनुरूप 'ज्ञान-भक्ति' के वैचारिक पक्ष को बड़े कौशल से काव्यशास्त्रियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

सुन्दरदास के काव्य में शान्त रस, वीभत्स रस, वीर रस, करुण रस, अद्‌भुत रस, शृंगार (नायक-नायिका भेद रहित) रस, भय रस आदि की प्रधानता है । आत्मा व परमात्मा के मिलन प्रसंगों में संयोग शृंगार की अभिव्यंजना हुई है जबकि विरह प्रसंगों में वियोग शृंगार व्यंजित हुआ है। उदाहरणस्वरूप सवैया ग्रन्थ के 'बिरहनी उलाहने कौ अंग' एवं साखी रचनाओं में 'देहात्म बिछोह कौ अंग' तथा 'बिरह कौ अंग' में ऐसे वियोग प्रसंग सम्यक् रूप से देखे जा सकते हैं –

शान्त और शृंगार –

सुन्दर बिरहनी कै सोच सषी बार बार
हम कौं बिसारि अब कौन के कहाये हैं।
सुन्दर कहत जाके पीर सो करै पुकार
जाकै दुःख दूरि गयौ ताकै भई वोत है।
ऐसी तौ कठोरता सुनी न देषी जगत मैं
सुन्दर कहत काहू वज्र ही के गढ़े हैं॥

* * *

सुन्दर बिरहनि अति दुखी पीव मिलन की चाह ।
निस दिन बैठि अनमनी नैननि नीर प्रबाह॥

* * *

बिरहा बिरहनि सौं कहत सुन्दर अति अरि भाव।
जब लाग तोहि न पिय मिलै तब घालौं घाव॥

शान्त –

जाग्रत अवस्था जैसे सदन मैं बैठियत,
तहाँ कछु होइ ताहि भली भाँति देखिये।
स्वप्न अवस्था जैसे ओबरे मैं बैठे जाइ,
रहैं रहैं उहाउं की वस्तु सब देखिये॥
सुषुपति भौंहरै मैं बैठे तें न सूझि परै,
महा अंध घोर तहाँ कछुवै न पेखिये।
ब्योम अनसूत घर ओबरे भौंहरै माँहिं,
सुन्दर साक्षी स्वरूप तुरिया बिसेखिये॥

वीभत्स –

कामिनी को अंग अति मलिन महा असुद्ध,
रोम रोम मलिन, मलिन सब द्वार हैं।
हाड़ मांस मज्जा मेद, चाम सौं लपेटि राखे,
ठौर ठौर रकत के भरेई भंडार है ॥
मूत्रहू पुरीस आंत एकमेक मिलि रही,
औरउ उदर माँहिं विविध विकार हैं।
सुन्दर कहत नारी नख सिख निंद रूप,
ताहिं जे सराहैं ते तौ बड़ेई गँवार हैं॥

वीर –

हाथ मैं गह्यौ है खर्ग, मरिबे कौ एक पग,
तन मन आपनौ समरपन कीनौं है।
आगै करि मीच कौं पर्‌यौ है डाकि रन बीच,
टूक टूक होइकै भगाइ दल दीनौं है॥
खाइ लौन स्याम कौ, हरामखोर कैसे होइ,
नामजद जगत मैं जीत्यौ पन तीनौं है।
सुन्दर कहत ऐसो कोउ एक सूर बीर,
सीस को उतारि कैं सुजस जाइ लीनौं है॥

करुण –

वै श्रवना, रसना, मुख वैसेहि, वैसेहि नासिक, वैसेहि अंखी।
वै कर, वै पग, वै सब द्वार सु वै नख सीसहि रोम असंखी॥
वैसेहि देह परी पुनि दीसत, एक बिना सब लागत खंखी।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह बोलत हौ, सु कहाँ गयौ पंखी॥

अद्‌भुत –

बोलै ही न मौन धरै, बैठे ही न गौन करै,
जगै ही न सोवै, सु तौ दूरि ही न नीरौ है।
आवै ही न जाइ, न तौ थिर अकुलाइ पुनि,
भूखौ ही न खाइ कछु, तातौ ही न सीरौ है॥
लेत ही न देत कछु हेत न कुहेत पुनि,
स्याम ही न सेत, सु तौ रातौ ही न सीरौ है।
दूबरौ न मोटौ कछु, लांबौ ही न छोटो, ताते,
सुन्दर कहु सु कहा, काच ही न हीरौ है॥

भय –

कामिनी की देह मानों कहिये सघन बन,
उहाँ कोउ जाइ सु तौ भूलि कैं परतु है।
कुंजर है गति, कटि केहरिकी भय जामैं,
बेनी काली नागीनीउं फन कौ धरतु है॥
कुच है पहार जहाँ, काम चोर रहै तहाँ,
साधिकै कटाछ बान प्रान कौं हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राछस बदन खाँउं खाँउं ही करतु है॥

4.2.3.5. शब्दशक्ति

"शब्दार्थसंबंधः शक्तिः", अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'शक्ति' कहलाता है। भारतीय साहित्य-कोष में इसी आधार पर शब्दशक्ति की परिभाषा दी गई है; यथा – "शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम व्यापार भी है। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति है। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्द-शक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं।" काव्यशास्त्र के पण्डित सन्त सुन्दरदास के काव्य में शब्दशक्तियों का सार्थक प्रयोग हुआ है। विशेषकर लाक्षणिक पदावली के कारण उनकी कविता की अर्थवत्ता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं –

हम पर पावस नृप चढ़ि आयौ।
बादल, हस्ती, हवाई, दामिनी, गरजि निसान बजायौ।
पवन तुरंग चलत चहुं दिश, बूँद बान झर लाग्यौ।
दादुर मोर पपीहा पाइक मारे मार सुनायौ॥

* * *

बिप्र रसोई करने लागौ, चौका भीतरी बैठी जाइ।
लकरी माहै चूल्हा दीयी, रोटी उपरि तवा चढ़ाइ॥
षिचरी माहै हंडिया राखी, सालन आक धतूरा षाइ।
सुन्दर जीमत अति सुख पायौ, अबकै भोजन कियो अघाइ॥

* * *

शुक कै बचन अमृतमय ऐसै, कोकिल धार रहै मन माहिं।
सारी सुनै भागवत कब हौं, सारस तौउ पवै नाहिं॥
हंस चुगै मुकताफल अर्थहिं, सुन्दर मानसरोवर न्हाहिं।
काक कविश्वर विषई जेते, सब दौरि करंकहिं जाहिं॥

* * *

सुन्दर तब ही बकि उठे, बोलै नहिं विचारि।
सब ही की लागै बुरौ, देत ठीम सौं डारि॥
सुन्दर सुनते होई सुख, तब ही मुख तें बोल।
आक-बाल बकि और की, वृथा न छाती खोल॥

* * *

जैसे जल-जन्तु जल ही मैं उत्पन्न होहिं,
जल ही में विचरत, जलही के आधार हैं।
जल ही मैं क्रीड़त, बिबिध विवहार होत,
काम, क्रोध, लोभ, मोह, जल मैं संहार है।
जल की न लागै कछु, जीवन के राग-द्वेष,
उन्हीं के क्रिया कर्म, उनहीं की लार है।
तैसे ही सुन्दर यह ब्रह्म मैं, जगत सब,
ब्रह्म की न लागै कछु जगत विकार है॥

4.2.4. पाठ-सार

सुन्दरदास का काव्य स्वतःस्फूर्त है जहाँ कोई कृत्रिमता नहीं है। उनकी रचनाओं में कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शन अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन का भाव नहीं दिखता। उनकी दृष्टि में अपनी हार्दिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में ही कविकर्म की सार्थकता है। वैसे तो उनकी कविता काव्य के उपादानों से रहित नहीं है लेकिन वे काव्य में सायास प्रयोग नहीं करते। उनकी भाषा समृद्ध, सशक्त एवं समर्थ है। अलंकार-योजना व रस-विधान उदात्त, भव्य एवं चारुता से परिपूर्ण है। उनका छन्द-विधान दोषरहित है। शब्दशक्तियों के आलोक में वे लक्षणा के सम्राट् कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में सहज भावों का उद्रेक है। उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति भाषा वाङ्मय के सिद्धहस्त रचनाकारों में उन्हें उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित करती है।

4.2.5. शब्दावली

अरि	:	शत्रु
डाकि	:	कूदकर
पंखी	:	पक्षी
खंखी	:	खोखला
कुंजर	:	हाथी
केहरि	:	सिंह

4.2.6. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. सुन्दरदास के काव्य में नीति और सूक्ति।
2. सुन्दरदास का भाषिक-विधान।
3. सुन्दरदास के काव्य में रस-संयोजन।
4. सुन्दरदास की लोक-सांस्कृतिक चेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "सन्त सुन्दरदास के व्यक्तित्व की छाप उनके काव्य पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।" इस कथन का परीक्षण कीजिए।
2. कवि सुन्दरदास के काव्य-कलागत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'बहुज्ञता' का अर्थ है –

(क) काव्यानुभूति
(ख) काव्यानुशीलन
(ग) काव्य-निरूपण
(घ) विविध विषयों की जानकारी

2. सुन्दरदास ने महोत्सव किसे कहा है ?

(क) मृत्यु को
(ख) भक्ति को
(ग) साधना को
(घ) विवेक को

3. सन्त सुन्दरदास के अनुसार किस भाषा का परित्याग कर देना चाहिए ?

(क) जिसमें हरि का गुणगान हो
(ख) जिसमे हरि का गुणगान नहीं हो
(ग) जिसमें काव्यशास्त्रीय अनुशीलन हो
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. 'जागत जागत जागि पर्‌यौ जब, सुन्दर सुन्दर सुन्दर पायौ' में अलंकार है–

(क) अनुप्रास

(ख) अन्योक्ति

(ग) उत्प्रेक्षा

(घ) यमक

5. 'ज्ञान-समुद्र' के रचयिता हैं –

(क) कबीर

(ख) दादूदयाल

(ग) रज्जब

(घ) सुन्दरदास

4.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मिश्र, रमेशचन्द्र, सुन्दर ग्रन्थावली (भाग – 1 व 2), किताबघर, नयी दिल्ली.
2. सिंह, वासुदेव, हिन्दी सन्तकाव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. तिवारी, रामचन्द्र, मध्ययुगीन काव्य साधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
5. सिंह, सुधा, मध्यकालीन साहित्य विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता.
6. चौधरी, तेजपाल, मध्ययुगीन काव्य के आधार स्तम्भ, विकास प्रकाशन, कानपुर.
7. मिश्र, सत्यप्रकाश, मध्यकालीन काव्यधाराएँ एवं प्रतिनिधि कवि, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 3 : भूषण के काव्य में युगबोध; भूषण की राष्ट्रीय भावना; भूषण : एक जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य कथन
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. भूषण के काव्य में युगबोध
  4.3.2.1. युगबोध की संकल्पना
  4.3.2.2. भूषण का युगबोध
  4.3.2.3. भूषण के काव्य में युगबोध की सीमाएँ
4.3.3. भूषण की राष्ट्रीय भावना
  4.3.3.1. राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा
  4.3.3.2. भूषण के काव्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति
  4.3.3.3. भूषण के काव्य का राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रदाय
4.3.4. भूषण : जातीयता / राष्ट्रीयता
  4.3.4.1. भूषण के काव्य की विषयवस्तु
  4.3.4.2. भूषण : जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि
4.3.5. पाठ-सार
4.3.6. बोध प्रश्न
4.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

4.3.0. उद्देश्य कथन

कविता का जन्म सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के बीच होता है। प्रत्येक युग का परिवेश कविता के नये रूप और नये अर्थ का निर्माण करता है। स्पैंगलर ने 'डिक्लाइन ऑफ़ द वेस्ट' में कहा है कि आन्दोलन, सभ्यता और संस्कृति लहर की तरह होते हैं। एक लहर अपनी चरम पहुँच के बाद ढल जाती है फिर दूसरी नयी लहर आती है। यह क्रम अनवरत चलता रहता है। मध्ययुगीन भारतवर्ष में जिन मूल्यों को लेकर भक्तिकाव्य की लहर उठी, उसने अपनी भूमिका निभाने के बाद इतिहास की दूसरी शक्ति को स्थान दिया। भक्तिकाल के रीतिकाल में रूपान्तरण और रीतिपरक रचनाओं में कवि भूषण की रचनाओं को इसी अनुक्रम में समझना यथोचित व न्यायसंगत होगा। प्रस्तुत इकाई "भूषण के काव्य में युगबोध; भूषण की राष्ट्रीय भावना; भूषण : एक जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि" विषयों पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भूषण के काव्य में युगबोध का विवेचन कर सकेंगे।
ii. भूषण की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा एवं संकल्पना को समझ सकेंगे।

iii. एक जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि के रूप में भूषण के रचनात्मक अवदान से परिचित हो सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

रचनात्मक अभिव्यक्ति एक विशिष्ट प्रणाली है जो अनुभव की गति अथवा पद्धति की व्यवस्था को महत्त्व देती है। जब हम भक्तिकालीन काव्य-परम्परा के सन्दर्भों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि भक्तिकाल की कविता पद्धति के प्रति नहीं अपितु कवि के अनुभव के प्रति उत्तरदायी है जबकि रीतिकालीन काव्य-परम्परा के सन्दर्भों का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि रीतिकाल की कविता पद्धति को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देती है। मानवीय अनुभवों से निरपेक्ष रहकर भी रीतिकालीन कवियों ने कविता को केवल साहित्य के रूप में ही नहीं बल्कि कला एवं व्यवहार के रूप में भी विकसित किया। रीतिकाल दरबारी युग था अतः प्रवृत्यानुसार अधिकांश कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का भी प्रभावपूर्ण अंकन किया है। भूषण इसी वीरगाथात्मक परम्परा के मूर्धन्य कवि हैं। वे पश्चिम भारत में मराठा साम्राज्य की नींव रखने वाले छत्रपति शिवाजी महाराज या शिवाजी राजे भोसले (सन् 1630 ई. – सन् 1680 ई.) तथा बुंदेलखंड केशरी महान शूरवीर और प्रतापी राजा छत्रसाल (सन् 1649 ई. – सन् 1731 ई.) के आश्रित रहे। 'शिवराजभूषण', 'अलंकारप्रकाश', 'छन्दोहृदयप्रकाश', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' भूषण की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

भूषण रीतिकाल के ऐसे कवि हैं जिन्होंने रीतिकालीन शृंगार-भावना के स्थान पर वीर रस की कविता लिखी। उन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज एवं बुन्देला वीर छत्रसाल की प्रशंसा में तीन प्रमुख ग्रन्थों (शिवराज भूषण, शिवा बावनी और छत्रसालदशक) की रचना की। 'शिवराजभूषण' एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें 385 पद्य संकलित हैं। 'शिवाबावनी' में 52 कवित्तों में शिवाजी की वीरता का प्रभावी अंकन किया गया है जबकि 'छत्रसालदशक' में केवल दस कवित्तों के अन्तर्गत बुन्देला वीर छत्रसाल के पराक्रम की अभिव्यक्ति की गई है।

4.3.2. भूषण के काव्य में युगबोध

रीतिकाल के अधिकांश कवि विभिन्न राजदरबारों के आश्रय में रहते थे। बिहारी, देव, भूषण, सूदन, केशव, मतिराम आदि सभी प्रसिद्ध कवि राजदरबारों से वृत्ति प्राप्त करते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि वे अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में काव्य-रचना करते थे। भूषण का काव्य उद्देश्यपरक है और यह सोद्देश्यता तत्कालीन परिवेश से निर्धारित है। यदि भूषण जैसे कुछ कवियों को छोड़ दिया जाए तो रीतिकाल के अधिकांश कवियों के द्वारा की गई आश्रयदाताओं की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण हैं क्योंकि 'उमरदराज महाराज तेरी चाहिए' की उद्घोषणा करने वाले दरबारी कवियों को अपनी जीविका के लिए दरबारों से वृत्ति मिलती थी अतः आश्रयदाताओं का गुणगान करना उनकी विवशता थी। राजनैतिक दाँव-पेंच एवं जोड़-तोड़ में लगे रहने वाले अधिकांश दरबारी कवियों की रचनाओं में स्वतःस्फूर्त काव्य-रचना की वह प्रवृत्ति प्रायः दिखाई नहीं पड़ती जो भक्तिकाल में थी। ऐसे में रीतिकालीन साहित्य को मात्र रीतिपरक व मनोरंजनपरक रचनाओं से मुक्त कर वीरगाथात्मक व सुभाषितपरक पूर्ववर्ती अभिप्रेरक प्रवृत्तियों का अनुगमन करते हुए कवि भूषण ने उसे तत्युगीन सामाजिक-राजनैतिक चेतना और

परिवर्तन की आकांक्षाओं से जोड़ने का सफल प्रयास किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भूषण की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं – "शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता । वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं । इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू जनता स्मरण करती है, उसी की व्यंजना भूषण ने की है ।"

4.3.2.1. युगबोध की संकल्पना

साहित्य में समाज का कैसा चित्रण होना चाहिए ! इस विषय में दो मत समानान्तर प्रचलन में रहे हैं । पहला यह कि 'जैसा वह है, वैसा' और दूसरा यह कि 'जैसा उसे होना चाहिए, वैसा' । 'जो जैसा है, उसे वैसा ही प्रस्तुत कर देना' यथार्थवाद है जबकि 'जैसा होना चाहिए उसकी वैसी प्रस्तुति' आदर्शवाद है । युगबोध की संकल्पना में 'आदर्शवाद' और 'यथार्थवाद' का सन्तुलन ही मूल परिधि में है। भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल का दौर आया जिसमें प्रमुख रूप से रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य रचे गए। कविता अपने मूल में तब तक कविता है जब तक वह जीवन और परिवेश को संवेदना के धरातल पर अनुभव करके शिल्पगत सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करती है। कविता वस्तुतः जीवन की व्याख्या है अतः जिन्दगी के तमाम 'फलसफे' को वह अपने भीतर समेटे रहती है । सच तो यह है कि साहित्य का अपने युग एवं परिवेश से सम्पृक्त होना आवश्यक ही नहीं प्रत्युत एक तरह से अनिवार्य होता है जहाँ हम अपने वर्तमान को देख सकते हैं। आशा-निराशा, आकांक्षा-अपेक्षा, राग-विराग, हर्ष-विषाद सब उसमें समाये हुए हैं । राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था, उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा जीवन-यापन, सामाजिक विकृतियाँ आदि सभी मुद्दों को साहित्य अपनी परिधि में समेटता है। काव्य में युगबोध की संकल्पना काव्यहेतु व काव्यप्रयोजन को विस्तारित करती है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं – "मन को अनुरंजित करना उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाए तो कविता ही विलास की एक सामग्री हुई। ... काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना ।"

4.3.2.2. भूषण का युगबोध

रीतिकालीन कवियों में भूषण ऐसे कवि हैं जिन्होंने तत्युगीन मनोरंजक व शृंगारपरक काव्य-प्रवृत्तियों के मध्य वीररस की रचनाओं में अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त्त रूप दिया है । भूषण अपने काव्य-विषय के चयन में प्रायः ऊर्ध्वगामी चेतना का परिचय देते हैं। वीर रस की अभिव्यक्ति में उन्होंने तत्युगीन राष्ट्रीय, सांस्कृतिक व सामाजिक जीवन की अनुभूतियों को निचोड़कर काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है । 'शिवराजभूषण' में उन्होंने शिवाजी के जन्म से लेकर 'हिन्दू पद पादशाही' ('हिन्दू पद पादशाही' की स्थापना का लक्ष्य भारत पर मुस्लिमों का शासन समाप्त करने के लिए सभी हिन्दू राजाओं का एक हो जाना और सम्पूर्ण भारत में हिन्दू राज्य की स्थापना करना था) की स्थापना तक जितनी भी ऐतिहासिक घटनाएँ शिवाजी के जीवन से सम्बन्धित हैं, उनका ओजस्वी एवं रोचक शैली में निरूपण किया है। इन घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि भूषण ने अपने युगबोध का परिचय दिया है और तत्युगीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति का जीवन्त चित्रण किया है।

कवि भूषण ने शिवाजी को राम, कृष्ण, विष्णु एवं शिव का अवतार घोषित करते हुए औरंगज़ेब के अत्याचारों से दुखी जनता का उद्धारक एवं मुक्तिदाता बताया है। भूषण ने मुग़ल शासक अबुल मुज़फ़्फ़र मुहिउद्दीन मुहम्मद औरंगज़ेब आलमगीर के धार्मिक अत्याचारों को स्वयं बहुत निकट से देखा और सहा था। औरंगज़ेब के क्रूरतापूर्ण व्यवहार का उल्लेख करते हुए भूषण ने बताया है कि उस समय हिन्दुओं के देवस्थान व देवमूर्तियाँ न केवल ध्वस्त कर दी जाती थीं अपितु उनकी जगह मीनारें-मस्जिदें बना दी जाती थीं। हिन्दुओं के श्रद्धेय महापुरुषों और महात्माओं को सताया जाता था और वर्ण-व्यवस्था का नाश किया जा रहा था। कट्टर मुल्ला-मौलवी हिन्दुओं की चोटियाँ कटवा रहे थे, जनेउ उतरवा रहे थे, वेद-पुराणों की होली जला रहे थे। तत्कालीन परिस्थितियों में अजेय योद्धा और कुशल रणनीतिकार छत्रपति शिवाजी जैसे जननायक का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने मुग़लों के अत्याचारों पर अंकुश लगाकर आक्रान्ताओं का दमन किया। हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु सतत सन्नद्ध महाराज शिवाजी के ओजस्वी व्यक्तित्व का सजीव चित्रण करते हुए भूषण कहते हैं –

बेद राखे बिदित पुरान परसिद्ध राखे
राम-नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी रोटी राखि है सिपाहिन की
काँधे में जनेऊ राख्यो मालाराखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

मातृभूमि की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्र-गौरव के रक्षक छत्रपति शिवाजी एक कुशल योद्धा, दूरदर्शी एवं सतर्क रणनीतिकार तथा सहिष्णु देशभक्त थे। अपनी असाधारण वीरता, त्याग और बलिदान से भारतभूमि को धन्य करने वाले वीरों में शूरवीर शिवाजी का नाम अग्रगण्य है। भूषण उनकी चारित्रिक श्रेष्ठता, दानशीलता और गौरवगाथा का बखान करते हुए कहते हैं –

सक्र जिमि सैल पर अर्क तकफैल पर
बिधन की रैल पर लंबोदर लेखिए।
राम दसकंध पर भीम जरासंध पर
भूषन ज्यों सिंधु पर कुंभज बिसेखिए।
हर ज्यों अनंग पर गरुड़ भुजंग पर
कौरव के अंग पर पारथ ज्यों पेखिए।
बाज ज्यों बिहंग पर सिंह ज्यों मतंग पर
म्लेच्छ चतुरंग पर सिवराज देखिए॥

महाराज शिवाजी एक जनसेवी और हृदयसम्राट शासक थे। प्रजा में अपने प्रति विश्वास जाग्रत करना शिवाजी के जनहितकारी शासन की महती विशेषता थी। वे अपनी प्रजा के प्रिय नेता थे। शिवाजी अपने शासन की समूची बागडोर अपने हाथ में रखते थे किन्तु वे स्वेच्छाचारी नहीं थे प्रत्युत उन्होंने स्वयं को सदा नैतिकता और मर्यादाओं की सीमाओं में ही रखा। अपने शौर्य एवं धैर्य से उन्होंने अपने राज्याभिषेक से 20 वर्ष पूर्व ही अपने पिता द्वारा अर्जित जागीर को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्थापित कर दिया था। शिवाजी ने कई गढ़ और किले जीते थे। उन्होंने थलसेना और नौसेना का गठन भी किया था। यवनों तथा विदेशों से आए पश्चिमी व्यापारियों पर भी शिवाजी के पराक्रम की धाक जम चुकी थी। ऐसे शूरवीर शिवाजी की वीरता और प्रभुत्व का प्रभावी चित्रण करते हुए भूषण कहते हैं –

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर
दावा नागजूह पर सिंहसिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर
दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को।
भूषन अखंड नवखंड महिमंडल में
तम पर दावा रबिकिरनसमाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन तें उत्तर लौं
जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को॥

भँवरा बाग के सभी फूलों का रस चूसता है लेकिन चम्पा पुष्प के पास आने का साहस नहीं करता। तत्कालीन राज्यों एवं उसके राजाओं की तुलना पुष्पों से करते हुए भूषण शिवाजी की तुलना चम्पा पुष्प से करते हैं जिनसे औरंगज़ेब रूपी भँवरा दूर ही रहता है। इस सन्दर्भ में भूषण की काव्याभिव्यक्ति अवलोकनीय है –

कूरम कमल कमध्वज है कदम्ब फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी विराज है।
पांडरि पंवार, जुही सोहत चन्दावत,
बकुल बुन्देला अरू हाडा हंसराज है।
भूषन भनत मुचकुन्द बड़ गूजर है,
बघेल बसन्त सब कुसुम समाज है।
सबही कौ रस लैकें बैठि न सकत आय,
अलि अवरंगजेब चम्पा सिवराज के॥

काव्य-रचना में भूषण की अपनी विशिष्ट शैली है। वीर रस के वर्णन में वे अद्वितीय हैं। यमक अलंकार का अद्भुत प्रयोग करते हुए भूषण ने शिवाजी से भयभीत मुग़ल स्त्रियों की भयातुर स्थिति और भयभीत मनोदशा का जीवन्त चित्रण किया है –

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं
तीन बेर खातीं ते वै तीनबेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
बिजनडुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

इसी सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

अंदर तें निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार
बिन रथ पथ ते उघारे पायँ जाती हैं।
हवाहू न लागती ते हवा तें बिहाल भई
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं।
भूषन भनत सिवराज तेरी धाक सुनि
हार डारि चीर फारि मन झुझलाती हैं।
ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं॥

भूषण की प्रकीर्ण रचनाओं में उल्लिखित सूक्ष्म संकेतों का ऐतिहासिक तथ्यों से पूरा सामंजस्य है। उन्होंने शिवाजी का चरित यथाक्रम नहीं लिखा है। विभिन्न कवित्त और सवैयों में शिवाजी के जीवन के विविध प्रसंगों की झाँकी मिल जाती है। कविता न तो इतिहास है और न ही होना चाहिए। काव्य में जो तथ्य व्यंजना से द्योतित होता है, इतिहास में वह स्पष्ट रूप से कथित रहता है। भूषण की कविताओं में सबसे रोचक बात यह है कि उन्होंने आलंकारिक सजावट के भीतर इतिहास के तथ्य ज्यों के त्यों रखे हैं। उदाहरण के लिए जब शिवाजी औरंगज़ेब के दरबार में गए तब बादशाह ने उनका अपमान करते हुए उन्हें छह हजारी मनसबदारों के पास खड़ा किया। स्वाभिमानी शिवाजी अपनी इस उपेक्षा से अत्यन्त क्रोधित हो उठे। बादशाह उनके सलाम की अपेक्षा कर रहा था किन्तु क्रोधोन्मत्त शिवाजी ने नेत्रों में रक्त उतारकर औरंगज़ेब की ओर देखा। उनके क्रोध से लाल नेत्र देखकर औरंगज़ेब का मुख भय और चिन्ता से काला पड़ गया। शिवाजी के रौद्र रूप को देखकर औरंगज़ेब के सिपाहियों के मुख पीले पड़ गए। इस घटना का उल्लेख भूषण की निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए –

सबन के उपर ही ठाड़ो रहिबे के जोग,
ताहि खड़ो कियो छह हजारिन के नियरे।
जानि गैरि मिसिल गुसीले गुसा धारि मनु,
कीन्हों न सलाम न बचन बोले सियरे।
भूषण भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।

तपक तें लाल मुख सिवा को निरखि भए,
स्याह मुख नौरंग सिपाहमुख पियरे॥

भूषण राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना-सम्पन्न रचनाकार हैं। उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता के तत्त्व गहरे विद्यमान हैं। उन्होंने चाटुकारितावश किसी की प्रशंसा नहीं की है। वेकेवल उन्हीं राजाओं की प्रशंसा में काव्य-रचना करते हैं जो जनकल्याण में लीन रहे और जिन्होंने हिन्दुओं के राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा की। अतः कहना सही होगा कि भूषण भोग-विलासरत आश्रयदाताओं के चाटुकार नहीं हैं बल्कि धर्म संस्थापक जननायकों के प्रशंसक हैं। अपनी वीरगाथात्मक रचनाओं में भूषण ने शूरवीर शिवाजी और महान् योद्धा छत्रसाल की वीरता का चित्रांकन किया है। इन जननायकों की महत्ता इतिहासप्रसिद्ध है। अपने त्याग, बलिदान, शौर्य और राष्ट्रीय भावना के कारण ये शासक जनसेवी और हृदयसम्राट शासक के रूप में प्रख्यात हैं। भूषण की रचनाएँ समकालीन दौर में भी भारतीय जनमानस को तनाव व संत्रास से मुक्ति देती हैं तथा राष्ट्रीय, सामाजिक व सांस्कृतिक सन्दर्भों को विस्तार प्रदान करती हैं। उनकी कृतियों में लोकजीवन, लोकभाव, लोकविचार, लोकसंस्कृति तथा मानवीय मूल्यों की व्याप्ति है।

4.3.2.3. भूषण के काव्य में युगबोध की सीमाएँ

भूषण की रचनाओं में युग बोध की सीमाओं के कई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। इन्हें केवल रीतिकालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों के सहारे ही खोजा जा सकता है। हिन्दी साहित्य की परम्परा एवं विकास में सत्रहवीं शताब्दीं के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक के काल को रीतिकाल की संज्ञा दी गई है। इससे पूर्व तक साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति भक्ति थी लेकिन अब अलंकार, रस और नायिकाभेद कविता को प्रेरणा देने लगे। सभी रचनाएँ लगभग एक ही शैली में लिखी जाने लगीं। काव्यांगों का लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करना ही कविता का लक्ष्य हो गया। रीतिकाल का कवि जनता का कवि न होकर 'राजदरबार' का कवि होता था इसलिए उसके काव्यों में अलंकरण की प्रधानता, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति व शृंगारिकता का सहज पुट होना स्वाभाविक ही था। भूषण भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' में अलंकार के लक्षणों का निरूपण हुआ है। हालाँकि, उन अलंकारों के उदाहरण के रूप में शिवाजी के शौर्य एवं पराक्रम का ही जीवन्त वर्णन किया गया है। भूषण का अलंकार-विवेचन दोषरहित नहीं माना जा सकता है फिर भी उनके अलंकार विषयक विशद् ज्ञान को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अलंकारों में उन्हें उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा और रूपक विशेष प्रिय हैं। यमक के चमत्कार से उत्पन्न एक छन्द देखिए –

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंद मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं
तीन बेर खातीं ते वै तीनबेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग

बिजनडुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

सम्पूर्ण रीतिकाल में प्रकृति-चित्रण प्रायः उपेक्षित रहा है। उसे या तो मानव व्यवहारों की पृष्ठभूमि बनना पड़ा है अथवा मानव सौन्दर्य-चित्रण के निहितार्थ उसका अलंकार रूप में वर्णन हुआ है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता एवं उपयोगिता की ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया है। भूषण भी इस सामान्य नियम के अवपाद नहीं हैं। फिर भी अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति भूषण की रचनाओं में प्रकृति-चित्रण पूरी तरह से गायब नहीं है। वीरगाथात्मक रचनाओं में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के अनुक्रम में भूषण प्रकृति का अलौकिक चित्रण करते हैं –

मेरु सम छोटो पनु सागर सो छोटो मनु
धनद को धनु ऐसो छोट जग जाहि को।
सूरज सो सीरो तेज चाँदनी सी कारी कीर्ति
अंमृत सो कटु दरसन लागै ताहि को।
कुलिस सो कोमल कृपान अरि भानिबे कौं
भूषन भनत भारी भूप भ्वैहसिंलाहिको।
भुव सो चरन चल सदा रनमंडल में
धुव सो चपल धुक्बल सिवसाहि को॥

भूषण की कविताओं में वीर रस का प्रभावी चित्रण मिलता है। किन्तु साथ ही यहाँ ध्यातव्य है कि कई बार उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रस्तुति पाठकों को अभिप्रेरित करने के बजाय उनका मनोरंजन अधिक करती है। इस सन्दर्भ में 'शिवाबावनी' में वर्णित महाराज शिवाजी की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन द्रष्टव्य है जहाँ उल्लेख है कि जब महाराज शिवाजी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाकर चलते हैं तो संसार मेंउसका क्या प्रभाव होता है –

साजि चतुरंगसैन अंग मै उमंग धारि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद-बिहद नगारन के
नदीनद मद गैबरन के रलत है।
ऐलफैल खैलभैल खलक में गैलगैल
गजन की ठैलपैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धुरिधारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

इसी तरह का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

को दाता को रन चढ़ौ को जगपालनहार।
कवि भूषण उत्तर दियौ सिव नृप हरिअवतार।

4.3.3. भूषण की राष्ट्रीय भावना

रीतिकालीन साहित्य प्रायः एक ढर्रे पर चला। अन्य युगीन साहित्य की तरह समकालीन समस्याओं की बुनावट और उनका निराकरण वहाँ विवेचित नहीं है। अधिकांश रीतिकालीन रचनाशीलता सम्भवतः इस बोध से उदासीन हैं कि प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं और उनका अंकन साहित्यकार का कर्त्तव्य है। ऐसे में भूषण की रचनाएँ अपवादस्वरूप प्रकट होती हैं जो तत्कालीन राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति संवेदनशील इशारा करती हैं। उनकी रचनाएँ देश-काल के एक संगठित विधान में तत्युगीन भारत के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक यथार्थ को धारण करती हैं। भूषण की रचनाएँ मध्यकालीन राष्ट्रीय चेतना से तो सम्पन्न हैं ही साथ ही उनमें आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के सूत्र भी समाहित देखे जा सकते हैं।

4.3.3.1. राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा

सम्पूर्ण राष्ट्र को एक रूप देखने से ही राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीयता का विकास होता है। जातीय जीवन के निर्माण में तथा लोक अभिरुचि को परिष्कृत करने में राष्ट्रीय चेतना का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "कविता के कवितापन का मौलिक आधार मनुष्य के भाव सन्दर्भों की पहचान और उसकी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति है। जब एक राष्ट्र की शासन व्यवस्था सुदृढ़ होती है, समाज में समृद्धि व शान्ति होती है तो अन्य कलाओं के साथ-साथ वहाँ साहित्य का भी उत्कर्ष होता है और कविता में भी राष्ट्रीय चेतना की अनुभूति व अभिव्यक्ति का मूल आधार यही होता है।" हिन्दी साहित्य की परम्परा में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति वस्तुतः मानवतावादी है तथा भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों की श्रेष्ठता के निमित्त है।

4.3.3.2. भूषण के काव्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति

रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि भक्तिकालीन काव्य-परम्परा की आदर्शोन्मुखता, गम्भीरता, व्यापकता और मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठता खो चुकी थी। राजनैतिक पराभव के साथ ही धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक व कला के क्षेत्र में नैतिकता व मानवीय मूल्यों का ह्रास हो चुका था। ऐसे में विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कवि भूषण के काव्य में लोकसामान्य का स्वर उपस्थित होना उनके लेखकीय दायित्वबोध का प्रतीक है। उनकी रचनाओं में अखण्ड राष्ट्र गुंजरित हो रहा है जिसकी अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण जनजीवन समाहित है। भूषण की वीर भावना में भारत की गौरवमयी परम्परा की ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही है। यही कारण है कि कवि भूषण को पूरे देश का प्रतिनिधि कवि माना जाता है। भूषण ने जिन दो राष्ट्रनायकों को अपने काव्य का मूल आधार बनाया है, वे दोनों नायक यानी छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल, उस समय एक त्रस्त व भयभीत राष्ट्र के पुनर्निर्माण में प्राणपण से निरत थे। ये दोनों जननायक राष्ट्र की जर्जर शक्ति को संगठित करके एक प्रबल राष्ट्र का निर्माण करने का महनीय कार्य कर रहे थे। सम्पूर्ण भारतीय जनता की श्रद्धा एवं भक्ति के आधार इन दोनों वीर योद्धाओं के शौर्य का महिमा-गान कर जनसामान्य में राष्ट्रीय प्रेम की भावना जाग्रत कर भूषण ने राष्ट्रीय कवि के दायित्वों का अत्यन्त ही कुशलतापूर्वक निर्वहन किया है। यदि तत्कालीन विकट समय में शिवाजी सदृश क्रान्तिचेता जननायक

का प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता तो भारत और भारतीयों की क्या दुर्दशा होती, इस सच्चाई को उद्घाटित करते हुए भूषण कहते हैं –

पीर पैगम्बर दिगम्बर दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीति भई,
शिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी।

भूषण की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना व जातीय भावना की अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती काव्य परम्पराओं व प्रवृत्तियों का ही परिविस्तार है। यहाँ अन्तर केवल इतना है कि पूर्ववर्ती साहित्य में लोकजीवन के कारण भावावेग और भावविस्तार अधिक है जबकि ये रचनाएँ सीमित परिवेश की उपज मानी जा सकती हैं तथापि भूषण के काव्य में जीवन्तता और अधिक मुखरित हुई है।

राष्ट्रीय प्रेम से ओत-प्रोत भूषण की कविताओं में शिवाजी को एक ऐसे महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है जिन्होंने देश के हित, रक्षा व सम्मान के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। शिवाजी ने मुग़लों से आजीवन संघर्ष किया और उनके अत्याचारों का विरोध करते हुए हिन्दुओं के धर्म तथा हिन्दुत्व की रक्षा की। भूषण अनावश्यक चाटुकारिता से अपने को पृथक् रखते हैं इसलिए अन्य राजाओं की प्रशंसा नहीं करते, केवल हिन्दुत्व के रक्षक छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं –

और राव राजा एक मन में न ल्याउं अब,
साह कौं सराहौं कै सराहौं छत्रसाल की।

राष्ट्रीय भावनाओं के पुरोधा कवि भूषण की रचनाओं में धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति भी राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप हुई है। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दू धर्म और संस्कृति पर गहरा संकट व्याप्त है। औरंगज़ेब भारतीय सनातन धर्म और संस्कृति को नष्ट करने पर तुला हुआ है। इसका नाश कर उसके द्वारा मुस्लिम सभ्यता तथा संस्कृति का बलपूर्वक प्रचास्प्रसार किया जा रहा है। यह देखकर उनका अन्तर्मन व्यग्र हो उठा और वे धर्मविरोधी मुग़ल साम्राज्य के प्रति मुखर हो उठे।

उल्लेखनीय है कि भूषण का विरोध मुसलमानों के प्रति नहीं बल्कि उस अन्याय एवं अत्याचार के प्रति था जो तत्कालीन मुग़ल शासक कर रहे थे। मुग़ल शासक बलप्रयोग करके हिन्दुओं की पहचान मिटा रहे थे, उन पर अत्याचार कर रहे थे। यह नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पतन का चरम था। ऐसे में भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल जैसे लोकनायकों के शौर्यगान में जो रचनाएँ लिखीं, उन्हें प्रशस्तिगान कहना अनुचित होगा। वास्तव में तो वह जनभावना की अभिव्यक्ति है –

बैठती दुक्कानें लैंक रानी रजवारन की,
तहाँ आई बादशाह राह देखै सबकी।

बेटिन को यार और यार है लुगाइन को,
राइन के मार दाबादार गए दबकी।
ऐसी कीन्ही बात तोउ कोउबै न कीन्हीं घात,
भई है नदानी बंस छत्तीस में कब की।
दच्छिन के नाथ ऐसी देखि धरें मूछों हाथ,
शिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी।

भूषण की राष्ट्रीयता के केन्द्र में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक अव्यवस्था, अराजकता और पतनोन्मुखता के उन्मूलन का भाव निहित है। सच्ची राष्ट्रीयता के निमित्त युद्ध व आक्रमण से अभिप्रेरित कविता में जिस प्रकार के भाव का संगठन अपेक्षित होता है, भूषण की कविताओं में उसी प्रकार का भाव सर्वत्र विद्यमान है। अपने काव्य में अत्याचार के विरुद्ध आक्रोश का भाव लिए सन्नद्ध खड़ा यह जनकवि अपने जननायकों के माध्यम से अपनी राष्ट्रीय भावना को प्रकट करता है।

4.3.3.3. भूषण के काव्य का राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रदाय

कविवर भूषण का काव्य राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण का सन्देश है। उनकी रचनाएँ प्रगतिशील चेतना तथा राष्ट्रीयता के स्वर से सम्पृक्त हैं। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने उन्हें उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जागरूक कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध भूषण जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे। मुग़ल शासकों की विलासिता एवं हिन्दुओं के प्रति उनकी क्रूरता को देखकर उनका आक्रोशित होना स्वाभाविक है। उनके काव्य का मूल स्वर क्रान्तिकारी एवं विद्रोही भावनाओं से युक्त है। शिवाजी और छत्रसाल का गुणगान करते हुए कवि भूषण ने जिस राष्ट्रीयता को विकसित किया वह तत्युगीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक दृष्टि के अनुरूप है। विशेष रूप से 'शिवराजभूषण' में उन्होंने जिस परिवेश का वर्णन किया है, वस्तुतः वह तत्कालीन राष्ट्रीय व सांस्कृतिक युगबोध ही है। उनकी रचनाओं में प्रसंगानुकूल कहीं-कहीं मिथकीय एवं मनोवैज्ञानिक धारणाओं का संयोग हुआ है। भूषण की रचनाओं में शिवाजी और छत्रसाल जैसे जननायकों का सन्दर्भ ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक सन्दर्भों में प्रासंगिक है। ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी शिवाजी और छत्रसाल विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों एवं दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं इसलिए भूषण की कविताएँ प्रशस्ति मात्र न होकर भारत की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धाराओं को अभिव्यक्त करने वाली कृतियों के रूप में बहुप्रशंसित एवं बहुचर्चित रही हैं।

4.3.4. भूषण : : जातीयता / राष्ट्रीयता

कवि या कलाकार अपनी संवेदना और अनुभूति से अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है और उसे आदर्श रूप प्रदान करता है। अरस्तू ने कहा है कि कवि वस्तुओं को यथास्थिति के रूप में वर्णित नहीं करता अपितु उनके युक्तियुक्तयानी तर्कपूर्ण संभाव्य रूप में वर्णित करता है। हिन्दी साहित्यकारों की समृद्ध एवं विकसित परम्परा रही है। काव्य-रूप, शैली और भाषा के स्वरूप बदल जाते हैं परन्तु महान् साहित्यकारों के काव्य का कथ्य-वर्ण्य जिन तथ्यों, समस्याओं एवं सत्य का दर्शन कराता है, उसकी उपयोगिता कभी समाप्त नहीं होती क्योंकि वे सत्य मानव

जीवन, धर्म, सभ्यता व संस्कृति के मूलभूत सत्य होते हैं। भूषण की रचनाओं का अनुशीलन इसी सन्दर्भ में न्यायोचित होगा।

4.3.4.1. भूषण के काव्य की विषयवस्तु

भूषण रीतिकाल के मुक्तककार कवि हैं। उनकी कविताओं में तत्युगीन परम्पराओं के अनुरूप शृंगार नहीं अपितु वीर रस की प्रमुखता है। महाराज शिवाजी और वीर महाराज छत्रसाल की प्रशंसा में उन्होंने वीर रस पूर्ण काव्य की रचना की है। शिवाजी और छत्रसाल जैसे जननायकों की वीरता का वर्णन करते हुए उन्होंने राष्ट्रीय भावना को पुष्ट करने का प्रयास किया है। राष्ट्रप्रेम और ओज की जो धारा उनकी रचनाओं में प्रवाहित हैं वह रीतिकाल में अन्यत्र अनुपस्थित है। वीररस की प्रधानता, शिवाजी और छत्रसाल जैसे लोकनायकों की महत्ता का प्रतिपादन, राष्ट्रीय व सांस्कृतिक जागरण, धार्मिक भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति के साथ-साथ तत्युगीन युद्धों का सजीव चित्रण भूषण की रचनात्मक अभिव्यक्ति की विषयवस्तु के केन्द्र में हैं।

4.3.4.2. भूषण : जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय कवि

काव्य-रचना का आधार समाज, देश, सभ्यता और संस्कृति होती है। कवि या रचनाकार लेखकीय सामग्री का ऐसा नियोजन करता है जिससे देश व समाज को गति मिलती है। वह युगीन सत्य को तो अभिव्यक्त करता ही है, साथ ही, भविष्यद्रष्टा होकर भावी पथ को भी आलोकित करता है। समाज निरपेक्ष व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता। भूषण अपने परिवेश के प्रति सजग कवि हैं। उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में होता है जब मुगलों का आतंक सर्वत्र व्याप्त था। सम्पूर्ण हिन्दू समाज व संस्कृति एक प्रकार की जड़ता और मूल्य मूढ़ता की स्थिति में पहुँच चुकी थी। धर्म के नाम पर इस्लाम को जबरन थोपा जा रहा था। चारों ओर छल और धूर्तता का साम्राज्य था। सामाजिक वातावरण दमघोटू हो चुका था। हिन्दू जीवन-दर्शन और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का जीवन्त पक्ष प्रायः लुप्त हो चुका था। बर्बर भावनाओं से परिपूर्ण और लूटपाट के लोभ से लालायित विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण बढ़ते ही जा रहे थे। भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर भी संकट के बादल मंडरा रहे थे। तत्युगीन विकट स्थितियों का सामना करने के लिए दृढ़निश्चयी, समर्पित और युद्धप्रिय युवाओं की आवश्यकता थी और उन्हें प्रोत्साहित करने वाले ऐसे कवियों के अभिप्रेरणा की आवश्यकता थी जो जिनकी अभिव्यक्ति में देशभक्ति और आवेश की सच्ची शक्ति हो तथा जिनकी भुजाओं में रण-कौशल का बल हो। जब अत्याचार के दमन, दुष्टों का विनाश और शोषितों के रक्षण की ओर वीरत्व उन्मुख होता है तभी उसका वास्तविक रूप निखरता है। वीरता का परार्थघटक होना समाज, देश और सभ्यता व संस्कृति के लिए उपयोगी है। इसी कारण वीरत्व का लक्ष्य सत्य का संघटन और असत्य का विघटन बहुत प्राचीनकाल से स्वीकार किया गया है। इसी से काव्य में वीरत्व के आलम्बन वे ही माने गए हैं जो लोककल्याण या लोकसंरक्षण में प्रवृत्त रहते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल को लोकप्रतिनिधि कहना तर्कसंगत है। भूषण ने शिवराज और छत्रसाल जैसे अपने जननायकों की वीरता व लोकप्रियता का आलम्बन प्राप्त कर निर्मम मुगल राजव्यवस्था पर कठोर प्रहार करते हुए

भारत की राष्ट्रीय सभ्यता, धर्म व संस्कृति के अनुरूप तथा हिन्दू जीवन-मूल्यों के रक्षार्थ वीरगाथात्मक काव्यों की रचना की क्योंकि उनका मानना है कि अनैतिक व्यक्ति में राष्ट्रीय शक्ति वहन करने की क्षमता नहीं होती।

भूषण के काव्य का मूल्यांकन करते हुए प्रायः यह सवाल उठाया जाता है कि भूषण जातीय कवि हैं या राष्ट्रीय कवि ! भूषण काव्य के कतिपय आलोचकों ने भूषण को जातीय (जातिगत भेदभाव रखने वाला) कवि कहा है। इसका मूल कारण बताया जाता है कि भूषण ने हिन्दूपति महाराज शिवाजी और वीर छत्रसाल की प्रशंसा की है और कट्टर मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब की भर्त्सना की है। वस्तुतः भूषण के उद्‌गार मुस्लिम धर्म के विरोध में नहीं है प्रत्युत मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब और उसके सूबेदारों के अनाचारों-अतिचारों के विरोध में हैं। औरंगज़ेब के प्रति भी उनका जातीय वैमनस्य नहीं है। इनकी खीझ उसके दुष्कृत्यों के कारण है, शासक के रूप में उसकी अनीतियों के विरुद्ध है। यदि इनकी दृष्टि जातिद्वेष से दूषित होती तो ये औरंगज़ेब के पूर्ववर्ती उसके पूर्वजों की भी निन्दा करते जबकि सच तो यह है कि भूषण ने औरंगज़ेब के पूर्वजों की प्रशंसा की है। उदाहरण देखिए –

दौलत दिली की पाए कहाए अलमगीर बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।

* * *

बब्बर अकब्बर हिमायूँ साह सासन सौं, नेह तें मुधारी हेम हीरन तें सगरीं।

* * *

बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद्द बाँधि गए, हिंद औ तुरुक की कुरान्‌बेद ढबकी।

स्पष्ट है कि भूषण मुस्लिम धर्म के विरोधी नहीं हैं। हाँ ! वे निजधर्म पर, अपने हिन्दुत्व पर अवश्य ही अभिमान करते हैं और इस दृष्टि से भूषण को जातीय कवि कहा जा सकता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि भूषण जातीयता की परिधि से ही बहुत दूर निकल आए हैं। वे राष्ट्रीय भावों के गायक हैं। उनकी वाणी शोषित-पीड़ित प्रजा के प्रति एक आश्वसन है। ऐसे में इन्हें जातीय कवि कहने की अपेक्षा राष्ट्रीय कवि कहना अधिक उचित है। उनकी जातीय चेतना का सन्दर्भ राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक है। वे स्वाधीन चेतना के प्राणी हैं। राष्ट्रीय धर्म व मानव जीवन-मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति उनकी काव्यात्मक चेतना का मूल स्वर माना जा सकता है। भूषण ने राष्ट्रीय नायक छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल के शौर्यगान के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना संचरित करने का प्रयास किया। इनकी रचनाओं में स्वदेशानुराग, संस्कृति अनुराग, वेदशास्त्र अनुराग, राष्ट्रीय भावना से सम्बन्धित महापुरुषों के प्रति अनुराग, उत्साह, स्फूर्ति व उमंग के भाव विद्यमान हैं।

4.3.5. पाठ-सार

मध्ययुगीन हिन्दी कवियों में भूषण का विशिष्ट स्थान है। ये वीर रस के अद्वितीय कवि थे। रीतिकालीन कवियों में वे अकेले कवि हैं जिन्होंने काव्य में हास-विलास की अपेक्षा राष्ट्रीय-भावना को मुखरित किया। भूषण

ने अपनी काव्य-रचनाओं द्वारा तत्कालीन असहाय हिन्दू समाज को वीरता का पाठ पढ़ाया और उसके समक्ष रक्षा के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। उनका काव्य राष्ट्र की अमर धरोहर है। भूषण अपनी वर्ग और वर्णगत सोच एवं संस्कारों से बँधे हुए प्रतीत होते हैं। अपनी राष्ट्रवादी चेतना के तहत ही वे मूल्यों एवं परम्पराओं को भी परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। युगीन सीमाओं के बावजूद भी वे रीतिकालीन हिन्दी काव्य-परम्परा में सर्वाधिक मान्य हैं। एक राष्ट्रीय कवि के रूप में उनका महत्त्व निर्विवादित है।

4.3.6. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'शिवराजभूषण' में कितने पद्य हैं?

(क) 380
(ख) 385
(ग) 390
(घ) 395

2. 'शिवाबावनी' के रचयिता हैं –

(क) भूषण
(ख) मतिराम
(ग) बिहारी
(घ) विद्यापति

3. 'छत्रसालदशक' में किस राजा के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन हुआ है?

(क) शिवाजी
(ख) छत्रसाल
(ग) शिवाजी और छत्रसाल दोनों का
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. 'शिवराजभूषण' में कुल कितने अलंकारों का विवेचन मिलता है?

(क) 105
(ख) 106
(ग) 107
(घ) 108

5. कौन-सी रचना भूषण-कृत नहीं है ?

(क) शिवराजभूषण

(ख) शिवाबावनी

(ग) छत्रसालदशक

(घ) भावविलास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भूषण की कविता रीतिकाल के अन्य कवियों से किन मायनों में भिन्न है ?
2. भूषण के युगबोध पर प्रकाश डालिए ।
3. भूषण की कविताओं में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है ?
4. भूषण के सामाजिक-सांस्कृतिक अवदान की चर्चा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भूषण के काव्य की अन्तर्वस्तु का विवेचन कीजिए ।
2. "भूषण की रचनाएँ तत्युगीन राजनैतिक-सांस्कृतिक परिवेश की उपज हैं ।" युक्तियुक्त विचार कीजिए ।

4.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, भूषण ग्रन्थावली (सम्पादन), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
2. बोरा, राजमल, भूषण, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
3. तिवारी, भगवानदास, भूषण : साहित्यिक एवं ऐतिहासिक अनुशीलन
4. तिवारी, भगवानदास, रीतिकालीन हिन्दी वीर काव्य
5. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
6. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट लौंगमैन, हैदराबाद

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 4 : घनानन्द की प्रेमानुभूति, विरहानुभूति, भगवद्भक्ति

इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देश्य कथन
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. घनानन्द का समय और उनकी रचनाएँ
4.4.2.1. घनानन्द का समय
4.4.2.2. घनानन्द की रचनाएँ
4.4.3. रीतिकाल में घनानन्द का महत्त्व और उनका काव्य
4.4.4. घनानन्द का प्रेमानुभूति
4.4.5. घनानन्द का विरहानुभूति
4.4.6. घनानन्द की भगवद्भक्ति
4.4.7. पाठ-सार
4.4.8. बोध प्रश्न
4.4.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

4.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि घनानन्द की प्रेमानुभूति, विरहानुभूति, भगवद्भक्ति पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. घनानन्द के समय और परिस्थिति से परिचित हो सकेंगे।
ii. घनानन्द के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के बारे में जान सकेंगे।
iii. रीतिकालीन कवियों में घनानन्द के महत्त्व को समझ सकेंगे।
iv. घनानन्द के काव्य और उनकी विचारधारा से परिचित हो सकेंगे।
v. घनानन्द की प्रेमानुभूति, विरहानुभूति और भगवद्भक्ति से अवगत हो सकेंगे।
vi. जान सकेंगे कि घनानन्द का लौकिक प्रेम किस तरह आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

4.4.1. प्रस्तावना

साहित्य के शीर्षस्थ इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया है – 'पूर्व मध्यकाल' और 'उत्तर मध्यकाल' । 'पूर्व मध्यकाल' को उन्होंने 'भक्तिकाल' के नाम से सुशोभित किया है तथा 'उत्तर मध्यकाल' को 'रीतिकाल' के नाम से नामांकित किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' में 'रीतिकाल' को 'शृंगारकाल' के नाम से नामांकित

करते हुए इसे तीन भागों में विभाजित कर दिया है – (i) रीतिबद्ध, (ii) रीतिसिद्ध और (iii) रीतिमुक्त। 'रीतिकाल' को जार्ज ग्रियर्सन ने 'रीतिकाव्य', मिश्रबन्धु ने 'अलंकृत काल' और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'कलाकाल' के नाम से अभिहित किया है।

रीतिकाल में रीतिमुक्त काव्यधारा, जिसे स्वच्छन्द काव्यधारा भी कहा जाता है, में घनानन्द एक ऐसे विलक्षण कवि हुए हैं जिन्होंने अपने प्रेमसिक्त स्वच्छन्द भाव से कविता का माध्यम बनाकर प्रेम को एक नयी आदर्श ऊँचाई तक पहुँचाया है। जहाँ रीतिकाल के अन्य कवि शारीरिक शृंगार को ही आधार बना रहे थे और शारीरिक प्रेम को ही महत्त्व दे रहे थे वहीं घनानन्द प्रेम की आन्तरिक अनुभूति अर्थात् हृदय की गहराई में उतरकर कविता लिख रहे थे। वे मन के विभिन्न कोणों से प्रेम की सार्थकता के लिए किराये का आँसू न बहाकर उसे स्वच्छन्द और उन्मुक्त आकाश की गहराई में पहुँचा रहे थे।

4.4.2. घनानन्द का समय और उनकी रचनाएँ

4.4.2.1. घनानन्द का समय

स्वच्छन्द रूप से कविता करने वाले प्रेम के सच्चे पथिक घनानन्द के नाम को लेकर ही विवाद रहा रहा है। इसमें आनन्दघन, घनानन्द और आनन्दकवि इन तीन नामों को लेकर बड़ा विवाद था किन्तु खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इनका वास्तविक नाम घनानन्द ही था। रीतिकाल के प्रमुख कवि घनानन्द का जन्म संवत् 1746 के आसपास बुलन्दशहर के किसी कायस्थ परिवार में हुआ। ये दिल्ली में मुहम्मद शाह रंगीला के दरबार में मीर मुंशी के पद पर आसीन थे और उसके ख़ास कलम थे। अन्य दरबारियों के कुचक्र के कारण उन्हें देश-निकाला दे दिया गया था। इनकी मृत्यु संवत् 1813 में बतायी जाती है। अहमद शाह अब्दाली के वृन्दावन पर आक्रमण में ये मारे गए।

घनानन्द के देश-निष्कासन को लेकर जनमानस में एक कहानी बताई जाती है। कहा जाता है कि ये बादशाह के बहुत खासम-खास थे। इस वजह से अन्य दरबारी इनसे ईर्ष्या करते थे। एक दिन दरबार में कर्मचारियों ने बादशाह से कहा कि घनानन्द गाते बहुत अच्छा हैं। यह सुनकर बादशाह ने घनानन्द से गाने को कहा परन्तु घनानन्द ने नहीं गाया। इस पर कर्मचारियों ने कहा कि ये ऐसे नहीं गाएँगे जब सुजान कहेगी तब ये गाएँगे। सुजान बादशाह के दरबार की नर्तकी थी जिस पर घनानन्द आसक्त थे। सुजान बुलाई गई। इस पर घनानन्द ने सुजान की तरफ मुँह करके तथा राजा की तरफ पीठ करके गान सुनाया । पूरी सभा 'वाह-वाह' से गूँज उठी लेकिन जब बादशाह ने गीत सुनने के बाद होश संभाला तब इनकी बेअदबी पर बड़ा नाखुश हुआ। बादशाह ने तुरन्त घनानन्द को देश-निकाले का फरमान जारी कर दिया। घनानन्द ने दरबार से चलते समय अपनी प्रेमिका सुजान को भी साथ चलने को कहा परन्तु सुजान ने चलने से मना कर दिया। इससे घनानन्द बड़े आहत हुए और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे राजदरबार को छोड़कर वृन्दावन चले आये। वृन्दावन आकर इन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर

ली और जीवनपर्यन्त यहीं रहे। उन्होंने अपनी प्रेमिका सुजान का नाम अपने से दूर नहीं किया। वृन्दावन में सुजान के प्रेम की अनुभूति भगवद्भक्ति में परिवर्तित हो गयी क्योंकि सुजान नाम राधा और कृष्ण को भी सम्बोधित है।

घनानन्द की मृत्यु के बारे में कहा जाता है कि ये नादिर शाह के आक्रमण में मारे गए लेकिन यह बात अब झूठी सिद्ध हो चुकी है। विभिन्न खोज-अनुसन्धानों से यह सिद्ध हुआ है कि ये अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण में मारे गए थे। कहा जाता है जब अहमदशाह अब्दाली ने वृन्दावन पर आक्रमण किया और उसके सैनिकों ने लूट-पाट मचाई तब वहाँ के कुछ लोगों ने प्रवाद फैलाया कि यहाँ समीप ही मुहम्मद शाह का मीर मुंशी रहता है, उसके पास धन मिल सकता है। इस पर अहमद शाह के सैनिकों ने घनानन्द को जा घेरा और उनसे धन की माँग की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है – "सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और 'ज़र-ज़र-ज़र' अर्थात् 'धन-धन-धन' लाओ, चिल्लाने लगे। घनानन्द ने शब्द को उलटकर 'रज-रज-रज' कह कर तीन मुट्ठी वृन्दावन की धूल उन पर फ़ेंक दी। उनके पास अतिरिक्त उसके और था ही क्या ? सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला।" धरती पर निढाल पड़े घनानन्द तड़पने लगे। कटे हाथ से जो रक्त गिर रहा था उससे इन्होंने यह अन्तिम कवित्त लिखा और पद लिख कर उन्होंने प्राण त्याग दिए।

बहुत दिनन को अवधी आस-पास परे,
खरे अरबरन भरे हैं उठि जान को।
कहि-कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि-गहि राखति ही दै-दै सनमान को॥
झूठी बतियानि को पत्यानि तें उदास ह्वै के,
अब ना घिरत घन आनन्द निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेशो लै सुजान को॥

4.4.2.2. घनानन्द की रचनाएँ

घनानन्द की रचनाओं में 'सुजान सागर', 'विरह लीला', 'कोकसागर', 'रसकेलिवल्ली' और 'कृपाकंद' प्रमुख हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा की गई खोज के आधार पर विश्वनाथ प्रसाद ने घनानन्द-कृत निम्नलिखित अतिरिक्त ग्रन्थ भी बताए हैं – 'घनानन्द कवित्त', 'आनन्द घन के कवित्त', 'सुजान हित', 'सुजान विनोद', 'वियोग बेली', 'प्रीति पावस', 'इश्कलता' आदि। घनानन्द के प्रशस्तिकार ब्रजनाथ द्वारा संगृहीत कुछ पद 'घनानन्द कवित्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा ये कवित्त 'सुजान सागर' के नाम से प्रकाशित किये गए हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित यह ग्रन्थ खण्डित है। इसकी पूरी प्रति वहीं के आर्य भाषा पुस्तकालय के 'रत्नाकर संग्रह' में सुरक्षित है। घनानन्द की रचनाओं में 'सुजान शतक' की चर्चा सर्वाधिक की जाती है। इसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी से सन् 1870 में प्रकाशित किया था। इसमें 119 कवित्त सवैये के पद उन्होंने संकलित किये हैं। 'इश्कलता' में प्रेम के उदात्त स्वरूप का वर्णन है। इस प्रकार घनानन्द द्वारा रचित कुल 41 ग्रन्थ मिलते हैं।

4.4.3. रीतिकाल में घनानन्द का महत्त्व और उनका काव्य

घनानन्द रीतिकाल की रीतिमुक्त धारा अर्थात् स्वच्छन्द काव्यधारा के साक्षात् रसमूर्ति अवतार माने जाते हैं । उस काल के अधिकांश कवि राजाओं के दरबार की शोभा बढ़ाते थे और उनकी चाटुकारिता करते हुए विलासी तथा भोगपरक जीवन की कविताएँ लिखा करते थे । बिहारी जैसे रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि भी नायिका के अंग-प्रत्यंगों तथा उनके भावों-अनुभावों का चित्रण कर रहे थे । वहीं घनानन्द व्यक्ति के हृदयतल की गहराई में उतरकर प्रेम के सच्चे रूप को कविता के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं । घनानन्द के काव्य का उत्कर्ष प्रतिपादित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – "इनकी-सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ । विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है । इन्होंने अधिकतर विप्रलम्भ शृंगार ही लिखा है । ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम के पीर' ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ । प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ ।" अपने मत को पुष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने घनानन्द के प्रशस्तिकार ब्रजनाथ द्वारा रचित यह पद उद्धृत किया है –

नेही महा, ब्रजभाषा-प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै ।
जोग-वियोग की रीति में कोबिद, भावना भेद-स्वरूप को जानै ।
चाह के रंग मैं भीज्यो हियो, बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा-प्रबीन, सुछंद सदा रहै सो घन जी के कवित्त बखानै ॥

इनकी रचनाओं के दो रूप दिखाई पड़ते हैं – (i) प्रेम का रूप तथा (ii) भक्ति का रूप । वे सुजान के साथ जिस गहराई के साथ प्रेम करते थे उसकी अनुभूति और सदाशयता उनकी रचनाओं में विद्यमान है । यही रचनाएँ जब इहलौकिक से पारलौकिकता की तरफ बढ़ती हैं तो ये रचनाएँ भक्तिपरक रचनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं । तब 'सुजान' राधा-कृष्ण हो जाती हैं क्योंकि सुजान को राधा नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । 'सुजान' को सम्बोधित अधिकांश कविताएँ भगवद्भक्ति का भाव जताती हैं । घनानन्द की प्रेमपरक कविताएँ और भक्तिपरक कविताओं में बहुत ज्यादा अन्तर न होने से उनका भाव केवल पाठक की मनोवृत्तियों पर निर्भर करता है । घनानन्द ने अपनी कविताओं के बारे में स्वयं कहा है – "लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत ।" लोग तो कविता बनाने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करते रहते हैं लेकिन कविता ने तो मुझे स्वयं ही बना दिया है। ईश्वर ने मेरी अन्तरात्मा से कविता के नये-नये रूप उद्घाटित किये जो प्रेम की अनुभूति में पगकर निकलते रहते हैं। ऐसा लगता है कि ईश्वर ने मुझे कृष्ण से प्रेम करने के लिए ही बनाया है । मेरी कविताएँ वही व्यक्ति समझ सकता है जो प्रेम के उच्च आदर्श को जानता होगा ।

घनानन्द प्रेम के उच्च आदर्शों और मापदण्डों को बनाए रखने वाले कवि हैं । भले ही प्रेमिका के इन्तजार में जान चली जाए परन्तु अपनी व्यथा वे किसी और से कहने की बजाय वे इसे अपनी कविता में उतार देते हैं । वे मन के अन्दर ही हृदयरूपी सागर की गहराई में गोते लगाते रहते हैं । सागर के लहरों की भाँति हृदय में प्रेम की

लहरें आती-जाती रहती हैं और वे उसी लहरों के साथ डूबते-उतराते रहते हैं। कभी वे प्रेमरूपी समुद्र की अतल गहराई में इतने नीचे उतर जाते हैं कि वहाँ उन्हें नाना प्रकार के रत्न बिछे दिखाई पड़ते हैं तो कभी प्रेम के उपरी सतह पर तैरते हुए रत्नों को प्राप्त करते हैं। इनके काव्य में लक्षणा और व्यंजना का स्पर्श कुछ ज्यादा ही देखने को मिलता है। इनकी कविताओं का सीधे-सीधे अर्थ निकालना बहुत मुश्किल है। ऊपर से पता ही नहीं चलता कि ये प्रेमपरक कविताएँ हैं या भक्तिपरक। एक प्रेमी के मन में प्रेम और ईश्वर दोनों का रूप साथ-साथ चलता रहता है। जितना वह अपने प्रेम पर विश्वास करता है उतना ही ईश्वर पर। उसके मन में दोनों रूप साथ-साथ आलोकित होते रहते हैं जो उनकी कविताओं में देखे जा सकते हैं।

4.4.4. घनानन्द का प्रेमानुभूति

प्रेम का भाव मनुष्य को पशुता भरे जीवन से निकालकर मनुष्यता के भाव तक पहुँचाता है। घनानन्द की प्रेमपरक कविताएँ काम-वासना का आभास न कराकर प्रेम के उच्च और आदर्श मापदण्ड तक पहुँचाती है। घनानन्द प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनकी कविताएँ मांसलता को न छूकर सीधे हृदय की गहराई में उतरती है। घनानन्द की कविता का आस्वाद लेने के लिए ब्रजनाथ ने स्पष्ट कर दिया है –

प्रेम सदा अति ऊँचो लहैं सु कहैं इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दौरे, पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखें रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनंद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

जो प्रेमी प्रेम के उच्चतम आदर्शों को ग्रहण करता है वही प्रेम का बखान कर सकता है। जिसे सुनकर अन्य के मन में भी प्रेम की लालसा अथवा प्रेम का लालच होने लगता है उन प्रेमियों की बुद्धि को देखकर लोग चकित रह जाते हैं। उस समय की लिखी जाने वाली उन कविताओं से इनकी कविता किस तरह से भिन्न थी, इसे सिर्फ वही प्रेमीजन समझ सकते हैं जिनकी बुद्धि उस प्रेम के रास्ते से गुजरी होगी। घनानन्द की ऐसी कविताओं को वही समझ सकता है जिसने प्रेम के दर्द को महसूस किया हो, प्रेम की अनुभूति जिसके रग-रग में विद्यमान हो। घनानन्द अपनी कविता के माध्यम से अपने प्रेम को प्रस्तुत तो करते हैं परन्तु सीधे-सीधे नहीं प्रत्युत लाक्षणिक ढंग से। उनकी कविता बुद्धिजीवियों की मति को जगाने वाली है। कुछ जगहों पर तो मौन रहकर भी अपनी प्रेम की पीर के माध्यम से वे कविता में बहुत कुछ कह जाते हैं। जैसे उनके इस कविता का स्वरूप देखिये –

उर भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजती बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सो सुलसै हुलसै रस रूप बनी॥
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावती लै चित-सेज ठनी।
घनानन्द बुझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान-धनी॥

हृदय रूपी घर में मेरी कविता मौन का घूँघट ओढ़ करके बैठी हुई है। जैसे घूँघट के किनारों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण लटकते रहते हैं। वैसे ही मेरे मन में भी कोमलता से सजे-धजे अनेक रसों से परिपूर्ण

आभूषण मेरे सुन्दर मन में उल्लसित होते रहते हैं। उसमें से जब वाणी रूपी दुल्हन ऐसे मुख में से निकलती है तो ऐसा लगता है नाना प्रकार के रत्न चित्त रूपी शैया पर कई प्रकार के रस और काव्य-शक्तियाँ चली आती हुई प्रतीत होती है। घनानन्द ऐसी ही बुद्धि की गोद में बस जाना चाहते हैं और बसने के पश्चात् ऐसी प्रियतमा पर रीझकर उसके प्रेम का आनन्द लेना चाहते हैं।

घनानन्द के यहाँ प्रेम का बाह्य पक्ष उतना प्रबल नहीं है जितना कि आन्तरिक पक्ष। वे प्रेम के अन्तःसौन्दर्य तक पहुँचना चाहते हैं। घनानन्द प्रियतम का साक्षात्कार करके बेसुध हो जाते हैं। प्रेम सौन्दर्य के चित्रण की जो गरिमा इनकी कविता में है वह रीतिकाल के अन्य किसी कवि में नहीं दिखाई पड़ती है –

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छवै।
हँसि बोलनि मैं छबि फूलन की बरखा उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अँग तरंग उठे दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै॥

सौन्दर्यवती नायिका का वर्णन करते हुए घनानन्द कहते हैं कि प्रियतमा का मुख सुन्दर ही नहीं अति सुन्दर है। वह सौन्दर्य से लबालब भरी हुई है। उसके चेहरे से दीप्ति झलक रही है तथा उसकी आँखें यौवन के मद से मस्त होकर कानों को छू रही हैं। उसकी आँखें यौवन के मद में मस्त होने की वज़ह उसके कानों के पास तक पहुँच गयी है। इस तरह घनानन्द की कविता प्रेम का छक कर पान करती हुई और उसके विशेष कोणों से गुज़रती हुई प्रेमिका के हृदय में उतरने को आतुर है। वे कहते हैं कि प्रेम की अनुभूति तो एकदम सरल और सीधी होती है। उसमें जरा-सी भी चतुराई व कुटिलता के लिए स्थान नहीं होता। प्रेम में अभिमान और अहंकार का भाव तो आता ही नहीं। जिसका हृदय कपटी तथा मन शंकालु होता है वह इस राह में चल ही नहीं पाता, उसके मन में एक प्रकार की झिझक बनी रहती है। इस भाव को चरितार्थ करती ये पंक्तियाँ देखिए –

अति सूधो सनेह को मारग, है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।

घनानन्द प्रेम की एकनिष्ठता को आदर्श मानते हैं। वे चातक, चकोर और मछली के प्रेम की एकनिष्ठता की बड़ाई करते हैं। वहीं पर भ्रमर के प्रेम को वे तुच्छ और स्वार्थी बताते हैं क्योंकि भौंरा रूपी प्रेम तो उड़-उड़कर सिर्फ अपने स्वाद और स्वार्थ की पूर्ति के लिए जाना जाता है किन्तु चातक, चकोर और मछली अपने प्रेमी के लिए अपनी जान तक दे देते हैं। यही कारण है कि घनानन्द अपनी कविताओं में इन पक्षियों का प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करते है। घनानन्द ने अपनी प्रेमस्वरूप कविता को इससे भी अधिक ऊँचाई प्रदान करते हुए कहते हैं –

हीन भएँ जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-समाने।
नीर-सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत कै पानैं-परै कौ प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

लेकिन वे अपने प्रेम की एकनिष्ठता में उलाहना देने से भी नहीं चूकते हैं –

घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक तें दूसरों आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

घनानन्द अपनी प्रियतमा सुजान से कहते हैं कि मेरे हृदय में कोई दूसरा नहीं है, मैं तो किसी और के बारे में सोच भी नहीं सकता। पर तुमने न जाने कौन-सा पाठ पढ़ लिया है। किसने तुम्हें पट्टी पढ़ा रखी है कि तुमने मेरा मन तो ले लिया परन्तु रत्ती भर भी देते नहीं हो (एक मन चालीस सेर के बराबर होता है। छटांक मतलब सेर का सोलहवाँ भाग) अंश भर भी नहीं देते हो।

अपनी प्रियतमा सुजान को सम्बोधित करते हुए घनानन्द कहते हैं कि तुम मुझे चाहो या न चाहो लेकिन मेरे रोम-रोम में प्रेम की तुम्हारी रीति ही बसी हुई है। मेरे हृदय में तो तुम्हीं एक हो। हाँ ! तुम्हारे हृदय में तो मेरे जैसे अनेक लोग बसे होंगे। कहीं चन्द्रमा को भी चकोर जैसे प्रेमियों की कमी थोड़े ही होती है –

चाहो अनचाहो जान प्यारे पै आनन्द घन,
प्रीती-रीति विषय सु रोम-रोम रमी है।
मोहिं तुम एक तुम्हेंमो सम अनेक आहिं,
कहा कछू चंदहि चकोरन की कमी है॥

सामान्यतः दो भिन्न स्तर के व्यक्तियों में प्रगाढ़ प्रेम नहीं होता है। यदि कहीं ऐसा संयोग बन भी पड़े तो निम्न स्तर के व्यक्ति को अपना परम सौभाग्य समझना चाहिए। भक्ति के क्षेत्र में भक्त के लघुत्व का तथा भगवान् के महत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। प्रेमी की दीनता एवं प्रियतम की उदारता और महानता को प्रदर्शित करते हुए घनानन्द कहते हैं कि अन्य प्रियतमों की महानता भी इसी में है कि वे विनम्र होकर उदारतापूर्वक अपने प्रेमी के प्रति दया-भाव बनाए रखें। चन्द्रमा चकोर से प्रेम करता है, प्रेम करने के लिए ही आकाश में नित्य आता है तथा अत्यन्त आनन्ददायक स्वाति नक्षत्र की बूँद पपीहा के लिए दौड़ कर उसकी रक्षा के लिए आती है। इसी प्रकार असरेणु जैसे क्षुद्र धूलिकण के घर पर सूर्य उसे सुखी बनाने के लिए निवास करता है और मीन के समीप समुद्र विनम्र बनकर उदारतापूर्वक कोमलता से भरकर दीन होकर आता है। घनानन्द कहते हैं कि हे प्रिय ! कृपा की अनन्त निधि सुजान सुनो ! तुम्हारा मुझसे स्नेह करना ऐसे ही शोभा पाता है अर्थात् तुम्हारा मेरे प्रति किये गए स्नेह का उदाहरण इसी प्रकार दिया जा सकता है जैसे कुबेर जैसा धनपति अपनी इच्छा से, अपने आप किसी निर्धन पर अनुरक्त होकर उसे अपनी गोद में बिठा लें तो उसका बड़ा सौभाग्य ही होगा।

चँद चकोर की चाह करैं, घन आनँद स्वाति पपीहा कौं धावै।
स्यौं असरैनि के एन बसै रबि, मीन पै दीन ह्वै सागर आवै॥
मोसौं तुम्हैं सुनौ जान कृपानिधि ! नेह निबाहिबो यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै॥

घनानन्द अपनी प्रियतमा को इसी तरह से प्रेम करते हैं और कहते हैं कि तुमने इस तरह से मेरी ओर देखकर, निहारकर मेरे प्रेम की व्याकुलता को बढ़ा दिया है। मेरी ओर देखकर तथा हँसकर मेरी चाह को और अधिक बढ़ा दिया है। अब मेरी चाहना की लालसा और तीव्र हो गई है। जिस तरह से तुमने मुझे प्रेम का संकेत किया है उससे मेरी कामनाएँ अधिक बलवती हो गई हैं। मैं जब उन बीती हुई बातों का स्मरण करता हूँ तो मेरे हृदय में अपार कष्ट होने लगता है जो मेरे हृदय को सालती रहती हैं अर्थात् वह पीड़ा तुरन्त ही ख़त्म नहीं हो जाती वह हृदय को बेधती रहती है, जो निकालने से भी नहीं निकलती। इस तरह मैं तुम्हारे प्रेम में गल रहा हूँ। मुझे समझ में नहीं आता है कि यह अन्याय की पट्टी तुम्हें किसने पढ़ा दी। इस तरह अन्याय का पाठ पढ़ाने वाला तुम्हें कहाँ मिल गया –

क्यौं हँसी हेरि हयौ हियरा अस क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहै कौ बालि सुधासने बैननि चैनसि मैननि सैन चढ़ाई।
सौ सुधि मो हिय मैं घन आनन्द सालति क्यौं हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इते पै न जानियै कौन पढ़ाई॥

4.4.5. घनानन्द का विरहानुभूति

विरह घनानन्द के प्रेम की अनुभूति का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है । विरह में मन व्याकुल हो जाता है। हृदय की पीड़ा धीरे-धीरे बढ़ने लगती है जो किसी भी प्रेमी के लिए अत्यन्त कष्टकारी हो जाती है। वह न अपना जीवन जी पाता है और न ही मर पाता है। घनानन्द को भी प्रेम में विरह के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला था इसलिए उनके काव्य में संयोग पक्ष की अपेक्षा विरह पक्ष प्रबल है। उनके हृदय से विरह का स्राव कुछ ज्यादा ही हुआ है। उनके हृदय में सुजान रूपी वह सागर है जिससे विरहरूपी कविता रत्नों की भाँति निकलती रहती है। विरह में जिस प्रकार का भाव आता है उसे वे कविता में उतार देते हैं। इस कारण वे बहुत हद तक रीतिकालीन परम्पराओं का पालन भी नहीं कर पाते इसलिए भी उन्हें स्वच्छन्दभाव-धारा का कवि कहा जाता है । विप्रलम्भ शृंगार की जितनी व्यापकता और गहराई इनकी कविताओं में है उतनी अन्य किसी भी कवि की कविताओं में नहीं मिलती । अपने विरह की तड़प को उन्होंने कुछ इस तरह से प्रकट किया है –

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरि नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति।
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन-सोहन जोहनि की लगियै रहै आँखिन के उर आरति॥

प्रियतम को देखते-देखते सुबह से शाम हो गई। जिस वन की तरफ से प्रियतम आने वाले थे मैं एकटक उधर ही निहार रही थी। निहारते वक्त मेरी आँखों को थोड़ा-सा भी कष्ट इसलिए नहीं होता क्योंकि वे इसकी अभ्यासी हो गई हैं। प्रियतम के दर्शन की चाह में वे बावरी होने के साथ-साथ पगला गई हैं। वे जिधर देखती हैं एकटक उधर ही देखती रहती हैं। उस निहारने में भी संधान-अनुसंधान की स्थिति रहती है। उसे आस लगी रहती

है कि वे इधर से ही आयेंगे। इस विरह की व्याकुलता को एक प्रेमी के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है। वे फिर कहते हैं –

पहलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मझार, दई! गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनँद आपने चातिक कों, गुन-बाँधि लैं, मोह न छोरियै जु।
रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं बिसघोरियै जू॥

पहले तो उन्होंने मेरे प्रेम को अपना लिया फिर ऐसा क्या कारण है कि वे अब इस प्रेम को तोड़ रहे हैं। क्या उन्हें ये नहीं पता कि जिससे एक बार स्नेह लगाया जाता है फिर उसे तोड़ा नहीं जाता। स्नेह में तो सरसता होती है जिससे उसमें कोमलता और नमी का आभास होने के कारण वह लचीला हो जाता है। वह जल्दी टूटता भी नहीं। अब वे तोड़ने का कुछ आधार भी नहीं बता रहे हैं। उन्होंने मुझे निराधार, असहाय और बेबस कर दिया है। वे मुझे किस मँझधार में छोड़कर जा रहे हैं जबकि वे जानते हैं कि मैं इस प्रेमरूपी सागर में तैरना नहीं जानता। वे मुझे छोड़ भी रहे हैं तो इस मँझधार में। अगर किनारे ही छोड़ देते तो शायद मैं निकल भी जाता लेकिन लगता है उन्होंने मुझे डुबोने का प्रण कर ही लिया है। उन्होंने अपने गुण से मुझ जैसे प्रेमी चातक को बाँध लिया है लेकिन मेरा मोह ऐसा है कि उनसे छूट भी नहीं रहा है। वे आनन्दरूपी मीठा पेय पिलाकर मुझे जिला भी रहे हैं अर्थात् आस देकर मेरे विश्वास को बढ़ा भी रहे हैं जिससे मेरी जीने की इच्छा बलवती भी हो रही है। फिर इस विश्वास में अगर कोई विष मिला दे तो यह तो स्वभाव के विरुद्ध है। किसी भले मानस व्यक्ति के आचरण में ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिए, यह तो उसके स्वभाव के विपरीत है।

रीतिकाल में घनानन्द की कविता का स्वरूप अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है। वे अपनी कविता में प्रेम को इतना ऊँचा दर्ज़ा देते हैं कि उसका रूप सदैव परिवर्तित होता रहता है। प्रेम को लेकर मन में जिस तरह के भाव की लकीरें उठती और गिरती हैं उसे उन्होंने इस तरह से व्यक्त किया है –

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सु तौ वार् यौ सुजान सकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनँद बावरी रीझि के हाथनि हारियै॥

प्रिय की विशेषता का बखान मैं कहाँ तक करूँ, मैं उनके रूप के बखान को जितना प्रकट करता हूँ वह तो बहुत कम है। जिस तरह से नदी के पानी का स्वरूप पल-प्रतिपल बदलता रहता है ठीक उसी तरह मैं अपने प्रियतम के रूप को उनकी सुन्दरता को जैसे-जैसे निहारता हूँ, वह पल-पल बदलता रहता है, उसमें सदैव नूतनता का आभास होता रहता है। मेरे अपने इन आँखों की जो टेव है, उसकी जो सहज वृत्ति है, मैं उसकी शपथ खाकर कहती हूँ मेरी इन आँखों की तृप्ति तो कभी पूरी ही नहीं होती। मेरा एक ही तो जीवन था और इस जीवन के अपनत्व को बनाये रखने वाला जो जी (मन) था उसे भी मैंने आप पर न्योछावर कर दिया। जब जी ही अपने वश

में नहीं है। तो यह किसी का संकोच और किसी की चिन्ता भी कैसे कर सकेगा। आप सुजान हैं और आपसे यह निवेदन है कि मेरे संकोच और व्यथा को आप ही संभाल सकती हैं। मेरे हृदय को आप संभालिए, जो मेरे रोके नहीं रुक रहा है। यह बिल्कुल बावरा हो गया है, पगला गया है, जो उस पर रीझकर के हार गया है।

घनानन्द के वियोग शृंगार में दयनीयता और दैन्य भाव की प्रचुरता है। वे अपने प्रियतम से मिलने की भीख माँगते हैं, गिड़गिड़ाते हैं और अपनी दयनीय स्थिति का वास्ता देते हैं। वे कहते हैं कि सुजान तुम तो प्रेम की निधि हो। यदि तुम्हीं मेरे प्रति कठोर हो जाओगी तो मेरे प्राण कैसे बचेंगे। तुम तो उदारमना हो। मैं तो दीन-हीन अवस्था में तुम्हारे दरवाजे पर पड़ा हूँ। तुम मेरी पुकार को सुनकर मेरे पास आओ। तुम मुझे ऐसे कब तक तरसाओगी। मैं तो चातक के रूप में तुम्हारा प्रेमी हूँ और तुम्हारे मोह से व्याकुल हूँ। तुम्हारे इस रूप का दीवाना हूँ। तुम अपने रूप की एक झलक तो दिखा जाओ। तुम अपने हृदय में दया का भाव धारण कर मेरे विरह को दूर करो। तुम आनन्द का बादल बन कर कब बरसोगी जिससे मेरे हृदय की प्यास बुझ सके –

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान कहौ।
कैसे रहैं प्रान जौ अनखि अर सायहौ॥
तुम तो उदार दीन-हीन आनि परयौ द्वार।
सुनिए पुकार याहि कौलौं तरसायहौ॥
चातिक है रावरो अनोखो मोह आवरो।
सुजान रूप बावरो बदन दरसायहौ॥
विरह नसाय दया हिय में बसाय आय।
हाय कब आनन्द को घन बरसाय हौ॥

4.4.6. घनानन्द की भगवद्भक्ति

भक्तिकाल में भक्ति के कई भाव दिखाई पड़ते हैं जिसमें दास्य भाव और सख्य भाव का वर्णन विशेष रूप से किया जाता है। दास्य भाव में भक्त तो अपने आपको ईश्वर के चरणों में अर्पित कर देता है लेकिन जब वह सख्य भाव की भक्ति करता है तो ईश्वर को अपने सखा के रूप में मानने लगता है जिसमें भक्त का ईश्वर के प्रति माधुर्य भाव प्रबल रहता है। इससे मनुष्य और ईश्वर में ऊँच-नीच का भाव नहीं रहता। भक्त भगवान् का साथी बनकर उनके साथ मधुर सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। यही कारण है कि पूरे रीतिकालीन काव्य में कृष्ण और राधा के प्रेम के साथ भक्त अपने प्रेम को भगवान् के साथ जोड़ देता है। रीतिकाल में शृंगारिकता को भक्तिभाव के साथ जोड़ दिया गया है जो इस काल की अधिकांश रचनाओं में देखा जा सकता है।

रीतिकाल में भौतिकता, दरबारी जीवन की चाटुकारिता और विलासी रूप का वर्णन कविताओं में मुख्य रूप से किया गया है। रीतिकाल के प्रमुख कवियों में चिन्तामणि, मतिराम, देव, बिहारी आदि कवियों की कविताओं में शृंगारिकता और दरबारी जीवन का चित्रण मुख्य रूप से है। इस वातावरण के प्रति घनानन्द के मानस-पटल पर घृणा का भाव उद्दीप्त होता है। यही कारण है कि जब दरबार से उन्हें देश-निकाले का आदेश जारी

हुआ तो वे सुजान को भी साथ चलने के लिए कहते हैं। जब वह नहीं जाती है तो उनका मन वितृष्णा से भर जाता है। इस अपमान से आहत होकर वे वृन्दावन चले गए। वहाँ के नैसर्गिक सौन्दर्य को देखकर उनका मन आह्लादित हो गया। वहीं से उनकी कविता के रूप में समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों और अपने प्रेम को राधा और कृष्ण के प्रेम में परिवर्तित कर सहज भाव से कविता करने लगते हैं। वहाँ उनका प्रेम वैराग्य रूप को प्राप्त करके और गहरा गया जो कहीं ईश्वर (कृष्ण-राधा) के रूप में तो कहीं प्रेमिका सुजान के रूप में गृहीत हुआ है –

सदा कृपा निधान हौ, कहा कहौं सुजान हौं।
अमानि दान मान हौ, समान काहि दीजिए॥

वे कहते हैं कि भक्त के ऊपर भगवान् की कृपा सदैव रहती है। मैं भी भगवान् पर बहुत भरोसा रखता हूँ। इनकी कृपा से ही साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। कहा जाता है कि जब घनानन्द दिल्ली छोड़कर वृन्दावन चले गए तो वहाँ के महन्त वृन्दावन देव ने उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित किया। वहीं उनकी विरह वेदना सुजान से राधा-कृष्ण की भक्ति में बदल गई। उनकी रचनाओं में 'सुजान' नाम कृष्ण और राधा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है –

पहचानै हरि कौन मो से अनपहचान की।
त्यौं पुकार मधि मौन कृपा-कान मधि नैन ज्यौं॥

हे प्रभु ! आपके अतिरिक्त मुझे यहाँ पर पहचानने वाला कौन है। मैं तो यहाँ पर बिल्कुल अपरिचित हूँ। आपके मौन की पुकार में कृपा रूपी कान लगे हैं जिस कारण आप बिना देखे ही सुन लेते हैं और समझ लेते हैं जिससे भक्त पर पूरी तरह से अपनी कृपा बरसाते हैं। भक्त का हाल तो आप उसकी दशा से ही ज्ञात कर लेते हैं। आपसे तो कुछ छिपा ही नहीं है। वे आगे कहते हैं –

घनानन्द रस ऐन, कहौं कृपानिधि कौन हित।
मरत पपीहा नैन, बरसौं पर दरसौं नहीं॥

हे आनन्द के बादल तुम सचमुच आनन्द की वर्षा करने वाले बादल हो, या फिर कोई और बहुरूपिये। तुम अगर आनन्द की वर्षा करने वाले बादल हो, तो तुम्हारे अन्दर जो जल है वह तो दिखाई नहीं पड़ रहा है। अर्थात् तुम वर्षा क्यों नहीं कर रहे हो, क्या तुम कहीं और वर्षा करके तो नहीं आ रहे जिससे तुम्हारा जल समाप्त हो गया हो। लेकिन यह तो जलरूपी रस से भरा हुआ बादल है। तुम तो वह ईश्वर हो जो अपने भक्तों को कृपारूपी वर्षा करके उन्हें सींच कर तृप्त करते हो। लेकिन तुम्हारा यह हित किस काम का जो दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। क्योंकि यह जो पपीहा के नेत्र हैं उसमें जलरूपी प्रेम तो दिखाई पड़ रहा है फिर भी वह तुम्हारे दर्शन के लिए मरा जा रहा है। तुम्हारे इस प्रेम के अश्रुरूपी वर्षा के जल में तो ये आँखें डूबी हुई हैं परन्तु उन्हें तुम्हारे दर्शन नहीं मिल रहे हैं। तुम बरसते तो हो पर तुम्हारा जल इस चातकरूपी भक्त को दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्या उसका प्रेम अभी कच्चा है जो तुम उसे दर्शन नहीं दे रहे हो। कृपा करके तुम दर्शन तो दो !

4.4.7. पाठ-सार

घनानन्द रीतिकाल के एक प्रमुख कवि हैं। रीतिकाल में उन्हें रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि के रूप में उन्हें स्थान दिया गया है। उनकी कविताएँ अन्य रीतिकालीन कवियों से भिन्न हैं। उन्होंने व्यक्ति के आन्तरिक सौन्दर्य पर दृष्टि रखते हुए अपनी कविताओं में स्वानुभूतियों पर बल दिया है । घनानन्द एक प्रेमी कवि थे, प्रेम में उन्हें विरह ही मिला। इसी कारण उनकी कविताओं में वियोग पक्ष का भाव कुछ अधिक ही स्रावित हुआ है। घनानन्द की कविताएँ अभिधा में न होकर प्रायः लक्षणा और व्यंजना में ही लिखी गई हैं। उन्होंने अपनी कविताओं को कवित्त और सवैया जैसे पदों में ही रचा है । घनानन्द ने अपनी कविताओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग किया है। उनकी विरहानुभूति ही भगवद्भक्ति में परिवर्तित हो जाती है।

4.4.8. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. घनानन्द की रचनाएँ किस भाषा में रचित हैं ?

(क) अवधी
(ख) ब्रजभाषा
(ग) खड़ीबोली
(घ) भोजपुरी

2. घनानन्द किस राजा के दरबार में रहते थे –

(क) शेरशाह सूरी
(ख) बाबर
(ग) मुहम्मद शाह
(घ) मुहम्मद बिन तुगलक

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. घनानन्द की कितनी रचनाएँ उपलब्ध हैं ?
2. सुजानहित के रचयिता का नाम बताइए।
3. घनानन्द किस काव्यधारा के कवि हैं ?
4. घनानन्द की भक्ति किस भाव की है ?
5. घनानन्द की प्रेमिका का नाम बताइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. घनानन्द का जीवन-परिचय दीजिए।
2. घनानन्द के जीवन में सुजान का क्या स्थान है?
3. घनानन्द किस शासक के शासनकाल में विद्यमान थे?
4. देश-निकाले के पश्चात् घनानन्द ने कहाँ निवास किया?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकाल में घनानन्द का स्थान निर्धारित कीजिए। अन्य रीतिकालीन कवियों से वे किस प्रकार भिन्न हैं? समझाकर लिखिए।
2. घनानन्द के काव्य में 'सुजान' शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है? मीमांसा कीजिए।
3. घनानन्द के काव्य को पढ़ने का अधिकारी कौन हो सकता है? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।
4. स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों में घनानन्द का स्थान निर्धारित कीजिए।
5. घनानन्द के काव्य में संयोग तथा वियोग शृंगारकी विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

4.4.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, नवीन संस्करण 1997, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, 922, कूचा रोहिल्ला खान, तिराहा बैरम खान, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
2. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, द्वितीय संस्करण 2008, हिन्दी साहित्य का अतीत – दूसरा भाग : शृंगार काल, वाणी प्रकाशन, 21-A दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
3. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, नवीन संस्करण 2012, घनानन्द-कवित्त, प्रथम शतक, भाष्यकार-साहित्याचार्य चन्द्रशेखर मिश्र शास्त्री, संजय बुक सेंटर, गोल घर, वाराणसी
4. लाल, डॉ॰ किशोरी, संस्करण 2001, घनानन्द काव्य और आलोचना, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, 93, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003
5. राय, डॉ॰ कुसुम, तृतीय संस्करण 2014 ई., हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतीतर एवं रीतिमुक्त काव्य

इकाई – 5 : घनानन्द का भाषा-सौष्ठव

इकाई की रूपरेखा

4.5.0. उद्देश्य कथन
4.5.1. प्रस्तावना
4.5.2. रीतिकालीन कवियों की कविता और घनानन्द
  4.5.2.1. रीतिकालीन कवि और उनकी कविता का आधार
  4.5.2.2. घनानन्द की कविता का आधार
4.5.3. घनानन्द की काव्य-कला और भाषिक-विधान
  4.5.3.1. घनानन्द की काव्य-कला
  4.5.3.2. घनानन्द का भाषिक-विधान
4.5.4. पाठ-सार
4.5.5. बोध प्रश्न
4.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

4.5.0. उद्देश्य कथन

पिछले पाठ में हमने घनानन्द के समय, परिस्थिति और व्यक्तित्त्व के बारे में जानने के साथ-साथ उनकी रचनाओं, उनके प्रेम, विरह और भगवद्भक्ति का अध्ययन किया। घनानन्द ने अपने प्रेम विरह को भगवद्भक्ति का आधार बनाकर भाषायी कौशल से उसे कविता का रूप दिया। वे अपनी कविता में सादगी व सरलता के साथ अपने प्रिय और हरि का भी स्मरण करते हैं जो उनके काव्य-कौशल का परिचायक है। प्रस्तुत पाठ में हम रीतिकालीन कवियों के भाषायी आधार के सन्दर्भ में घनानन्द की भाषा और उनकी काव्य-कौशल का अध्ययन करेंगे। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. घनानन्द के भाषा-सौष्ठव से परिचित हो सकेंगे।
ii. घनानन्द के काव्य-कौशल से अवगत हो सकेंगे।
iii. रीतिकालीन कवियों के सन्दर्भ में घनानन्द के काव्य-वैशिष्ट्य का बोध कर सकेंगे।
iv. भाषायी आधारों पर घनानन्द के काव्य की परख सकेंगे।

4.5.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ आदिकाल से स्वीकार किया जाता है जिसे शुक्ल जी ने राजा भोज के काल से आरम्भ माना है। आदिकालीन साहित्य को जब हम भाषायी आधार पर परखते हैं तो उस समय की भाषा को हम अपभ्रंश का विकसित रूप कह सकते हैं लेकिन मध्यकाल तक आते-आते हिन्दी साहित्य का भाषायी स्वरूप

बदल जाता है। मध्यकाल के साहित्य में अवधी और ब्रजभाषा का बोलबाला हो जाता है। आलोचकों ने भाषायी आधार पर मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया है – (i) पूर्व मध्यकाल, जिसे भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है और (ii) उत्तर मध्यकाल, जिसके लिए रीतिकाल नाम स्वीकृत किया गया है। रीतिकाल को काव्य-प्रवृत्तियों के आधार पर रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्यधाराओं में विभक्त कर दिया गया है। भक्तिकाल के साहित्य में हिन्दी की ब्रज और अवधी दोनों बोलियों की समान भागीदारी रही है। यह अलग बात है कि रीतिकाल में अवधी, ब्रज की अपेक्षा कुछ कमजोर सी जान पड़ती है। इस काल में ब्रजभाषा का वर्चस्व चरमोत्कर्ष पर था। मध्यकाल में भारतीय राजनैतिक परिदृश्य पर नज़र डालें तो उस समय मुग़लकाल भारत पर स्थापित होकर अपना परचम लहरा रहा था। जिसका केन्द्र दिल्ली के साथ-साथ आगरा भी था। आगरा के आस-पास की भाषा ब्रज तथा मुग़लों की भाषा फारसी दोनों मिलकर रीतिकालीन काव्य को प्रौढ़ बना रही थीं।

4.5.2. रीतिकालीन कवियों की कविता और घनानन्द

रीतिकाल के कवियों की भाषा मूलतः ब्रजभाषा थी। रीतिकाल में ज्यादातर लक्षण और उदाहरण के ग्रन्थ लिखे गए। कुछ कवि रीति की बँधी-बधाई परिपाटी में तो कुछ कवि स्वच्छन्द रूप से कविता लिख रहे थे। इनकी कविता मध्यकाल के वातावरण को प्रस्तुत करती है। रीतिकाल के ज्यादातर कवि दरबारों में रहकर रचना किया करते थे इसलिए उनकी कविता को दरबारी कविता के नाम से भी विभूषित किया जाता है। दरबार के लोग जिस तरह की कविता पसंद करते थे उसी माँग के अनुरूप कविगण रचना किया करते थे। इन कवियों की जीविकोपार्जन का साधन वही दरबार ही था इसलिए वे उसे अनदेखा नहीं कर सकते थे। लेकिन उस काल में घनानन्द जैसे कवि भी हुए हैं जो उन्मुक्त भाव से रचना किया करते थे। घनानन्द की कविता में प्रेम की व्यंजना का व्यापार अलग प्रकार से चलता है। उनके प्रेम व्यापार को प्रकट करने की भाषा तथा शब्दों की कुशलता देखते ही बनती है। घनानन्द का काव्य-वैशिष्ट्य स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं– "ये साक्षात् रस मूर्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तम्भों में हैं।"

4.5.2.1. रीतिकालीन कवि और उनकी कविता का आधार

रीतिकाल की ज्यादातर कविताएँ प्रायः मनोरंजनप्रधान, विलासितापूर्ण, चाटुकारितानिमग्न और दरबारी जीवन के वातावरण को प्रस्तुत करती हैं। रीतिकाल की कविता का आधार काव्यशास्त्र रहा है। रीतिकाल की कविता रीति की बँधी-बँधाई परिपाटी में लिखे जाने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को रीतिकाल के नाम से अभिहित किया है। हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन रचनाओं पर काव्यशास्त्र का प्रभाव रहा। सूरदास की 'साहित्यलहरी', कृपाराम की 'हिततरंगिणी', केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना विशेष उद्देश्य से की गई थी। केशवदास ने रीति-निरूपण की परम्परा रीतिकाल में स्थापित कर दी थी। लेकिन संस्कृत काव्यशास्त्र के रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और कई अन्य सम्प्रदायों का विकास हिन्दी में नहीं हो सका। केवल रस, अलंकार और छन्द ही रीतिकाल में अपना स्थान सुनिश्चित कर पाए।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल को 'शृंगारकाल' के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने इस काल का गम्भीर अध्ययन किया तथा रीतिकाल को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया – (i) रीतिबद्ध काव्य, (ii) रीतिसिद्ध काव्य, (iii) रीतिमुक्त काव्य।

रीतिबद्ध काव्य मुख्य रूप से लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होता है। रीतिबद्ध कवि एक खास बँधी-बँधाई परिपाटी में ही लिखना पसंद करते थे। रीतिबद्ध कवियों में भी दो भेद हैं – (क) सर्वांग निरूपक और (ख) विशिष्टांग निरूपक। सर्वांग निरूपक कवि वे कहलाते थे जिन्होंने कविता के रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वृत्ति, शब्द-शक्तियाँ, काव्य-गुण, काव्य-दोष, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन आदि सभी अंगों का विवेचन किया है और उस पर केन्द्रित पर्याप्त रचनाएँ लिखी हैं। इनमें केशवदास, चिन्तामणि, देव, भिखारीदास, प्रतापसाही आदि कवि प्रमुख हैं। इन्होंने काव्य के लक्षणों को अधिक महत्त्व दिया है। इन लोगों ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' जैसे ग्रन्थों को अपना आधार बनाया है। विशिष्टांग निरूपण में कवियों ने मुख्य रूप से रस निरूपण, अलंकार निरूपण और छन्दशास्त्र का निरूपण किया है। इन तीनों निरूपकों का प्रयोग कवियों ने नायक-नायिका भेद के प्रतिपादन में विशेष रूप से दिखलाया है। ऐसे कवियों ने संस्कृत के भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' को अपना आधार बनाया है। इसे आधार बनाकर लिखने वाले रीतिकालीन कवियों में देव, तोष, पद्माकर, बेनी, मतिराम, कालिदास त्रिवेदी, सैय्यद गुलाम नबी आदि कवि प्रमुख हैं।

इन अलंकार कवियों का आधार ग्रन्थ जयदेव का 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित का 'कुवलायानन्द' ग्रन्थ है परन्तु आचार्य केशवदास ने आचार्य दण्डी की पुस्तक 'काव्यादर्श' को अपना आधार ग्रन्थ बनाया है। महाराजा जसवन्तसिंह ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर ही अपने ग्रन्थ 'भाषाभूषण' का अलंकार निरूपण किया है। रीतिकाल में पिंगल निरूपण (छन्दशास्त्र) का विधिवत प्रयोग सर्वप्रथम केशवदास ने और उनके बाद चिन्तामणि और मतिराम ने किया है। केशव ने 'छन्दमाला' की रचना की तो चिन्तामणि ने 'छन्दमाला' के नाम से ही रचना-ग्रन्थ का प्रतिपादन किया और मतिराम ने 'वृत्तकौमुदी' जैसी छान्दोनिरूपक ग्रन्थ की रचना की।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय विवेचन की परम्परा से हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा काफी भिन्न रही है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों की अपनी मौलिक चिन्तन परम्परा थी। हिन्दी काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत काव्य-ग्रन्थों को अपनाकर तथा उसी के आधार पर अपनी चिन्तन परम्परा को आगे बढ़ाया। काव्यभाषा के आधार रूप को लेकर केशवदास का दृष्टिकोण भिन्न है। जब केशवदास भाखा में रचना करने लगे तो उन्हें काफी लज्जित और कुण्ठित होना पड़ा–

भाखा बोल न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाखा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास॥

रीतिकाल के पहले भाषा की स्वतन्त्रता थी। उस समय ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली तीनों में ही रचनाएँ होती थी, लेकिन प्रधानता ब्रज और अवधी की ही थी। रीतिकाल में यह भाषा सिर्फ ब्रजभाषा के नाम से रूढ़ हो गई। रीतिकालीन कविता धर्म और दर्शन से निकलकर राजसी वैभव, ठाठ-बाट और विलासिता के जीवन

की प्रतीक बन गई। यही कारण रहा कि भाषा के स्तर पर रीतिकालीन कवि सिर्फ कलाबाज़ सिद्ध होता है और उसकी कविता में चमत्कार व मनोरंजन के अलावा कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। इसी परिवेश को तोड़ने का काम घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि कवियों ने किया। इसलिए इनकी कविताओं में स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता दिखलाई पड़ती है, इस पर घनानन्द कहते हैं – "मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।"

4.5.2.2. घनानन्द की कविता का आधार

रीतिमुक्त धारा के प्रमुख कवि घनानन्द ने काव्य में चमत्कार को महत्त्व नहीं दिया है। ये कविता की ऊपरी सजावट से कतराते थे। वे कविता की बुनावट बड़ी ही बारीकी से किया करते थे। उनके भाव से शब्दों का ऐसा सामंजस्य बनता था जिससे भाषा काफी सरल और अत्यन्त गहराई लिए होती थी। उनकी कविता में एक प्रकार का पैनापन होता था जिसे पेश करना अन्य कवियों के बस की बात नहीं थी। वे ब्रजभाषा के बड़े मर्मज्ञ थे। ब्रजनाथ ने इन्हें ब्रजभाषा-प्रवीण बताया है। पूरे मध्यकाल की काव्यभाषा को समृद्ध बनाने में ब्रजभाषा का बड़ा योगदान था। प्रायः सभी बड़े कवियों ने अपना काव्य ब्रजभाषा में रचकर इस भाषा को समृद्ध किया है। किसी ने भक्ति में तो किसी ने शृंगारिकता में लीन होकर इसे समृद्ध किया है। लेकिन ब्रजभाषा-प्रवीण शब्द का प्रयोग एक ख़ास अर्थ में किया जाता है, जिसका तात्पर्य है ब्रजभाषा का मर्मज्ञ जो उसकी गहराई के साथ-साथ भाषा की शुद्धता और शक्ति-स्वरूप का पूरा जानकार हो तथा जो उसे अन्य भाषा के साथ जोड़कर उसकी सौन्दर्य को द्विगुणित करने में सक्षम हो। ऐसा नहीं है कि ब्रजभाषा केवल मथुरा के आस-पास के क्षेत्रों में ही बोली जाती थी। यह ब्रजक्षेत्र के बाहर भी काफी दूर तक फैली हुई थी। आचार्य भिखारीदास ने लिखा है –

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे-ऐसे कवि की बानी हू सो जानिये॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का क्षेत्र सिर्फ ब्रजवास ही नहीं है। कवि के वाणी प्रयोग के आधार पर ही उसकी भाषा की मर्मज्ञता तथा उसके क्षेत्र का निर्धारण होता है।

स्वच्छन्द काव्यधारा साध्य और साधन दोनों की ही निर्मिति है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार "रीतिधारा वाले जिस साज-सज्जा में लगते हैं उसमें बुद्धि का प्रयोग अधिक करना पड़ता है। उनकी रचना बुद्धिबोधित होती है इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धीरे-धीरे हटने लगता है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर पर स्वच्छन्द काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि।"

रीझि सुजान सची पटरानी बनी बुधि बापुरी ह्वै करिदासी॥

स्वच्छन्द काव्यरचना भाव पर आधारित होती है। वह बुद्धि से पोषित होकर नहीं निकलती बल्कि हृदय की आन्तरिकता से निकलकर भावों से सिंचित और पोषित होती है। स्वच्छन्दधारा के कवि अपनी अनुभूतियों के

आधार पर ही काव्य की रचना करते हैं। शब्दों का आडम्बर तो बिहारी के यहाँ भी है। उन्होंने भी शब्दों की कुशलता का निर्वहन बड़ी चालाकी से किया है –

सटपटाती सी ससिमुखी मुख घूँघट पर ढाँकी।
पावक जहर सी झमकी कई गई झरोखा झाँकी॥

शुक्ल जी ने बिहारी को मुक्तकपरम्परा में स्थान दिया है तथा उन्हें एक बड़ा कवि माना है। परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा है – "भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।" कुछ ऐसे ही आधार पर रीतिकालीन साहित्य के विशेषज्ञ उन्हें रीतिसिद्ध काव्यधारा के अन्तर्गत रखने को बाध्य हुए क्योंकि उनकी कविता में चमत्कार तो है पर वह हृदय की गहराई में नहीं उतर पाती जबकि घनानन्द ने अपने काव्य में यह काम बड़े ही आसानी से कर दिया है।

घनानन्द की काव्यभाषा मुख्य रूप से ब्रजभाषा थी। ब्रजभाषा उस समय मध्यदेश की भाषा थी जो भारत के हृदयस्थल के रूप में माना जाता था। ब्रजभाषा ने शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल की प्रमुख भाषा के रूप में अपनी पहचान बनाई जिसे अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग नामों से जाना गया। मध्यकाल में हिन्दी साहित्य पर मध्यकालीन संस्कृति का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा जिसके कारण घनानन्द भी उससे अछूते नहीं रहे। यही कारण है कि घनानन्द ने अपनी कविता में उर्दू, फारसी शब्दों का तथा मुहावरों का भी प्रयोग किया।

नेही महा, ब्रजभाषा-प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग-वियोग की रीति में कोबिद, भावना भेद-स्वरूप को जानै।
चाह के रंग मैं भीज्यो हियो, बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखानै॥

प्रशस्तिकार ब्रजनाथ की इन पंक्तियों में घनानन्द-काव्यभाषा की उत्कृष्टता को दर्शाया गया है। इसी आधार पर शुक्ल जी ने यह दावा किया है कि "इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व है। विप्रलम्भ शृंगार ही इन्होंने लिखा है, ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही को लेकर इसकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीन और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" शुक्ल जी का यह पूरा का पूरा वक्तव्य ही घनानन्द के भाषा-प्रेम और भाषा के अधिकार को दर्शाता है। छोटी से छोटी बात हो या बड़ी से बड़ी बात, घनानन्द उसे बिलकुल सरल और सहज ढंग से कहते हैं। इनकी यह सादगी भाषा के प्रति इनकी प्रगाढ़ता को दर्शाती है।

4.5.3. घनानन्द की काव्य-कला और भाषिक-विधान

रीतिकालीन कवियों में घनानन्द की अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्होंने अपने अभ्यास, अनुभव तथा रचना-कौशल से विकसित की हैं। सच तो यह है कि बिना लाग-लपेट की भाषा से ही इनकी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनी। रीतिकाल मुख्यतः शिल्पप्रधान युग था लेकिन शिल्प की पच्चीकारी में घनानन्द की ख़ास रुचि नहीं थी जैसी अन्य रीतिकालीन कवियों में देखने को मिलती है। घनानन्द अपने हृदयतल की गहराई में विद्यमान भावों को भाषा के सहारे बड़ी कुशलता से रचकर पाठकों तक पहुँचाते हैं।

4.5.3.1. घनानन्द की काव्य-कला

घनानन्द स्वच्छन्द रूप से कविता करने वाले कवि थे। जिस तरह से केशव और बिहारी ने दरबारी कविता लिखकर उसे केवल मनोरंजन का साधन बनाया था और वही उनके जीविकोपर्जन का साधन भी था। घनानन्द कुछ ऐसी ही बातों को देखकर कहते हैं – "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।" और लोग तो कविता बनाने के लिए न जाने कितने जतन करते हैं तब जाकर कविता बनती है। मेरी अंतरात्मा से प्रेम की अनुभूति पाकर उसमें पगकर न जाने कितनी कविताएँ बनती हैं। मुझे तो कविता बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कविताओं ने तो मुझे स्वयं ही बना दिया है। प्रेम की दशा में जो भी लक्षण विद्यमान है वह सब इनकी कविता में देखने को मिल जाता है –

रीझि सुजान सची पटरानी बनी बुधि बापुरी ह्वै करिदासी॥

प्रेम की दशा इस प्रकार से होती है कि वह अपने प्रिय का छोटा-सा प्रयत्न देखकर उसे वे अपनी तरफ ही सोच लिया करते हैं। प्रेम का जो भी आभास उनके द्वारा अनकहा रहा जाता है उसे घनानन्द ने अपनी कविता के माध्यम से बड़े ही सरल ढंग से व्यक्त कर दिया करते हैं –

उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखो,
सुबस सुदेश जहाँ रावरे बसतहो।

वे कहते हैं हमारी आँखों में तो उजड़ने जैसा माहौल बन गया है अर्थात् कुछ न कुछ तो उजड़ता ही रहता है। परन्तु हमारे रावरे (प्रीतम) बहुत ही सुन्दर हैं और स्थायी जगह पर उनका वास है अर्थात् वे हमारे हृदय में बसे हुए हैं वहाँ से उजड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। घनानन्द ने अपनी कविता में संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है परन्तु उनकी कविताओं में वियोग पक्ष का भाव कुछ अधिक ही दिखलाई पड़ता है। घनानन्द अपने भाषा-प्रयोग के लिए तो विशेष रूप से जाने जाते हैं।

काव्य-कौशल कवि की विशिष्ट प्रतिभा पर निर्भर करता है। जो कवि जितना ही अधिक प्रतिभाशाली होगा उसकी अभिव्यंजना-कला उतनी ही प्रौढ़ और परिष्कृत होगी। घनानन्द के काव्य-स्वरूप को व्यक्त करते हुए प्रशस्तिकार ब्रजनाथ ने बताया है कि स्वाति के घन आनन्द के बरसने पर छन्द-बन्ध, रीति और सूक्ति रूपी मुक्ता

(सीपी) में रहने वाले सभी अक्षर मुक्ता जैसे चमक उठे और उसमें हृदय के संयोग से अर्थ की विशिष्ट छटा उत्पन्न होती है –

प्रगटे सुधन सुबरन स्वाति जलजिते,
बसे छंद बंद रीति सुकति आधार है।
सुन्दर विमल बहु अरथ-निधान देखो,
अचिरज नेह भरे झलकै अपार है॥

घनानन्द ने हृदय की वेदना को अपनी कविताई का आधार बनाते हुए कहा है –

कल न परति कहूँ कल जो परति होय,
परनि परी हौ जाति परी न परति है।
हाय यह पीर प्यारे ! कौन सुनै, कासों कहौं
सहौं घन आनंद क्यों अन्दर अरति है।
भूलनि चिन्हारि दोऊहैं न तो हमारै तातै,
विसरनी रावरी हमैं लैं विसरती है॥

तुम्हारी दशा देखकर मुझे चैन ही नहीं पड़ रहा है। यह चैन मुझे कैसे पड़ेगा। मैं अपने आप से चली जा रही हूँ मुझे यह चैन ही नहीं पड़ रहा है। हे प्रियतम ! यह कैसा पीर है, कैसा दर्द है, इसे कौन सुनेगा और मैं अपनी बात किससे कहूँगी। आपके भूलने में तो मैं खुद अपने आपको भूल जा रही हूँ। विरहणी कहती है, हे प्रियतम ! हमारे मन में न विस्मृति है न स्मृति। अतः आपका भूलना मुझे लेकर भूलता है। अतः ऐसा लगता है कि मैं आपको कभी भूल ही नहीं पाऊँगी।

रीतिकालीन काव्य के मर्मज्ञ डॉ॰ किशोरी लाल ने अपनी पुस्तक 'घनानन्द काव्य और आलोचना' में लिखा है कि "किसी भी रचना की शैली उसके बहिरंग सजावट से नहीं बल्कि वह उस रचना विशेष का मूलभूत अंग है। दूसरे शब्दों में वह मनुष्य के शरीर का वस्त्र नहीं हैं जिसे वह पहन लेता है बल्कि वह उसके शरीर के मांस और रक्त के तुल्य है इसीलिए शैली को उन समस्त विचारों और अनुभूतियों के मंडल से पृथक् विवेचित करना नितान्त असम्भव है जो उसे जीवित रखते हैं।" यही बात घनानन्द की पंक्तियों पर सौ प्रतिशत सही लगती है जब वे कहते हैं "लोग हैं लागि" यह शब्द उनके कविता की गहराई को व्यक्त करते हैं। ऐसा लगता है कि उनकी कविता का एक-एक अक्षर और उससे निर्मित एक-एक शब्द घनानन्द के रक्त और मज्जा से मिलकर बनते हैं। उनकी कविता की गहराई प्रेमियों की व्यथा और दशा को व्यंजित करती है –

इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनी कैसे उराहनों दीजिए जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजिए जू।
घनानंद जीवन प्रान सुजान, तिहारियै बातनि जीजिए जू।
नित नीके रहौ तुम्हें चाह कहा पै असीस हमारियौ लीजिए जू॥

उपर्युक्त पंक्तियों में काव्य कुशलता के माध्यम से घनानन्द ने छिपी हुई व्यंजना को व्यक्त करने का प्रयास किया है। 'अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु' में हृदय की वास्तविक व्यथा का कारुणिक चित्र ही उपस्थित कर दिया है। घनानन्द के यहाँ भावात्मक शैली में रची गई रचनाएँ इनके भक्ति विषयक पदों में भी मिलती हैं।

घनानन्द की कविता में कहीं-कहीं रहस्यवादी शैली की भी झलक दिख जाती है। लेकिन घनानन्द की रहस्यवादी शैली कबीर आदि की रहस्यवादिता से भिन्न है –

चेतक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नैकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हाय कहा कहौं हेरनि ऐसे हिराई।
बातें बिलाय गई रसना पै, हियो उमग्यौ कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौ घन आनंद सोचनि ही मति जाति समाई॥

4.5.3.2. घनानन्द का भाषिक-विधान

भाषा भावों और विचारों की एक वाहिका मात्र होती है जो लेखनी द्वारा संरक्षित की जाती है। रीतिकाल अपने आप में रूढ़िगत कलाओं का पर्याय है। घनानन्द ने उन रूढ़िगत पर्यायों के आधार पर ही अपनी भावनाओं को भाषा के माध्यम से साहित्यिक रसिकों तक पहुँचाया है। भाषा की अनन्त अर्थशक्ति और संभावना को पहचान कर घनानन्द ने व्यंग्य और विनम्रता को मिलाते हुए ही कहा है कि 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।' इनके हृदय की व्यथा जिस तरह से कविता का आधार बनाती है वैसी कविता अन्य किसी कवि की वाणी से नहीं निकली है, जो उसे रचकर अमरता के आयाम तक पहुँचा सके।

रीतिकाल की परम्परागत काव्यभाषा ब्रजभाषा थी। घनानन्द उससे थोड़ा हटकर फारसी शब्दों से मेल-जोल बढ़ाते हुए काव्य में स्वच्छन्दता का रूप प्रस्तुत करते हैं। वे भाषा के वश में नहीं हैं बल्कि भाषा को ही उन्होंने अपने वश में कर बेहतरीन रचना को प्रस्तुत किया। रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के साथ ही घनानन्द बिम्ब-विधान में भी प्रवीण हैं –

लरिकाई प्रदोष मैं खेल खग्यो हँसी रोय सुऔसर खोय दयौ।
बहुरौ करि पान विषै मदिरा तरुनाई तमी मधि सोय गयौ।
तजि कै रस में घनानंद को जग-धुंध सौं चातिक नेम लयौ।
जड़ जिव न जागत रे अजहूँ किनि के सनिओर ते भोर भयौ॥

शुक्ल जी का कथन है – "जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेमभाव की चरम सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है।" भाषा-ज्ञान की दृष्टि से घनानन्द की सीमा थी किन्तु उनके प्रेम की सीमा अनन्त थी। दोनों के मेल को उन्होंने अपनी रचना में उतार दिया है। जिससे उनकी कविता की गहराई का पता ही नहीं चलता है। कवि का प्रसिद्ध छन्द – 'कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो असुवानिहूँ लै बरसौ' इसका प्रमाण है। बादल प्रेमी के आँसुओं को लेकर प्रेमास्पद के आँगन में बरसा दे। यह परिकल्पना

घनानन्द को कालिदास के मेघदूत से जोड़ देती है। यह स्थिति किसी भी प्रेमी के हृदय को छू लेने वाली होगी क्योंकि उसकी व्यथा प्रियतम तक आँसुओं के माध्यम से पहुँचाई जा रही है। सच्चा प्रेमी हृदय अपने प्रेम की अभिव्यक्ति मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

रीतिकाल में काव्यशास्त्र के नियमों की खूब चर्चा हुई लेकिन काव्यशास्त्र की भाषा और शुद्धता की तरह रीतिकाल में उसका तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। बाबू जगन्नाथदास ने भी रीतिकाल के केवल दो ही कवियों घनानन्द और बिहारी को व्याकरणिक नियमों का पालनकर्त्ता स्वीकार किया है। इन दोनों कवियों ने ब्रजभाषा के व्याकरण को ध्यान में रखकर कविताएँ लिखी हैं। घनानन्द की कविताओं में अवधी के शब्द बड़ी मुश्किल से मिलेंगे। इनकी कविता में लाक्षणिकता का प्रयोग प्रत्येक पद में देखा जा सकता है। इन्होंने लक्षणा और व्यंजना के सहारे प्रेम की भूमि पर कल्पना के घोड़े को दौड़ाया है। इस सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल का कथन है – "लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया है। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगायी है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा उनमें दिखाई पड़ी खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में अर्थात वर्त्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही अभिव्यंजनावाद के बाद के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।"

घनानन्द की भाषा पूर्णतः काव्यात्मक और अलंकृत है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा कवि ने अपनी कविता को अधिक उत्कृष्ट बना दिया है। यद्यपि मुहावरे और लोकोक्तियाँ तो साहित्यिक जीवन में प्राचीन समय से प्रयुक्त किये जा रहे हैं किन्तु घनानन्द के यहाँ इनका सार्थक प्रयोग प्रचुरता में हुआ है। वैसे घनानन्द का झुकाव लोकोक्तियों की अपेक्षा मुहावरों की ओर अधिक है क्योंकि मुहावरे में ज्यादातर उर्दू शब्द विद्यमान रहते हैं। घनानन्द को उर्दू और फारसी का अच्छा ज्ञान था। मुहावरों का निर्माण भी लक्षणा के सहारे ही होता है और लोकोक्तियों में एक पूरा अनुभव जगत् ही विद्यमान रहता है। इनके प्रयोग से घनानन्द अपने अनुभवों को व्यक्त करने में सहजता महसूस करते है। उदाहरण देखिए –

जीभ सँभारति न बोलत हौ मुँह चाहत क्यों अब खायौ थपेरे।
ज्यों-ज्यों करी कछु कानि कनौड़ त्यों-त्यों चढ़े-बढ़े आवत नेरे।
खाइ कहा फल माइ जने जिय देखौ बिचारि पिता तन हेरे।
कंज कनेरहि फेर बड़ी घनानंद न्यारे रहौं कहौं टेरे॥

* * *

रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैयै भाग
अपने ही ऐसे दोष काहि लौं लगाईये।

घनानन्द के प्रायः प्रत्येक कवित्त और सवैये में मुहावरों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

पहलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मझार, दई! गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनँद आपने चातिक कों, गुन-बाँधि लैं, मोह न छोरियै जु।
रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं बिसघोरियै जू॥

घनानन्द के काव्यभाषा की भावाभिव्यक्ति इतनी समर्थ है कि उन्हें अप्रस्तुत विधान का सहारा बहुत कम ही लेना पड़ा है। एकतरफा प्रेम की विषम स्थिति को चित्रित करने के लिए घनानन्द ने वैषम्यमूलक अलंकारों विशेषकर विरोधाभास का पर्याप्त सहारा लिया है। विरोधाभास को इनकी निजी विशेषता माना जा सकता है। घनानन्द के इसी विरोधाभास की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनानन्द की सारी रचना भरी पड़ी है। साहसपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न दिखाई दे, उसे बेखटके घनानन्द की कृति से पृथक् किया जा सकता है और जहाँ यह प्रवृत्ति दिखाई दे उसे निःसंकोच इनकी कृति घोषित किया जा सकता है।" विश्वनाथ प्रसाद मिश्र स्वीकार करते हैं कि "मैंने घनानन्द ग्रन्थावली का सम्पादन करने में इसी विश्वास का सहारा लिया है।"

भाषा-शैली के सम्बन्ध में घनानन्द रीति वाले कवि हैं। हालाँकि उनकी दृष्टि शिल्प सम्बन्धी नयी संभावनाओं की ओर भी गई है। रीतिकाल में रूढ़ हो चुकी मान्यताओं को जिस साहस का परिचय देते हुए स्वच्छन्द भाव से घनानन्द ने कविताएँ रची हैं उससे लगता है वे भाषा को अपने भावों के अनुसार बहने पर विवश कर देते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में "यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगिमा के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे।" उनकी इस भाषा-शक्ति के पीछे उनके लाक्षणिक प्रयोग, विरोध-वैचित्र्य व प्रयोग-वैचित्र्य आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रेम भावना को जिस सूक्ष्म एवं अछूते मार्ग पर घनानन्द ने विचरण कराया है वह हिन्दी का अन्य दूसरा कवि नहीं कर सका है। उन्होंने स्वच्छन्दतावाद के जिस धरातल पर अपना पैर रखा है उसका अनुकरण बाद में आधुनिककाल में दिखाई पड़ता है। घनानन्द के भावों के समान ही उनकी भाषा में नवीनता है, परवर्ती कवियों ने इस प्रवृत्ति को अपनाया है। घनानन्द की भाषा में माधुर्य है। वे लोकजीवन के व्यंजक शब्दों का प्रयोग कर अनोखी दीप्ति पैदा करते हैं।

घनानन्द काव्य-कौशल और भाषा-प्रयोग के धनी हैं। भाषा-समृद्धि के जितने उपादान हैं वे सब घनानन्द की काव्यभाषा में उपलब्ध है। इनकी शैली आत्मनिवेदन की है। घनानन्द के भाषा-शिल्प के बारे में कहा जा सकता है कि उन्होंने भाषा को अपना अनुगामी बना लिया है। इस सन्दर्भ में उनकी बराबरी करने वाला अन्य कोई कवि नहीं हुआ है।

4.5.4. पाठ-सार

घनानन्द ने रीतिकाल के अन्तर्गत रीतिमुक्त धारा में स्वच्छन्द रूप से प्रेम के स्वरूप का आधार लेकर रचनाओं का प्रतिपादन किया। घनानन्द की भाषा हृदयतल की गहराइयों से उद्भूत है। घनानन्द ने ब्रजभाषा के साथ-साथ उर्दू और फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है। इनकी काव्यभाषा टकसाली ब्रजभाषा है जिसमें मुहावरों और कहावतों के समवेश से व्यंजकता बढ़ गई है। घनानन्द की कविता अभिधा में कम जबकि लक्षणा और व्यंजना में अधिक रची गई है। घनानन्द की शैली का आन्तरिक रूप भावप्रधान है। इनकी शैली में वक्रता तथा ऋजुता दोनों दृष्टिगत होते हैं। घनानन्द ने अपनी अधिकतम रचनाएँ कवित्त और सवैया छन्द में ही रची हैं।

4.5.5. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिमुक्त कवियों की कविता का आधार क्या है ?
2. घनानन्द की कविता अन्य रीतिकालीन कवियों से किस प्रकार भिन्न है ?
3. घनानन्द की कविता का भाषायी आधार क्या है ?
4. घनानन्द की काव्य-कुशलता का आधार क्या है ?
5. घनानन्द की कविता में लक्षणा और व्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिमुक्त काव्य की रीतिबद्ध काव्य और रीतिसिद्ध काव्य से भिन्नता स्पष्ट करते हुए रीतिमुक्त काव्य के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित कीजिए।
2. रीतिकालीन कवियों की भाषा-शैली की विशेषताओं को उद्घाटित कीजिए।
3. घनानन्द के काव्य-कौशल और काव्य-भाषा का विश्लेषण कीजिए।

4.5.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, नवीन संस्करण 1997, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, 922, कूच रोहिल्ला खान, तिराहा बैरम खान, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
2. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, द्वितीय संस्करण 2008, हिन्दी साहित्य का अतीत – दूसरा भाग : शृंगार काल, वाणी प्रकाशन, 21-A दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
3. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, नवीन संस्करण 2012, घनानन्द-कवित्त, प्रथम शतक, भाष्यकार-साहित्याचार्य चन्द्रशेखर मिश्र शास्त्री, संजय बुक सेंटर, गोल घर, वाराणसी

4. लाल, डॉ॰ किशोरी, संस्करण 2001 ई., घनानन्द काव्य और आलोचना, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, 93, जीरो रोड, इलाहबाद-211003
5. राय, डॉ॰ कुसुम, तृतीय संस्करण 2014 ई., हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी
6. मिश्र, डॉ॰ भागीरथ, चतुर्थ संस्करण 1989 ई., हिन्दी रीति साहित्य, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लिमिटेड 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
7. राय, लल्लन, संस्करण 2009, घनानन्द, साहित्य अकादमी, क्षेत्रीय कार्यालय, मुम्बई
8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, संस्करण 1991, मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा, लोकभारती प्रकाशन, 15-A, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहबाद

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖